बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में प्रमाण-विचार

(प्रमाणवार्त्तिक एवं न्यायकन्दली के सन्दर्भ में)

Bauddha evam Vaiśeṣika Darśana mein Pramāṇa-Vicāra

(Pramāṇavārttika evam Nyāyakandalī ke Sandarbha mein)

Thesis Submitted to Jawaharlal Nehru University in Fulfillment of the Requirements for the Award of the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY

BY

ANITA MEENA

Under the supervision of

Prof. SHASHIPRABHA KUMAR

SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

NEW DELHI- 110067

2016

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली- ११००६७
SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI- 110067

July 21, 2016

DECLARATION

I Declare that the thesis entitled **"बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में प्रमाण-विचार (प्रमाणवार्त्तिक एवं न्यायकन्दली के सन्दर्भ में)"** *submitted by me for the award of degree of* ***Doctor of Philosophy*** *is an original research work and has not been previously submitted for any other degree or diploma in any other institution/university.*

(Anita Meena)

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली- ११००६७

SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

NEW DELHI- 110067

July 21, 2016

CERTIFICATE

The thesis entitled **"बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में प्रमाण-विचार (प्रमाणवार्त्तिक एवं न्यायकन्दली के सन्दर्भ में)"** *submitted by Ms. Anita Meena to Special Centre for Sanskrit Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi-110067 for the award of degree of* ***Doctor of Philosophy*** *is an original research work and has not been submitted so far, in part or full for any other degree or diploma in any university. This may be placed before the examiners for evaluation.*

Prof. Girish Nath Jha
(chairperson)

PROF. GIRISH NATH JHA
Chairperson
Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067, INDIA

Kumar 21/07/16

Prof. Shashiprabha Kumar
(supervisor)

समर्पण

मम्मी-पापा को सादर समर्पित

कृतज्ञता-ज्ञापन

सर्वप्रथम मैं अपनी शोधनिर्देशिका एवं परम पूज्या मातृतुल्या प्रो. शशिप्रभा कुमार के प्रति अपना आभार व्यक्त करना चाहूँगी, जो मेरे लिए हमेशा से प्रेरणा स्रोत रही हैं तथा जिनके विद्वतापूर्ण निर्देशन के साथ-साथ स्नेहपूर्ण मार्गदर्शन के कारण यह शोध-कार्य सम्पन्न हो पाया । प्रस्तुत शोध-कार्य में विषय चयन से लेकर शोधकार्य के पूर्ण होने तक उनका जो सहयोग रहा वह मेरे लिए अनिर्वचनीय है । उनकी विस्तृत ज्ञान दृष्टि और सरल निर्देशन ने ही मुझे बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन के क्षेत्र में अध्ययन के नवीन आयाम प्रदान किये ।

मैं विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र के अध्ययक्ष प्रो. गिरीश नाथ झा के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ तथा डॉ. रामनाथ झा के प्रति विशेष रूप से आभार व्यक्त करना चाहूँगी जिनसे समय-समय पर मुझे मार्गदर्शन और सहयोग प्राप्त हुआ है । इसके अलावा केन्द्र के अन्य गुरुजनों में प्रो. सन्तोष कुमार शुक्ल, डा. रजनीश कुमार मिश्र, डा. सुधीर कुमार, डा. हरिराम मिश्र, प्रो. सी. उपेन्द्र राव के प्रति भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिनका सहयोग समय-समय पर मिलता रहा है ।

संस्कृत विभाग के कार्यालय के सदस्यों में मनीष जी, शबनम मैडम, मन्जू मैडम, विकास एवं अरुन को भी मेरा धन्यवाद जिन्होंने कार्यालय से सम्बन्धित कार्यों में हर समय मदद की । मैं संकृत विभाग, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय के नॉर्थ व साउथ परिसर, एल.बी.एस. संस्कृत विद्यापीठ, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, राजस्थान विश्वविद्यालय तथा सारनाथ केन्द्रीय विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों के सभी कर्मचारियों के प्रति धन्यवाद व्यक्त करना चाहूँगी, जिनकी वजह से इस शोध-कार्य के लिए सामग्री संकलन में सहयोग प्राप्त हुआ ।

केन्द्रीय तिब्बती संस्थान सारनाथ के प्रो. रामशङ्कर त्रिपाठी का मैं हृदय से बार-बार आभार व्यक्त करना चाहूँगी जिनसे मुझे व्यक्तिगतरूप से भी विषय को समझने में अत्यन्त सहयोग मिला और उनके ग्रन्थों ने भी शोध-कार्य में मार्गदर्शन का कार्य किया । इनके अलावा प्रो. वांगचुंग दोर्जे नेगी, प्रो. गेसे सेम्तेन, प्रो. विजय पण्ड्या, प्रो. प्रदीप गोखले, प्रो. कुसुम जैन, प्रो. एस.आर. भट्ट के प्रति भी मेरा आभार जिनके मार्गदर्शन से भारतीय दर्शन और बौद्ध दर्शन के सूक्ष्म पहलुओं के अन्वेषण में सहयोग प्राप्त हुआ ।

इस शोध-कार्य की परिणति में मेरे परिवार का सहयोग अहम रहा है। मैं अपने मम्मी-पापा के प्रति आजीवन कृतज्ञ रहूँगी, जिन्होंने खुद के अभावों की परवाह न करते हुए मुझे अपने सपनों को साकार करने का अवसर प्रदान किया। उनके संघर्ष ही मेरी प्रेरणा के स्रोत हैं, जो मुझे कभी थककर बैठ जाने की इजाजत नहीं देते। भैया-भाभी तथा छोटी बहने- ममता और हंसा के प्रति भी मैं आभारी हूँ जिनका मुझे हमेशा सहयोग मिला है। मेरे परिवार के दो छोटे सदस्य (भतीजी- रियांशी और भतीजा-सौम्य) भी मेरे स्नेह और धन्यवाद के अधिकारी हैं।

सहपाठियों में देवलीना, अर्चना, परितोष, बिन्द, बबलू, प्रियँका, रजनीश, अशोक कुमार- इन सभी की अत्यन्त आभारी हूँ जिनसे जे.एन.यू. के इस लम्बे सफर में समय-समय पर मुझे सहयोग मिलता रहा है। दोस्तों में मीनाक्षी, अनामिका, डॉ. ज़ाहिरा, डॉ. सुरेश, बलराम, मुकेश मीना एवं डॉ. सन्तोष कुमार का हृदय से आभार व्यक्त करना चाहती हूँ जिन्होंने इस शोध-कार्य में भी मेरा सहयोग किया और व्यक्तिगत जीवन में भी हर कठिन परिस्थिति में मुझे मानसिक संबल प्रदान किया।

अग्रजजनों में डॉ. रेनू शर्मा के प्रति विशेष रूप से आभारी हूँ, जिनका सहयोग इस शोध-कार्य में विशेष रूप से रहा। इसके अतिरिक्त देवेन्द्र सर, पूरन सर, रामकिशोर सर, महेन्द्र सर तथा माईराम सर के प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापन करना चाहूँगी जिनसे मुझे हमेशा सहयोग और मार्गदर्शन मिलता रहा है।

मेरे अनुजजनों में विकास का विशेष रूप से धन्यवाद जिसका सहयोग शोध-कार्य की परिणति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। इसके अलावा दीपक साहू, अनिल मीना, अनिल आर्य, धीरेन्द्र, अनिल शास्त्री, भैरुसिंह, सरिता, इन्दू तथा दिलीप को भी मेरा धन्यवाद जिनसे शोध-कार्य के दौरान सहयोग प्राप्त हुआ।

अन्त में उन सभी के प्रति अपना आभार व्यक्त करना चाहूँगी जिन्होंने इस शोध-कार्य के दौरान प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मेरी सहायता की।

अनुक्रमणिका-

क्रम संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
*	**अनुक्रमणिका**	i-ix
*	संकेताक्षर-सूची	x-xii
*	ABREVIATIONS	xiii-xiii
*	**विषय-प्रवेश**	1-10
अध्याय- 1	**बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन का ऐतिहासिक व सैद्धान्तिक परिचय**	11-51
1.1	बौद्ध दर्शन	
1.1.1	बौद्ध दर्शन का ऐतिहासिक परिचय	
1.1.1.1	बौद्ध दर्शन के इतिहास का काल-विभाजन	
1.1.1.2	बौद्ध धर्म की शाखाएँ	
1.1.1.3	बौद्ध दर्शन के प्रमुख सम्प्रदाय	
1.1.1.3.1	वैभाषिक	
1.1.1.3.2	सौत्रान्तिक	
1.1.1.3.3	माध्यमिक	
1.1.1.3.4	योगाचार	
1.1.1.3.5	बौद्धन्याय	
1.1.1.4	बौद्धन्याय के प्रमुख आचार्य एवं उनके ग्रन्थ	
1.1.1.4.1	धर्मकीर्ति का परिचय	
1.1.1.4.2	प्रमाणवार्त्तिक का परिचय	
1.1.2	बौद्ध दर्शन का सैद्धान्तिक परिचय	
1.1.2.1	चार आर्यसत्य	
1.1.2.2	क्षणभङ्गवाद	
1.1.2.3	प्रतीत्यसमुत्पादवाद	
1.1.2.4	अनात्मवाद	
1.1.2.5	आलयविज्ञान	

1.1.2.6	अपोहवाद	
1.1.2.7	निर्वाण	
1.2	वैशेषिक दर्शन	
1.2.1	वैशेषिक नामकरण	
1.2.2	वैशेषिक दर्शन का ऐतिहासिक परिचय	
1.2.2.1	कणाद एवं उनका वैशेषिकसूत्र	
1.2.2.2	प्रशस्तपादभाष्य	
1.2.2.2.1	प्रशस्तपादभाष्य की व्याखाएँ	
1.2.2.3	श्रीधराचार्य एवं न्यायकन्दली टीका	
1.2.2.4	न्याय-वैशेषिक समानतन्त्र	
1.2.3	वैशेषिक दर्शन का सैद्धान्तिक परिचय	
1.2.3.1	सप्तपदार्थवाद	
1.2.3.1.1	नवद्रव्यवाद	
1.2.3.1.2	चतुर्विंशति गुणवाद	
1.2.3.1.3	पञ्च कर्मवाद	
1.2.3.1.4	सामान्य- सिद्धान्त	
1.2.3.1.5	विशेष- सिद्धान्त	
1.2.3.1.6	समवाय- सिद्धान्त	
1.2.3.1.7	अभाववाद	
1.2.3.2	अभ्युदय और निःश्रेयस	
	निष्कर्ष	
अध्याय- 2	**बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में प्रमाण का स्वरूप**	52-98
2.1.	प्रमा-विचार	
2.1.1	प्रमा का सामान्य स्वरूप	
2.1.2	बौद्धन्याय में प्रमा का स्वरूप	

2.1.3 वैशेषिक दर्शन में प्रमा का स्वरूप

2.2 प्रमाण-विचार

2.2.1 प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति एवं निरुक्ति

2.2.2 बौद्ध दर्शन में प्रमाण

2.2.2.1 बौद्धन्याय में प्रमाण

2.2.2.2 दिङ्नाग का प्रमाण-लक्षण

2.2.2.3 धर्मोत्तर का प्रमाण-लक्षण

2.2.2.4 शान्तरक्षित एवं कमलशील सम्मत प्रमाण-लक्षण

2.2.2.5 प्रमाणवार्त्तिक में प्रमाण-स्वरूप

2.2.2.5.1 अविसंवादकत्व

2.2.2.5.2 अर्थक्रिया-स्थिति

2.2.2.5.3 अज्ञातार्थप्रकाशकत्व

2.2.2.6 प्रमाण-संख्या

2.2.2.7 प्रमाण का विषय

2.2.2.8 प्रमाण व प्रमा की अभिन्नता

2.2.2.9 प्रामाण्य-विचार

2.2.3 वैशेषिक दर्शन में प्रमाण-स्वरूप

2.2.3.1 अविद्या

2.2.3.1.1 संशय

2.2.3.1.2 विपर्यय

2.2.3.1.3 अनध्यवसाय

2.2.3.1.4 स्वप्न

2.2.3.1.4.1 त्रिविध स्वप्नज्ञान

2.2.3.2 विद्या अथवा प्रमाण-विचार

2.2.3.3 प्रमाण-संख्या

2.2.3.4 प्रामाण्य-विचार

निष्कर्ष

अध्याय- 3 बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष का स्वरूप 99-149

3.1 प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

3.1.1 प्रवृत्तिमूलक अर्थ

3.1.2 प्रत्यक्ष का सामान्य-स्वरूप

3.2 बौद्धन्याय में प्रत्यक्ष प्रमाण

3.2.1 निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मात्र

3.2.1.1 कल्पना का स्वरूप

3.2.2 बौद्धभिन्न सम्प्रदायों में कल्पना-स्वरूप

3.2.3 पूर्व बौद्धनैयायिकों के अनुसार कल्पना-स्वरूप

3.2.4 धर्मकीर्ति के अनुसार कल्पना-स्वरूप

3.2.4.1 प्रत्यक्ष में शब्दकल्पना का निषेध

3.2.4.2 कल्पना के विषय में पूर्वपक्ष के आक्षेप एवं धर्मकीर्ति द्वारा उनका निराकरण

3.2.4.3 प्रत्यक्ष लक्षण में 'अभ्रान्त' पद की प्रयोजनीयता

3.2.4.4 भ्रान्तिविषयक आक्षेपों का निराकरण

3.2.5 प्रत्यक्ष-भेद

3.2.5.1 इन्द्रिय-प्रत्यक्ष

3.2.5.2 मानस-प्रत्यक्ष

3.2.5.3 स्वसंवेदनप्रत्यक्ष

3.2.5.4 योगि-प्रत्यक्ष

3.2.6 प्रत्यक्षाभास-विचार

3.2.7 प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय

3.2.8 प्रत्यक्ष-फल (प्रमा)

3.3 वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण

3.3.1 प्रत्यक्ष-भेद

3.3.1.1 लौकिक-प्रत्यक्ष

3.3.1.1.1 द्रव्य-प्रत्यक्ष

3.3.1.1.1.1 निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष

3.3.1.1.1.2 सविकल्पक-प्रत्यक्ष

3.3.1.1.2 गुण-प्रत्यक्ष

3.3.1.1.3 कर्म-प्रत्यक्ष

3.3.1.1.4 सामान्य-प्रत्यक्ष

3.3.1.1.5 अभाव-प्रत्यक्ष

3.3.1.1.6 षड्विध सन्निककर्ष

3.3.1.2 अलौकिक प्रत्यक्ष

3.3.1.2.1 योगज-प्रत्यक्ष

3.3.2 प्रत्यक्ष का विषय

3.3.3 प्रत्यक्ष-फल (प्रमिति)

3.3.4 प्रमाता

3.3.5 प्रत्यक्ष के कारण

निष्कर्ष

अध्याय- 4 **बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में अनुमान का स्वरूप** 150-188

4.1 व्युत्पत्ति एवं निर्वचनात्मक अर्थ

4.2 अनुमान-लक्षण

4.3 बौद्धन्याय में अनुमान-प्रमाण

4.3.1 व्याप्ति अथवा अविनाभाव

4.3.2 पक्ष

4.3.3 त्रिरूपलिङ्ग अथवा हेतु

4.3.3.1 पक्षधर्मता (पक्षसत्त्व)

4.3.3.2 सपक्षधर्मत्व (सपक्षसत्त्व)

4.3.3.3 विपक्षासत्त्व (विपक्ष व्यावृत्ति)

4.3.4 लिङ्ग के तीन भेद

4.3.5 अनुमान के भेद

4.3.5.1 स्वार्थानुमान

4.3.5.2 परार्थानुमान

4.3.5.2.1 परार्थानुमान-वाक्यावयव

4.3.6 अनुमान का विषय

4.3.7 अनुमान-फल

4.3.8 अनुमानाभास

4.3.9 हेत्वाभास

4.4 वैशेषिक दर्शन में अनुमान-प्रमाण

4.4.1 अनुमान-लक्षण

4.4.2 हेतु के तीन भेद

4.4.3 सद् हेतु के त्रि-लक्षण

4.4.4	हेत्वाभास	
4.4.4.1	असिद्ध	
4.4.4.2	विरुद्ध	
4.4.4.3	सन्दिग्ध(अनैकान्तिक)	
4.4.5	अनुमान की विधि	
4.4.6	अनुमान के भेद	
4.4.6.1	स्वार्थानुमान	
4.4.6.2	परार्थानुमान एवं पञ्चावयव	
4.4.8	अनुमान-फल (अनुमिति)	
	निष्कर्ष	
अध्याय- 5	**बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में प्रमाणान्तर्भाव-विचार**	189-217
5.1	बौद्ध दर्शनानुसार प्रमाणान्तर्भाव	
5.1.1	शब्दप्रमाण-खण्डन	
5.1.2	उपमानप्रमाण-खण्डन	
5.1.3	अर्थापत्ति प्रमाण-खण्डन	
5.1.4	प्रत्यभिज्ञा प्रमाण-खण्डन	
5.1.5	अनुपलब्धि प्रमाण-खण्डन	
5.2	वैशेषिक दर्शनानुसार प्रमाणान्तर्भाव	
5.2.1	शब्दप्रमाण का अन्तर्भाव	
5.2.2	उपमान प्रमाण-खण्डन	
5.2.3	अर्थापत्ति-प्रमाण खण्डन	
5.2.4	अनुपलब्धि प्रमाण-खण्डन	

5.2.5.	सम्भव प्रमाण-खण्डन	
5.2.6	ऐतिह्य प्रमाण-खण्डन	
5.2.7	सिद्धदर्शन प्रमाण-खण्डन	
	निष्कर्ष	
अध्याय- 6	**प्रमाणवार्त्तिक एवं न्यायकन्दली का तुलनात्मक अध्ययन**	218-240
6.1	प्रमाणवार्त्तिक एवं न्यायकन्दली की ग्रन्थपरक तुलना	
6.2	प्रमाण-विषयक तुलना	
6.3	प्रत्यक्ष-विषयक तुलना	
6.3.1	निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष-विषयक तुलना	
6.3.2	प्रमाणवार्त्तिक का इन्द्रिय प्रत्यक्ष और न्यायकन्दली का बाह्यप्रत्यक्ष	
6.3.3	प्रमाणवार्त्तिक का मानस प्रत्यक्ष और न्यायकन्दली का मानस प्रत्यक्ष	
6.3.4	प्रमाणवार्त्तिक का योगिप्रत्यक्ष एवं न्यायकन्दली का योगज प्रत्यक्ष	
6.3.5	प्रत्यक्ष का विषय	
6.3.6	प्रत्यक्ष-फल	
6.3.7	प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में बौद्धन्याय के चार प्रत्यय और वैशेषिक के तीन कारण	
6.3.8	प्रमाणवार्त्तिक में भ्रान्ति और न्यायकन्दली में संशय-विपर्यय	
6.4	अनुमान-विषयक तुलना	
6.4.1	द्विविध अनुमान-परार्थानुमान और स्वार्थानुमान	
6.4.2	त्रिलक्षण हेतु	
6.4.3	त्रिविध हेतु	
6.4.4	परार्थानुमान में द्वि-अवयव और पञ्चावयव	

6.4.5	त्रिविध हेत्वाभास	
6.4.6	व्याप्ति अथवा अविनाभाव-विचार	
6.5	प्रमाणान्तर्भाव-विषयक तुलना	
6.5.1	शब्दप्रमाण का अन्तर्भाव	
6.5.2	उपमान का अन्तर्भाव	
6.5.3	अर्थापत्ति का अन्तर्भाव	
6.5.4	अनुपलब्धि का अन्तर्भाव	
6.6	प्रमाण-व्यवस्था और प्रमाण-संप्लव	
	निष्कर्ष	
	उपसंहार	241-251
	सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची	252-270

संकेताक्षर-सूची

किरणा.	-	किरणावली
कारि.	-	कारिकावली
त.भा.	-	तर्कभाषा
त.सं.	-	तर्कसंग्रह
त.सं.दी.	-	तर्कसंग्रह दीपिका
तत्त्व.सं.	-	तत्त्वसंग्रह
तत्त्व.सं.पं.	-	तत्त्वसंग्रह पञ्जिका
तत्त्वा.सू.	-	तत्त्वार्थसूत्र
धर्मो.प्र.	-	धर्मोत्तरप्रदीप
ध.प.गा.	-	धम्मपदगाथा
न्या.बि.	-	न्यायबिन्दु
न्या.बि.टी.	-	न्यायबिन्दुटीका
न्या.बि.ध.टी.	-	न्यायबिन्दु एवं धर्मोत्तरटीका
न्या.प्र.सू.	-	न्यायप्रवेशसूत्र
न्या.प्र.पं.	-	न्यायप्रवेशपञ्जिका
न्या.प्र.वृ.	-	न्यायप्रवेशवृत्ति

न्या.सू.	-	न्यायसूत्र
न्या.भा.	-	न्यायभाष्य
न्या.वा.	-	न्यायवार्त्तिक
न्या.वा.ता.टी.	-	न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका
न्या.क.	-	न्यायकन्दली
न्या.सि.मु.	-	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
नैषध.	-	नैषधीयचरितम्
नी.श.	-	नीतिशतकम्
प्र.पा.भा.	-	प्रशस्तपादभाष्य
प्र.वा.	-	प्रमाणवार्त्तिक
प्र.वा.अलं.	-	प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार
प्र.वा.मनो.वृ.	-	प्रमाणवार्त्तिक मनोरथनन्दीवृत्ति
प्र.समु.	-	प्रमाणसमुच्चय
प्र.समु.टी.	-	प्रमाणसमुच्चयटीका
प्र.समु.वृ.	-	प्रमाणसमुच्चयवृत्ति
प्र.मी.सू.	-	प्रमाणमीमांसासूत्र
बौ.त.भा.	-	बौद्धतर्कभाषा
बो.चर्या.	-	बोधिचर्यावतार

बौ.न्या.	-	बौद्धन्याय
महा.सू.	-	महायानसूत्रालङ्कार
मी.सू.	-	मीमांसासूत्र
मा.मेयो.	-	मानमेयोदय
मा.हि.को.	-	मानक हिन्दी कोश
म.शा.	-	मध्यमकशास्त्र
यो.सू.	-	योगसूत्र
यो.भा.	-	योगभाष्य
यो.सू.वृ.	-	योगसूत्रवृत्ति
लक्षणा.	-	लक्षणावली
वै.सू.	-	वैशेषिकसूत्र
वै.सू.उप.भा.	-	वैशेषिकसूत्र उपस्कारभाष्य
वै.द.	-	वैशेषिक दर्शन
वै.द.प.नि.	-	वैशेषिक दर्शन में पदार्थ निरूपण
वै.द.परि.	-	वैशेषिक दर्शन-परिशीलन
वै.द.ए.अ.	-	वैशेषिक दर्शन एक अध्ययन
वे.परि.	-	वेदान्तपरिभाषा
स.द.सं.	-	सर्वदर्शनसंग्रह

सं.हि.को.	-	संस्कृत-हिन्दी-कोश
स.प.	-	सप्तपदार्थी
सां.का.	-	सांख्यकारिका
सां.त.कौ.	-	सांख्यतत्त्वकौमुदी
श.क.द्रु.	-	शब्दकल्पद्रुम
शाब.भा.	-	शाबरभाष्य
श्लो.वा.	-	श्लोकवार्त्तिक
शा.दी.	-	शास्त्रदीपिका
ज्ञा.सा.समु.	-	ज्ञानसारसमुच्चय

ABREVIATIONS

BL	-	Buddhist Logic
CIR	-	Critique of Indian Realism
EB	-	Encyclopaedia of Britanica
EIP	-	Encyclopaedia of Indian Philosophy
FFD	-	Fragments From Diṅgnāga
HSIL	-	Historical Survey of Indian Logic
HIL	-	History of Indian Logic
HIP	-	History of Indian Philosophy
ILES	-	Indian Logic in the Early Schools
JAOS	-	Journal of American Oriental Society
JBORI	-	Journal of Bhandarkar Oriental Research Institute
KDP	-	Kaṇāda's Doctrine of the Padārthas
PAI	-	Philosophy of Ancient India
PIL	-	Primer of Indian Logic
SNVM	-	Studies in Nyāya-Vaiśeṣika Metaphysics
SWV	-	Seven works of Vasubandhu
VP	-	Vaiśeṣika Philosophy

विषय-प्रवेश

विषय-वस्तु-

दार्शनिक विवेचना की मूल भित्ति प्रमाण विमर्श पर ही स्थित है । अतः प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपने दार्शनिक मन्तव्यों की सिद्धि के लिए अपने-अपने ढंग से प्रमाण-विवेचना की है । समस्त प्रमेय पदार्थों का ज्ञान प्रमाण द्वारा होता है । प्रमाण के अभाव में प्रमेय अर्थ का ज्ञान सम्भव नहीं है । इसीलिए न्याय-वैशेषिक के अनुसार **"मानाधीना मेयसिद्धिः"** अर्थात् प्रमेय अर्थ की सिद्धि प्रमाण के अधीन है । दिङ्नाग ने भी "**प्रमाणाधीनो हि प्रमेयाधिगमः**" कहकर प्रमाणों के अधीन ही प्रमेय-सिद्धि के मत को पुष्ट किया है । इस संबन्ध में बौद्ध दर्शन का अपना अलग ही मत है, जिसके अनुसार "**मेयाधीना मानसिद्धिः**" अर्थात् विषय- द्वैविध्यपूर्वक द्विविध प्रमाण हैं।[1] बौद्धों का यह प्रमेय-प्रमाण विषयक नियम प्रमाण-व्यवस्था कहलाता है जबकि न्याय-वैशेषिक प्रमाण-संप्लववादी हैं ।

प्रमाण शब्द की निरुक्ति है– "प्रमीयतेऽनेन तत्प्रमाणम्" अर्थात् जिससे वस्तु के स्वरूप का यथार्थज्ञान होता है, वह प्रमाण है । प्रमाण का शाब्दिक अर्थ 'प्रमाकरणम्' अर्थात् प्रमा की प्राप्ति या यथार्थ अनुभव का साधन प्रमाण है । प्रमाण से प्रमेय का ज्ञान होता है, यह लगभग समस्त भारतीय दर्शनों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त रहा है । इसीलिए न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा-उत्तरमीमांसा, जैन, बौद्ध एवं चार्वाक आदि सभी दर्शनों में प्रमाणशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण हुआ । भारतीय दर्शन में प्रमाणों की संख्या पर पर्याप्त मतभेद है, जिसको निम्नरूप में देखा जा सकता है –

---

[1] मानं द्विविधं मेयद्वैविध्यात् शक्त्यशक्तितः ।- *प्र.वा.*, २.१

१ चार्वाक – प्रत्यक्ष (१ प्रमाण)

२ बौद्ध और वैशेषिक – प्रत्यक्ष, अनुमान (२ प्रमाण)

३ जैन और सांख्य – प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द (३ प्रमाण)

४ न्याय – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द (४ प्रमाण)

५ प्रभाकर (मीमांसक) – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति (५ प्रमाण)

६ कुमारिल (मीमांसक) – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अभाव (६ प्रमाण)

७ पौराणिक – प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिह्य (८ प्रमाण)[2]

बौद्ध दर्शन में तर्कविद्या अथवा प्रमाणशास्त्र का स्वरूप भगवान् बुद्ध के समय से ही संकेत रूप में दिखाई देता है क्योंकि बुद्ध ने अपने उपदेशों एवं शिक्षाओं को तर्क की कसौटी पर कसने के बाद ही ग्रहण करने को कहा है, केवल आदर के भाव से नहीं ।[3] इस सांकेतित तर्कविद्या को ही परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने आगे बढाया जिसका विकसित रूप बौद्धन्याय में परिलक्षित हुआ । इस बौद्धन्याय का उद्भव बौद्ध दर्शन के इतिहास के तीसरे काल में अर्थात् पांचवीं शताब्दी के बाद माना जाता है ।[4]

---

[2] चार्वाकस्तावदेकं द्वितीयमपि पुनर्बौद्धवैशेषिकौ द्वौ, भासर्वज्ञश्च सांख्यस्त्रितयमुदयनाद्याश्चतुष्कं वदन्ति ।
प्राहुः प्राभाकराः पञ्चकमपि च वयं तेऽपि वेदान्तविज्ञाः षटकं, पौराणिकारस्तवष्टकर्मभिधिरे संभवैतिह्ययोगात् ॥- *मा.मेयो.*, का. ५ (षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९७८)

[3] तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः ।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात् ॥- *ज्ञा.सा.समु.*, का. ३ (सम्पा. पेन्पा दोर्जे, के.उ.ति.शि.सं., सारनाथ, वाराणसी, १संस्करण; २००८)

[4] *न्या.बि.टी.*, विषय-प्रवेश, पृ. ३, (न्यायबिन्दु सहित,श्रीनिवास शास्त्री कृत हिन्दी व्याख्या, साहित्य भण्डार, मेरठ, संस्करण ३; २००७)

बौद्ध दर्शन में बुद्ध-वचनों के गम्भीर अर्थों का सम्यग् ज्ञान प्राप्त कराने के लिए आचार्य दिङ्नाग ने पांचवीं शताब्दी (लगभग ४०० ई.) में प्रमाणसमुच्चय आदि बौद्ध न्याय ग्रन्थों की रचना कर एक विशिष्ट बौद्ध न्याय-परम्परा की स्थापना की । फिर भी आचार्य दिङ्नाग के गम्भीर ग्रन्थों की उनके शिष्यों द्वारा भ्रान्त व्याख्या की जाती देखकर उनके सम्यक् अभिप्राय को स्पष्ट करने के उद्देश्य से आचार्य धर्मकीर्ति ने सातवीं शताब्दी में सप्तवर्गीय प्रमाण ग्रन्थों की रचना की । जिनमें सबसे प्रमुख एवं मूल प्रमाणवार्तिक है, जो प्रमाणसमुच्चय के वार्त्तिक के रूप में प्रसिद्ध है ।

वैशेषिक दर्शन के इतिहास में वैशेषिक सूत्र को आधार ग्रन्थ माना जाता है, जिसकी रचना महर्षि कणाद ने लगभग ६०० ई. पू. में की । इसके बाद वैशेषिक दर्शन परम्परा का प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रशस्तपाद के पदार्थधर्मसङ्ग्रह को माना जाता है, जिसका समय लगभग ६०० ई. है । प्रशस्तपादभाष्य पर टीकाओं और उपटीकाओं की एक लम्बी परम्परा रही । प्रशस्तपादभाष्य की इस टीका-परम्परा में न्यायकन्दली एक प्रमाणभूत व्याख्या मानी जाती है । न्यायकन्दली में पूर्व वैशेषिक दर्शन की प्रमाण-परम्परा का विशुद्ध रूप प्राप्त होता है, जो इस दर्शन को न्यायदर्शन से अलग एक स्वतन्त्र प्रमाण-मीमांसा के रूप में प्रदर्शित करता है । वैशेषिक दर्शन को सैद्धान्तिक रूप से प्रमेयशास्त्र ही माना जाता है । किन्तु फिर भी अपने प्रमेयों की सिद्धि के लिए प्रमाणों को साधन रूप में यहाँ स्वीकार किया गया है । न्याय-वैशेषिक शास्त्र के सम्मिलित ग्रन्थों में चार प्रमाण माने गये हैं, किन्तु वैशेषिक के अपने प्राचीन ग्रन्थों में दो ही प्रमाणों का उल्लेख मिलता है ।[5]

विषय-चयन का औचित्य -

शोधार्थिनी ने "**बौद्ध दर्शन एवं वैशेषिक दर्शन में प्रमाण-विचार (प्रमाणवार्त्तिक एवं न्यायकन्दली के सन्दर्भ में)**" नामक विषय का चयन किया है क्योंकि वैशेषिक और

---

[5] प्रत्यक्षानुमानविषय एव भवतीति प्रत्यक्षानुमानव्यतिरेकेण प्रमाणान्तराभावात् ।- *न्या.क.*, पृ. ४२४ (प्रशस्तपादभाष्य सहित, पण्डित दुर्गाधर झा- सम्पादित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, संस्करण २; १९१८)

बौद्ध दर्शन की प्रमाण-मीमांसा को लेकर आज तक कोई भी तुलनात्मक शोध कार्य नहीं हुआ, जबकि ये दोनों ही दर्शन प्रमाण-परम्परा में भी और ग्रन्थ-परम्परा में भी बहुत कुछ समानताएँ रखते हैं । शङ्कराचार्य ने तो इन दोनों की इस समानता के कारण वैशेषिकों को अर्धवैनाशिक तक कहा है । प्रमाण-विचार की दृष्टि से भी दोनों ने दो-दो ही प्रमाण स्वीकार किये हैं- प्रत्यक्ष और अनुमान ।

प्रस्तुत शोध-कार्य का क्षेत्र-

शोधार्थिनी द्वारा चयनित उक्त विषय के अन्तर्गत यद्यपि बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन परम्पराओं का विस्तृत अध्ययन अभीष्ट है, तथापि शोध कार्य का विषय क्षेत्र अधोलिखित ग्रन्थों के तत्तत् स्थलों तक सीमित है-

१) धर्मकीर्ति का प्रमाणवार्त्तिक (७ वीं शताब्दी)

२) श्रीधराचार्य की न्यायकन्दली (१० वीं शताब्दी)

इनके अतिरिक्त आवश्यकतानुसार यथास्थल प्रमाणसमुच्चय, न्यायबिन्दु व न्यायबिन्दुटीका, वैशेषिकसूत्र, उपस्कारभाष्य, प्रशस्तपादभाष्य, किरणावली, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली आदि ग्रन्थों का भी शोध-कार्य में सहयोग लिया गया है ।

शोध कार्य का उद्देश्य-

- वैशेषिक और बौद्ध दर्शन में परस्पर पौर्वापर्य एवं प्रभाव का विवेचन करना ।
- दोनों दर्शनों के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों का पृथक्शः विवेचन करना ।
- वैशेषिक और बौद्ध दर्शन की प्रमाण-मीमांसा का तुलनात्मक अध्ययन करना ।

प्रस्तुत शोध-क्षेत्र में विद्यमान पूर्ववर्ती शोध-कार्य-

- Sharma, Chandramani, *Critical Study of the Pramāṇas according to Nyāya and Buddhist Logic* (Ph.d. thesis), University of Allahabad, Allahabad: 1970
- Shastri, Dharmendra Nath, *The Philosophy of Nyāya-Vaiśeṣika and its Conflict with the Buddhist Dignāga School*, Bharatiya Vidya Prakasan, Delhi: Reprinted; 1976
- राजरानी, *न्याय-वैशेषिक में प्रत्यक्ष का स्वरूप*, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली: १९९१
- चौधरी, नन्दिनी, *न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के प्रमाण विचार*, एस. के. पब्लिशिंग कम्पनी, राँची: प्र.सं; २००५
- शास्त्री, विजयपाल, *बौद्ध प्रमाण मीमांसा*, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली: प्र.सं.; २००५
- शर्मा, अम्बिकादत्त, *बौद्ध प्रमाण-दर्शन*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर (म. प्र.), प्र. सं.; २००७
- शर्मा, हरिप्रकाश, *बौद्ध ज्ञान-मीमांसा*, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली: प्र. सं.; २००७
- पाण्डेय, विपिन कुमार, *वैशेषिक प्रमाण दर्शन*, भारती प्रकाशन, वाराणसी, २०१०
- नैन, अनिता, *शान्तरक्षितसम्मत बौद्ध-प्रमाण-मीमांसा,* परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, २०१२
- Chhatre, Lata Dilip, *Buddhist Epistemology Logic and Language*, New Bharatiya Book Corporation, Delhi, 2015

पूर्ववर्ती शोध कार्यों से प्रस्तुत शोध-कार्य का वैशिष्ट्य-

- Chandramani Sharma ने *Critical Study of the Pramāṇas according to Nyāya and Buddhist Logic* में न्याय दर्शन और बौद्ध दर्शन के प्रमाणों का समालोचनात्मक विवेचन किया है किन्तु एक तो इसमें प्रमाणों का तुलनात्मक विवेचन नहीं किया गया एवं द्वितीयतः प्रमाणवार्त्तिक और न्यायकन्दली का विशेष सन्दर्भ भी नहीं है ।

- Dharmendra Nath Shastri ने *The Philosophy of Nyāya-vaiśeṣika and its Conflict with the Buddhist Dignāga School* में प्रमुख रूप से न्याय-वैशेषिक व बौद्ध दर्शन की परस्पर विरोधी एवं सहयोगी विचारधाराओं का उद्घाटन किया गया है । किन्तु वह मुख्यतः दिङ्नाग एवं समन्वित न्याय-वैशेषिक विचारधारा को आधार बनाकर किया गया है । वैशेषिक और बौद्ध दर्शनों की परस्पर प्रमाण के विषय में समानता और विषमता का आकलन यहाँ स्वतन्त्र रूप से नहीं मिलता ।

- नन्दिनी चौधरी ने *न्याय एवं वैशेषिक के प्रमाण विचार* में प्रमुख रूप से न्याय-वैशेषिक की प्रमाणविषयक धारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है । बौद्ध के प्रमाण दर्शन के साथ न्याय-वैशेषिक की समानता और असमानता का संक्षिप्त संकेत मिलता है, किन्तु बौद्ध और वैशेषिक की प्रमाण-मीमांसा का तुलनात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र रूप से विवेचन यहाँ भी नहीं किया गया ।

- विजयपाल शास्त्री ने *बौद्ध प्रमाण-मीमांसा* तथा अम्बिकादत्त शर्मा ने *बौद्ध प्रमाण-दर्शन* में बौद्ध दर्शन की प्रमाण मीमांसा का विस्तृत विवेचन किया है किन्तु वैशेषिक और बौद्ध दर्शन की प्रमाण मीमांसा का तुलनात्मक विवेचन यहाँ भी अप्राप्त ही है ।

- हरिप्रकाश शर्मा ने *बौद्ध ज्ञान-मीमांसा* में बौद्ध दर्शन द्वारा स्वीकृत प्रमाण-प्रत्यक्ष और अनुमान का विस्तृत विवेचन किया है, किन्तु प्रस्तुत विषय की दृष्टि से यह भी अप्राप्त ही है ।

- विपिन कुमार पाण्डेय ने *वैशेषिक प्रमाण दर्शन* में वैशेषिक दर्शन की प्रमाण-मीमांसा का तो विस्तृत विश्लेषण किया है, किन्तु बौद्ध और वैशेषिक दर्शन की प्रमाणमीमांसा का तुलनात्मक विवेचन यहाँ भी नहीं किया गया जो कि प्रस्तुत शोध-कार्य का विषय है ।

- अनिता नैन ने *शान्तरक्षितसम्मत बौद्ध-प्रमाण-मीमांसा* में केवल बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत शान्तरक्षित के अनुसार ही प्रमाण विवेचन किया है । प्रथमतः बौद्ध दर्शन में ही प्रमाणवार्तिक के अनुसार प्रमाण की इस ग्रन्थ में चर्चा नहीं की गयी और द्वितीय वैशेषिक दर्शन के साथ तुलनात्मक प्रमाण विश्लेषण का विषय इस ग्रन्थ का अस्पृष्ट पहलू है, जो कि शोधार्थिनी के शोध का प्रमुख विषय है । इस प्रकार यहाँ पर प्रस्तुत शोध का वैशिष्ट्य स्वतः ही बोद्धव्य है ।

- Lata Dilip Chhatre ने अपने ग्रन्थ *Buddhist Epistemology Logic and Language* में बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रमाण का विवेचन किया है, किन्तु वैशेषिक दर्शन के साथ तुलनात्मक विवेचन इस ग्रन्थ का विषय न होने से प्रस्तुत शोध एक विशिष्ट स्थान रखता है ।

इस प्रकार स्पष्टतः देखा जा सकता है कि प्रस्तावित विषय को किसी भी शोध कार्य का मुख्य विषय नहीं बनाया गया, जो इन दोनों दर्शनों की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण विषय है । अतः इस विषय को प्रमुख रूप से आधार बनाकर शोधार्थिनी के द्वारा प्रस्तुत शोध-कार्य किया गया है ।

अध्याय-विभाजन-

प्रस्तुत शोध कार्य को मुख्यतः ६ अध्यायों में विभाजित करके विषय-वस्तु का विवेचन किया गया है, जो निम्न प्रकार से हैं-

प्रथम-अध्याय- "बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन का ऐतिहासिक व सैद्धान्तिक परिचय"- इस अध्याय में बौद्ध एवं वैशेषिक दोनों दर्शनों का ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक परिचय दिया गया है । इसके अन्तर्गत दर्शन शब्द का सामान्य अर्थ, बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन का काल-विभाजन, प्रमुख आचार्य और उनके ग्रन्थ तथा शोध आधारित प्रमाणवार्तिक और न्यायकन्दली ग्रन्थ तथा उनके रचनाकार क्रमशः धर्मकीर्ति और श्रीधराचार्य का विशिष्ट परिचय का विवेचन किया गया है । इसके साथ ही दोनों दर्शनों के मूल सिद्धान्तों का विवेचन भी किया गया है ।

द्वितीय-अध्याय- "बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में प्रमाण का स्वरूप" नामक द्वितीय अध्याय में प्रमाण का सामान्य स्वरूप बतलाते हुए बौद्ध एवं वैशेषिक के अनुसार उसका लक्षण और स्वरूप-विवेचन किया गया है । प्रमाण की सिद्धि में पूर्वपक्षों के आक्षेपों का निराकरण करते हुए विस्तृत चर्चा की गयी है । इसके पश्चात् प्रमाण-संख्या, प्रमाण का विषय और प्रामाण्य पर भी विचार किया गया है । प्रमाण अर्थात् यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध धर्म संशय, विपर्ययादि पर साङ्गोपांग चर्चा की गयी है ।

तृतीय-अध्याय- "बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष का स्वरूप" नामक इस अध्याय में प्रत्यक्ष प्रमाण का दोनों दर्शनों के अनुसार लक्षण और स्वरूप-विवेचन हुआ है । प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया और उसके भेदों पर भी विशिष्ट विवेचन प्रस्तुत किया गया है । बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष का विषय, प्रत्यक्षफल (प्रमा) आदि पर चर्चा की गयी है तथा इसी प्रकार वैशेषिक के अनुसार भी प्रत्यक्ष-विषय, प्रत्यक्षफल और प्रमाता आदि पर विचार किया गया है ।

चतुर्थ-अध्याय- "बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में अनुमान का स्वरूप" में अनुमान का दोनों दर्शनों के अनुसार लक्षण और स्वरूप विवेचन करते हुए अनुमान प्रक्रिया का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रमाणवार्त्तिक एवं न्यायकन्दली दोनों ग्रन्थों के अनुसार अनुमान के भेद तथा अनुमान प्रक्रिया में सद् हेतु के स्वरूप विवेचन के साथ ही अनुमान की प्रक्रिया में बाधक दुष्ट हेतु अथवा असद् हेतुरूप हेत्वाभास पर चर्चा की गयी है।

पञ्चम-अध्याय- "बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में प्रमाणान्तर्भाव-विचार" नामक इस अध्याय का उद्देश्य बौद्ध एवं वैशेषिक के द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों के अतिरिक्त प्रमाण-संख्या और उसके विषय का निषेध करते हुए इन दोनों प्रमाणों में ही पूर्वपक्षियों द्वारा आक्षेपित प्रमाणों का अन्तर्भाव करना है। शब्द, उपमानादि विषयक जो अन्य प्रमाण मानने का आरोपण सिद्धान्त पक्ष पर किया गया है, उसका दोनों दर्शनों के द्वारा अलग-अलग निराकरण करके द्विविध प्रमाणों की स्थापना की गई है।

षष्ठ-अध्याय "प्रमाणवार्त्तिक एवं न्यायकन्दली का तुलनात्मक अध्ययन" इस अध्याय में पूर्व के अध्यायों में विवेचित विषयों के आधार पर प्रमाणवार्त्तिक एवं न्यायकन्दली में विविध विषयों की साङ्गोपांग तुलना की गयी है। प्रमाण के लक्षण-विषयक समानता और विषमता, प्रत्यक्षविषयक समानता और विषमता, अनुमानविषयक समानता और विषमता, प्रमाणान्तर्भाव-विषयक समानता और विषमता तथा बौद्धों की द्विविध प्रमाण से प्रमाण-व्यवस्था और वैशेषिकों की द्विविध प्रमाण के आधार पर प्रमाण-संप्लववाद पर भी विचार किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्यान्य विषयों पर तुलना करते हुए समीक्षा प्रस्तुत की गयी है।

उपसंहार- अन्त में शोध-प्रबन्ध के इस भाग में शोधार्थिनी के द्वारा अधिगत शोध-कार्य का सार विवेचन किया गया है, जिसमें पूर्व के सभी अध्यायों में विवेचित विषयों पर बिन्दुवार अनुसंधानपरक विचार किया गया है।

इस प्रकार इस शोध कार्य को ६ अध्यायों में विभाजित करके विषय की गंभीरता के दृष्टिकोण से विषय-वस्तु को इसमें समाहित करने का यथासम्भव प्रयास किया गया है।

शोध-प्रविधि-

प्रस्तावित शोध कार्य में विवेचनात्मक, तुलनात्मक एवं सैद्धान्तिक समीक्षा की प्रणाली अपनायी गयी है । दोनों दर्शनों का ऐतिहासिक परिचय देते समय विवेचनात्मक प्रणाली का प्रयोग किया गया है। दोनों दर्शनों के अनुसार प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाण का अध्ययन करते समय तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया गया है तथा अन्त में समीक्षा करते समय सैद्धान्तिक विवेचन की प्रणाली अपनायी गयी है।

अध्याय- 1

बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन का ऐतिहासिक व सैद्धान्तिक परिचय

भारतीय दार्शनिक चिन्तन-परम्परा का विकास वैदिक काल से लेकर अद्यावधि प्रवर्तमान है। इस चिन्तन-परम्परा का निदर्शन सर्वप्रथम ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में दार्शनिक प्रश्नों के रूप में होता है। यह चिन्तनधारा ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषदों के रूप में प्रवाहित होती हुई लगभग ७ वीं शती में विभिन्न दार्शनिक शाखाओं के रूप में व्यवस्थित हुई। उस समय तक विकसित दार्शनिक चिन्तन को दार्शनिकों ने विभिन्न शाखाओं के सूत्र ग्रन्थों के रूप में व्यवस्थित किया। परवर्ती आचार्यों ने सूत्रग्रन्थों में निबद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को सुगम बनाने के लिए भाष्य, वार्तिक, टीका, वृत्ति आदि के रूप में व्याख्या ग्रन्थ लिखे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न दार्शनिक शाखाओं का अध्ययन सूत्र, भाष्य, टीका, वृत्ति आदि विविध ग्रन्थों के रूप में होता रहा।

दर्शन की उपयोगिता मानव जीवन में हमेशा से रही है। प्रत्येक मनुष्य जीवन-संग्राम में स्वयं को विजयी बनाना चाहता है और इसके लिए वह अपनी विचार शक्ति का उपयोग करता है, चाहे इसका ध्यान उसे रहता हो या न रहता हो किन्तु उपयोग अवश्य करता है। समस्त मानवीय कार्यविधानों की आधारशिला मानवीय विचार ही है। भगवद्गीता में भी कहा गया है कि "श्रद्धाओं के अनुरूप ही मनुष्य होता है, उसकी कार्यप्रणाली निश्चित होती है तथा उसी के अनुरूप उसे फल की उपलब्धि होती है।[1] इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का अपना एक दर्शन होता है, चाहे वह उसे जाने या न जाने। अतः यह सर्वविदित है कि दर्शन मनुष्य के जीवन का अभिन्न अंग है, उसे जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता।

---

[1] सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥- *श्रीमद्भगवद्गीता*, ३.१७

दर्शन शब्द का निर्वचनात्मक अर्थ है- 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाये वह दर्शन है । यहाँ पर दर्शनीय सत्यभूत तात्त्विक स्वरूप है अर्थात् तत्त्व चिन्तन ही दर्शन का विषय है । मनुष्य का अन्तर्जगत् भी उतना ही रहस्यमय है, जितना बाह्य जगत् । जीवन में अनेक क्षण आते हैं जब मनुष्य जागरूक हो जाता है, इसी जगरूकता का विश्लेषण दर्शन है । मनुष्य जहाँ एक ओर अपने अन्तर्जगत् की दुरूहता को स्पष्ट करना चाहता है, वहीं कुछ अपने बाह्य जगत् की समस्याओं को सुलझाने का भी प्रयास करता है । उनका विज्ञान जहाँ प्रकृति के मूल तत्त्वों से उनके संघर्ष का इतिहास है, वहीं उनका दर्शन उनके तथा सृष्टि के रहस्यपूर्ण जीवन का बौद्धिक निरूपण है, क्योंकि मानव के अन्तर्जगत् का विकास वस्तुतः उसके मस्तिष्क और हृदय का ही विस्तार है ।[2]

विवेचन और विश्लेषण भारतीय दर्शन की मौलिक विशिष्टता है तथा आत्मदर्शन इसका परम लक्ष्य है क्योंकि स्व को जान लेना ही सत्य को जान लेना है । भारतीय दर्शन के अनुसार दुःख आत्म-अज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं । मनुष्य स्वयं को जानने पर आनन्द का अधिकारी बन जाता है क्योंकि प्रत्येक के भीतर निवास करने वाले ब्रह्म की अनुभूति ही आनन्द है । इसी सत्यभूत ब्रह्म रूप आत्मा को जानना ही दर्शन का परम लक्ष्य है । भर्तृहरि ने इस 'स्व' की अनुभूति को इस प्रकार कहा है-

"दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्त्तये ।
स्वानुभूत्यैवकमानाय नमः शान्ताय तेजसे" ॥[3]

आत्म-गवेषणा से परिपूर्ण इस भारतीय दर्शन परम्परा को आस्तिक और नास्तिक के आधार पर दो वर्गों में विभाजित किया गया है । प्रथम आस्तिक दर्शन समूह वेदों की प्रमाणिकता में विश्वास करने वाला है, जिसके अन्तर्गत न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त और मीमांसा ये छः दर्शन आते हैं । दूसरा नास्तिक दर्शन समूह वह है जो वेदों

---

[2] मिश्र, जगदीशचन्द्र, *भारतीय दर्शन*, पृ. ३ (चौखम्बा सुभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण; २०१०)

[3] *नीतिशतकम्*, भर्तृहरि, १

की प्रमाणिकता को स्वीकार नहीं करता, जिसमें जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शन शामिल हैं ।[4] अतः इस वर्गीकरण के आधार पर बौद्ध नास्तिक है और वैशेषिक आस्तिक ।

1.1.**बौद्ध दर्शन-**

भारतीय दर्शन जगत् में बौद्ध दर्शन का विशिष्ट स्थान है, जिसका आविर्भाव बौद्धधर्म की निरन्तर चिन्तनधारा के क्रम में हुआ है । बौद्ध धर्म के दो रूप इतिहास जगत् में देखने को मिलते हैं- पहला शुद्ध धार्मिक रूप है, जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वों के रहस्योद्घाटन को अनावश्यक मानकर आचार मार्ग का ही लोककल्याण के लिए सरल रीति से प्रतिपादन किया गया है ।[5] दूसरा दार्शनिक रूप है, जिसके आधार पर बौद्ध तत्त्व-विवेचकों ने बुद्ध की आचार शिक्षा में समाहित सूक्ष्म सिद्धान्तों का तार्किक रूप से गहरा अनुशीलन किया तथा बौद्ध धर्म की अस्पष्ट दार्शनिक रूपरेखा को स्पष्ट स्वरूप प्रदान करते हुए मध्यममार्ग अर्थात् शाश्वतवाद और उच्छेदवाद इन दो अतियों के बीच का मार्ग बताया गया है ।[6] इन दोनों रूपों में तथागत बुद्ध के द्वारा व्यवहारता और परमार्थता में समन्वय की स्थापना का पुट दिखाई देता है ।

1.1.1.**बौद्ध दर्शन का ऐतिहासिक परिचय-**

भगवान् बुद्ध के उपदेशों की पहली विशेषता थी- उनके द्वारा अभिव्यक्त यथार्थ विचार । उन्होनें अपने जीवन में अपनी प्रज्ञा के द्वारा जो कुछ देखा, सुना और समझा- उन

---

[4] नास्ति वेदोदितो लोक इति येषां मतिस्थिराः ।

नास्तिकास्ते तथास्तीति मतिर्येषां ते आस्तिकाः ॥- मिश्र, जगदीशचन्द्र, *भारतीय दर्शन* के पृ. ३१ पर उद्धृत

[5] चरथ, भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं ।

मा एकेन द्वे अगमित्थ । देसेथ, भिक्खवे, धम्मं आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सब्यञ्जनं केवलपरिपुण्णं परिशुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ । सन्ति सत्ता अप्परजक्खजातिका, अस्सवनता धम्मस्स परिहायन्ति, भविस्सन्ति धम्मस्स अञ्ञातारो । अहम्पि, भिक्खवे, येन उरुवेला सेनानिगमो तेनुपसङ्कमिस्सामि धम्मदेसनायाति ।- *विनयपिटके महावग्गपालि*, १.८, पृ. २४ (पालिधम्मग्रन्थमाला विपश्यना विशोधनविन्यास, इगतपुरी, प्रथम आवृत्ति, १९९८)

[6] अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम् ।

तस्माद् अस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः ॥- *म.शा.*, १५.१०,(द्वारिकादास शास्त्री द्वारा सम्पादित, बौद्ध भारती, वाराणसी, संस्करण १; १९८३)

बातों को उन्होनें उसी रूप में लोगो के समक्ष प्रस्तुत किया। बुद्ध यथार्थवादी होने के साथ-साथ व्यवहारवादी भी थे। यही कारण था कि लोककल्याण हेतु उन्होनें एक ओर यथार्थवादी अनुभवों का संकलन किया था तो दूसरी ओर लोककल्याण के लिए ही व्यवहारवाद पर अधिक बल दिया। चार महान आर्यसत्य, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग आदि बुद्ध के व्यवहारवादी दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

बुद्ध ने अपने कार्य को स्थायी बनाने के लिए 'संघ' की स्थापना की थी। इसकी रचना राजनीतिक 'संघ' अर्थात् लोकतंत्र की सभा के अनुसार की गयी थी। बुद्ध की शिक्षाओं को तीन पिटकों में संकलित किया गया, जिसे त्रिपिटक कहा जाता है। बौद्ध धर्म के त्रिरत्न- बुद्ध, धर्म और संघ हैं। इन्ही त्रिरत्नों का शरणापन्न व्यक्ति बौद्ध माना जाता है।[7] त्रिपिटकों में बुद्ध की शिक्षाओं का संकलन करने के लिए भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर बुद्धवचनों में प्रक्षेप और अपनय न होने देने के लिए समय-समय पर संगीतियों का आयोजन किया गया जो इस प्रकार से हैं-

प्रथम संगीति बुद्ध के महापरिनिर्वाण के तत्काल बाद प्रथम वर्षावास के काल में ही राजगृह में महाकश्यप के संरक्षकत्व में सम्पन्न हुई। इसमें आनन्द ने सुत्त और उपालि ने विनयपिटक का संगायन किया। इस प्रकार इस संगीति में सम्मिलित पाँच सौ अर्हत् भिक्षुओं ने प्रथम बार बुद्धवचनों का त्रिपिटक में संकलन किया।[8]

द्वितीय संगीति कौशाम्बी में आयोजित की गयी, जिसमें दस हजार भिक्षु सम्मिलित हुए थे। यह सभा महासंघ या महासंगीति कहलाई। इसी संगीति के साथ बौद्ध संघ दो भागों या निकायों में विभक्त हो गया- स्थविरवादी और महासांघिक।

तृतीय बौद्ध संगीति भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद सम्राट अशोक के काल में पाटलिपुत्र में आयोजित की गयी, जिसकी अध्यक्षता महास्थविर मोग्गलिपुत्त

---

[7] उपाध्याय, बलदेव, *बौद्ध दर्शन मीमांसा*, पृ. ३२-३३ (चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १संस्करण, १९९९ई.)

[8] वही, पृ. १७

तिस्स ने की । तृतीय संगीति के समय तक बौद्ध संघ अठारह निकायों में विभक्त हो चुका था । यह संगीति बौद्ध धर्म के इतिहास में नितान्त महत्त्व की मानी जाती है क्योंकि इसी संगीति के नियमानुसार सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भारत के बाहर भी भिक्षुओं को भेजा था । इसी समय से बौद्ध धर्म विश्वधर्म की पदवी पाने की ओर अग्रसर हुआ ।[9]

चतुर्थ बौद्ध संगीति कुषाणवंशीय महाराजा कनिष्क के समय प्रथम शताब्दी में सम्पन्न हुई जिसका समय १०० ई. के आसपास माना जाता है । यह संगीति कश्मीर की राजधानी के पास कुण्डलवन विहार में हुई थी, जिसमें पाँच सौ भिक्षु सम्मिलित हुए थे । इस संगीति के अध्यक्ष वसुमित्र थे और उपाध्यक्ष महाकवि अश्वघोष थे । इस संगीति में प्रमुखतः सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के भिक्षुओं ने भाग लिया था । सर्वास्तिवादियों ने बौद्ध धर्म के विशिष्ट सिद्धान्तों पर अपने मत निश्चित किये, विरोधों का परिहार किया तथा त्रिपिटकों पर महत्त्वपूर्ण व्याख्या लिखी जो 'महाविभाषा' के नाम से प्रसिद्ध है । इस प्रकार इन बौद्ध संगीतियों के कारण बौद्ध धर्म में सुव्यवस्था का आविर्भाव हुआ जिसके कारण भगवान बुद्ध के लोककल्याणकारी उपदेशों का संकलन हो सका ।[10]

1.1.1.1.**बौद्ध दर्शन के इतिहास का काल-विभाजन-**

प्रथम काल में- विक्रम के पूर्व पंचम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक लगभग १५०० वर्ष बौद्ध दर्शन के अभ्युदय का महत्त्वपूर्ण समय माना जाता है । इस दीर्घकाल में बौद्ध आचार्य बौद्ध धर्म के तीन बार प्रवर्तन स्वीकार करते हैं जिसे वे त्रिचक्रप्रवर्तन के नाम से पुकारते हैं । इस काल विभाग में प्रधान सिद्धान्त पुद्गल-नैरात्म्य अर्थात् आत्मा का निषेध था । बाह्य आयतन या विषय की सत्ता का निषेध माना जाता था । यह जगत् शक्तियों का मूल सत्ताविहीन, एक क्षणिक, परिणाम या सन्तानमात्र है ।

---

[9] उपाध्याय, बलदेव, *बौद्ध दर्शन मीमांसा*, पृ. ३५

[10] वही

आचार की दृष्टि से व्यक्तिगत निर्वाण ही जीवन का लक्ष्य था। यही स्वरूप वैभाषिक मत में प्राप्त होता है।[11]

दूसरा काल-विभाग विक्रम की प्रथम शताब्दी से लेकर पंचम शताब्दी तक है जब पुद्गल-नैरात्म्य के स्थान पर धर्म-नैरात्म्य सर्वमान्य सिद्धान्त था। यह शून्यवाद के उदय का काल है। इस मत में जगत् की सत्ता को एकदम तिरस्कृत न कर उसे आभास रूप माना गया। आर्य सत्य की जगह द्विविध सत्यता (सांवृतिक, पारमार्थिक) की कल्पना को विशेष महत्त्व दिया गया। वैभाषिकों के बहुत्ववाद के स्थान पर अद्वैतवाद (शून्याद्वैत) के सिद्धान्त को महत्त्व दिया गया।[12]

तीसरे काल-विभाग का समय पंचम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक है। तर्कविद्या की उन्नति इस काल की प्रमुख विशेषता रही। यहाँ सर्वशून्यता का सिद्धान्त दोषमय माना गया और उसके स्थान पर विज्ञान की सत्यता मानी गयी। समग्र जगत् चित्त या विज्ञान का परिणाम माना गया। इस काल में आलय-विज्ञान की कल्पना प्रमुख विशेषता थी। विज्ञानवाद का उदय इसी काल में हुआ। किन्तु इस युग के अन्तिम आचार्य असंग और वसुबन्धु को यह कल्पना मान्य थी, जबकि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने आलय-विज्ञान का खण्डन किया है।[13]

1.1.1.2.**बौद्ध धर्म की शाखाएँ-**

बौद्ध धर्म की दो प्रधान शाखाएँ है- १. हीनयान तथा २. महायान। हीनयान से अभिप्राय पालि त्रिपिटकों के आधार पर व्यवस्थित धर्म से है, जो श्रीलंका, बर्मा आदि भारत से दक्षिण के देशों में प्रचारित है। महायान का विस्तार चीन, जापान, मंगोलिया, कोरिया आदि भारत से उत्तर के देशों में हुआ।

---

[11] उपाध्याय, बलदेव, *बौद्ध दर्शन मीमांसा*, पृ. १४३

[12] वही

[13] वही, पृ. १४३-१४४

भगवान् बुद्ध के समस्त उपदेश तीन यानों में संगृहीत हैं- श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान और बोधिसत्त्वयान, इनमें से श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान 'हीनयान' कहलाते हैं तथा बोधिसत्त्वयान 'महायान' के नाम से जाना जाता है । महायानसूत्रालङ्कार में इसके सात कारण बताये हैं- आलम्बन महत्त्व, प्रतिपत्ति महत्त्व, ज्ञान महत्त्व, वीर्यारम्भ महत्त्व, उपायकौशल महत्त्व, समुदागम महत्त्व और बुद्धकर्म महत्त्व ।[14]

महायान की ही विकसित शाखाएँ मन्त्रयान तथा वज्रयान हैं ।[15] महायान का उद्भव बुद्धशासन में एक नूतन परिवर्तन है । महायान की विशेषता उसकी लोकपरायणता, समाजोन्मुखता एवं प्राणी सेवा है । एक महायानी का उद्देश्य प्राणीमात्र को दुःखों से मुक्त एवं सुखों से समन्वित करना है । इस महान उद्देश्य के सामने वह व्यक्तिगत मोक्ष को रसहीन एवं तुच्छ समझता है । संसार में रहते हुए सांसारिक दोषों से लिप्त न होना महायानी का व्रत है । भव और निर्वाण इन दोनों कोटियों का परिवर्जन कर महायानी बोधिसत्त्व मध्य में अर्थात् अप्रतिष्ठित निर्वाण में स्थिर रहता है, यही बुद्धत्व भी है ।[16]

वैभाषिक और सौत्रान्तिक दर्शन हीनयान तथा योगाचार और माध्यमिक महायानी दर्शन हैं । इसमें कुछ सत्यांश होने पर भी दर्शन-भेद यान-भेद का नियामक नहीं होता, अपितु उद्देश्य-भेद या जीवनलक्ष्य का भेद ही यान भेद का नियामक होता है । उद्देश्य की अधिक व्यापकता और अल्प व्यापकता ही क्रमशः महायान और हीनयान के भेद का आधार है । अतः यहाँ 'हीन' शब्द का अर्थ 'अल्प' है न कि तुच्छ या अधम ।[17]

---

[14] आलम्बनमहत्त्वं च प्रतिपत्तेर्द्वयोस्तथा, ज्ञानस्य वीर्यारम्भस्य उपाये कौशलस्य च ।
उदागममहत्त्वं च महत्त्वं बुद्धकर्मणः, एतन्महत्त्वयोगाद्धि महायानं निरुच्यते ॥- *महा.सू.*, गुणाधिकार, का. ५९-६०, पृ. १६४ (दरभंगा संस्करण, १९७०)

[15] उपाध्याय, बलदेव, *बौद्ध दर्शन मीमांसा,* पृ. ३३

[16] जगदानन्दबीजस्य जगद्दुखौषधस्य च ।
चित्तरत्नस्य यत्पुण्यं तत्कथं हि प्रमीयताम् ॥- *बो.चर्या.*, १.२६ (रामशङ्कर त्रिपाठी द्वारा सम्पादित, के.उ.ति.शि.सं., सारनात, वाराणसी, १९९८)

[17] त्रिपाठी, रामशङ्कर, *बौद्ध दर्शन प्रस्थान*, भूमिका, पृ. Xiii (के.उ.ति.शि.सं., सारनाथ, वाराणसी, १ संस्करण; १९९६)

1.1.1.3.**बौद्ध दर्शन के प्रमुख सम्प्रदाय-**

तथागत बुद्ध के वचनों में देश, काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होते गये । जब बौद्ध धर्म तथा दर्शन का विकास हुआ तो उसमें समयानुसार अनेक बातें स्वीकार कर ली गयी । इस प्रकार बौद्ध धर्म हीनयान से महायान की ओर अग्रसर हुआ । बौद्ध दर्शन के मुख्यतः चार सम्प्रदाय हैं- वैभाषिक, सौत्रान्तिक, शून्यवादी और विज्ञानवादी । विज्ञानवाद सम्प्रदाय के लिए योगाचार और शून्यवादी सम्प्रदाय के लिए माध्यमिक शब्द का प्रयोग भी होता है । इनमें से वैभाषिक और सौत्रान्तिक को बौद्ध दर्शन की हीनयान शाखा के अन्तर्गत तथा योगाचार तथा माध्यमिक को महायान शाखा के अन्तर्गत माना जाता है ।[18] इन सम्प्रदायों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है-

1.1.1.3.1.**वैभाषिक-** त्रिपिटक पर विभाषा की रचना की गयी तथा इस विभाषा के अनुयायी वैभाषिक सर्वास्तिवादी कहलाए । धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र एवं बुद्धदेव वैभाषिकों के प्रधानतम चार आचार्य थे । वैभाषिकों के प्रमाणिक ग्रन्थ के रूप में सर्वप्रसिद्ध वसुबन्धु का अभिधर्मकोश है, किन्तु वसुबन्धु को वैभाषिक ग्रन्थ के रचयिता होने पर भी परम्परा रूप से वैभाषिक नहीं माना जाता, अपितु उन्हें सौत्रान्तिक माना जाता है ।[19] वैभाषिक बाह्यार्थ की सत्ता को प्रत्यक्षगम्य मानते हैं । 'सर्वम् अस्ति' अर्थात् अतीत और अनागत धर्मों की भी वस्तुतः सत्ता है, यह मानने के कारण ये सर्वास्तिवादी कहलाए । वैभाषिक त्रिकालदेव मानते हुए और धर्मों का अनित्यत्व स्वीकार करते हुए भी धर्म-स्वभाव को नित्य एवं त्रैकालिक मानते हैं ।[20] वैभाषिकों के अनुसार ज्ञान निराकार है । वैभाषिकों के दो भेद प्रधान थे- काश्मीर वैभाषिक एवं पाश्चात्य वैभाषिक, जिनका केन्द्र गन्धार में था ।[21]

---

[18] Vidyabhusana, S C, *HIL*, p. 247 (Motilal Banarasidass, Delhi, 1978)

[19] त्रिपाठी, रामशङ्कर, *बौद्ध दर्शन प्रस्थान*, पृ. ३५

[20] तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादा इष्टाः ।- *अभिधर्मकोशभाष्य* (रामशङ्कर त्रिपाठी, बौद्ध दर्शन प्रस्थान, पृ. ३६ पर उद्धृत)

[21] पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, *बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास*, पृ. २६३ (उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, १९९०)

1.1.1.3.2.**सौत्रान्तिक-** सर्वास्तिवादियों का दूसरा सम्प्रदाय सौत्रान्तिक कहलाता है । स्कन्धों का एक जन्म से दूसरे जन्म में संक्रमण मानने के कारण इनका नाम सौत्रान्तिक पड़ा ।[22] दूसरे मत में केवल सूत्रपिटक का प्रामाण्य स्वीकार करने के कारण उनकों सौत्रान्तिक कहा जाता है ।[23] इस संप्रदाय में पञ्चस्कन्धों की संक्रान्ति स्वीकार की जाती है और मार्ग के अतिरिक्त स्कन्ध-निरोध नहीं माना जाता । पुद्गल को परमार्थ सत् स्वीकार नहीं किया जाता । वैभाषिकों के समान ये भी बाह्यार्थ की सत्ता स्वीकार करते हैं, किन्तु इनके मत में यह प्रत्यक्षगम्य न होकर अनुमेय है । इसी प्रकार वैभाषिकों के विपरीत ये ज्ञान को साकार मानते हैं ।[24]

1.1.1.3.3.**माध्यमिक-** माध्यमिक को शून्यवाद कहा जाता है । यह एक ऐसा सम्प्रदाय है जो सत्, असत्, उभय तथा अनुभय स्वरूप तत्त्व का स्वरूप स्वीकार करते हैं, वे 'माध्यमिक' कहलाते हैं ।[25] इनके अनुसार सभी धर्म परमार्थतः सत् नहीं हैं और व्यवहारतः असत् भी नहीं हैं। इस सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त है- 'सर्वं शून्यम्' अर्थात् किसी भी पदार्थ का अपना कोई स्वभाव नहीं है । यह स्वभावशून्यता ही वास्तविक शून्यता अथवा नैरात्म्य है । इस सम्प्रदाय को माध्यमिक इसलिए कहा जाता है क्योंकि इन्होनें सत् और असत् दोनों का निराकरण करके मध्यममार्ग को अपनाया । उनके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद ही कार्यकारण भाव को प्रकट करता है । नागार्जुन इस मत के संस्थापक कहे जाते हैं तथा उनका ग्रन्थ 'मध्यमकशास्त्र' शून्यवाद का प्रतिनिधित्व करता है ।

---

[22] यथा हि अङ्गसम्भारा होति सद्दो रथो इति ।
एवं खन्धेषु सन्तेषु होति सत्तो ति सम्मुति ॥- *संयुक्तनिकाय, सगाथवग्ग*, पृ. १३५ (पालिधम्मग्रन्थमाना विपश्यना विशोधनविन्यास, इगतपुरी, १ आवृत्ति; १९९८)

[23] अत्थानं सूचनतो सुवुत्ततो सवनतो थ सूदनतो ।
सुत्ताणा सुत्तसभागतो च सुत्तं सुत्तं ति अक्खातं ।।- *अट्ठसालिनी, निदानकथावण्णना*, पृ. ३९ (पालिधम्मग्रन्थमाला विपश्यना विशोधनविन्यास, इगतपुरी, १ आवृत्ति; १९९८)

[24] त्रिपाठी रामशङ्कर, *बौद्ध दर्शन प्रस्थान*, पृ. ९७-९८

[25] न सन्नासन्न सदसन्न चाप्युभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥- *म.शा.* (*बोधिचर्यावतारपंजिका* में पृ. १७४ पर उद्धृत)

1.1.1.3.4.**योगाचार-** इस सम्प्रदाय को विज्ञानवाद भी कहा जाता है । योग के द्वारा परमार्थज्ञान की ओर अग्रसर होना योगाचार है । इनके अनुसार विज्ञानमात्र ही वस्तु सत् है, बाह्य वस्तु मिथ्या है अर्थात् बाह्यार्थ परिकल्पित मात्र है क्योंकि इसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती ।[26] एक ही विज्ञान ग्राह्य और ग्राहक भेद से प्रतीत होता है । यह ग्राह्य-ग्राहक भेद अविद्याकल्पित है, वास्तविक नहीं । बाह्य जगत् विज्ञान का ही मिथ्यारूप है तथा अन्तर्जगत् के भी सभी सुख-दुःख आदि भाव विज्ञान के आकार हैं ।[27] यहाँ दो प्रकार के विज्ञान माने गये हैं- आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान । आलयविज्ञान को सब धर्मों का बीज कहा गया है ।[28]

मुख्यतः भारतीय दर्शन में बौद्ध दर्शन के उपर्युक्त चार सम्प्रदायों का ही उल्लेख होता है, किन्तु बौद्धों की प्रमाणमीमांसा पर स्वतन्त्र चिन्तन परम्परा को बौद्धन्याय की परम्परा कहा जा सकता है।

1.1.1.3.5.**बौद्धन्याय-** बौद्धदर्शन के इस सम्प्रदाय को दिङ्नाग सम्प्रदाय के नाम से भी जाना जाता है । सर्वधर्मशून्यता के स्थान पर बाह्यार्थशून्यता का सिद्धान्त अपनाया गया । इसी काल में बौद्धन्याय का विकसित स्वरूप उभरकर सामने आया, जिसमें प्रमाण-मीमांसा पर विशेष बल दिया गया ।[29] श्चेरबात्स्की के अनुसार बौद्धन्याय मानव जीवन के उन समस्त क्षेत्रों में व्याप्त है जो प्रत्यक्ष जैसे साधारण विषयों से आरम्भ होकर सार्वजनिक वाद-विवाद की जटिल प्रक्रिया में समाप्त होते हैं ।[30]

यद्यपि बौद्धन्याय अथवा बौद्धतर्कशास्त्र का जन्म बौद्धदर्शन के क्षेत्र में प्रसिद्ध आचार्य दिङ्नाग के आविर्भाव के साथ हुआ किन्तु इसमें दिङ्नाग को ही प्रथम बौद्ध नैयायिक

---

[26] विज्ञानमात्रमेवैतदसदर्थावभासनात् ।- *विंशतिका*, का. १ (*विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि* से उद्धृत)

[27] बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते ।
वासनालुठितं चित्तमर्थाभासं प्रवर्तते ॥- लङ्कावतारसूत्र, १०.२८५

[28] सर्वबीजं हि विज्ञानं परिणामस्तथा तथा ।
यात्यन्योन्यवशाद् येन विकल्पः स स जायते- *त्रिंशिका*, का. १८

[29] शास्त्री, श्रीनिवास, *न्या. बि. टी.*, पृ. २ (हिन्दी व्याख्या)

[30] श्चेरबात्स्की, *बौ.न्या.*, भाग-१, पृ. १ (रामकुमार राय कृत हन्दी अनुवाद, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६९)

मानना उचित नहीं होगा क्योंकि नागार्जुन और वसुबन्धु का नाम बौद्धन्याय के इतिहास में दिङ्नाग से पहले आता है ।[31] इस प्रकार बौद्धन्याय के आचार्यों एवं उनके ग्रन्थों को दो भागों में बाँटा जा सकता है-

1.1.1.4.**बौद्धन्याय के प्रमुख आचार्य एवं उनके ग्रन्थ-**

१.दिङ्नाग के पूर्ववर्ती बौद्ध नैयायिक
२.दिङ्नाग एवं उनके उत्तरवर्ती बौद्ध नैयायिक

दिङ्नाग के पूर्ववर्ती बौद्ध नैयायिक			
आचार्य	काल	सम्प्रदाय	ग्रन्थ
नागार्जुन	२५०-३२०	माध्यमिक	१माध्यमिककारिका २युक्तिषष्ठिका ३प्रमाणविध्वंसन ४उपायकौषल्यम् ५विग्रहव्यावर्तनी
आर्यदेव	३२०ई.	माध्यमिक	१शतकशास्त्र २ब्रह्मप्रथमनयुक्तिहेतुसिद्धि
मैत्रेयनाथ	४००ई.	योगाचार	१बोधिसत्त्वचर्यानिर्देश २सप्तदशभूमिशास्त्र ३योगाचार्य ४अभिसमयालङ्कारकारिका
असङ्ग	४०५-४७९	योगाचार	१योगाचारभूमि २उत्तरतन्त्र ३प्रकरणार्यवाचाशास्त्र ४महायानाभि धर्मसंयुक्त
वसुबन्धु	४१०-४९०	योगाचार	१वादविधि २पञ्चस्कन्ध-प्रकरण ३कर्मसिद्धि-प्रकरण ४विंशतिकाकारिका ५त्रिंशिकाकारिका ६मध्यान्तविभागभाष्य ७त्रिस्वभावनिर्देश

[31] उपाध्याय, बलदेव, *बौद्ध दर्शन मीमांसा*, पृ. २८३

दिङ्नाग एवं उनके उत्तरवर्ती बौद्धनैयायिक			
आचार्य	**काल**	**सम्प्रदाय**	**ग्रन्थ**
दिङ्नाग	४५०-५२०	विज्ञानवाद	१ अभिधर्ममर्मप्रदीप २अष्टसाहस्त्रिका-प्रज्ञापारमितासूत्र ३प्रमाणसमुच्चय ४हेतुचक्र-समर्थन ५न्यायमुख ६आलम्बनपरीक्षा ७त्रिकालपरीक्षा ८हेतुमुख
शङ्करस्वामी ईश्वरसेन	५५०ई.	विज्ञानवाद	१न्यायप्रवेश
धर्मकीर्ति	५५०-६७५	विज्ञानवाद	१प्रमाणवार्त्तिक २प्रमाणविनिश्चय ३न्यायबिन्दु ४हेतुबिन्दु ५सम्बन्धपरीक्षा ६वादन्याय ७सन्तानान्तरसिद्धि
धर्मोत्तर	८४७	विज्ञानवाद	१प्रमाणविनिश्चयटीका २प्रामाण्यपरीक्षा ३अपोहप्रकरण ४परलोकसिद्धि ५क्षणभङ्गसिद्धि ६न्यायबिन्दुटीका
शान्तरक्षित		शून्यवाद	१तत्त्वसंग्रह २माध्यमिकालंकारकारिकावृत्ति ३वादन्यायवृत्ति विपञ्चितार्थाख्या ४हेतुचक्रडमरू ५तत्त्वसिद्धि
कमलशील	७१३	विज्ञानवादी	१तत्त्वसंग्रहपञ्जिका २न्यायबिन्दु पूर्वपक्षसंक्षेप ३माध्यमिकालोक ४भावनाक्रम

1.1.1.4.1.धर्मकीर्ति का परिचय-

बौद्धन्याय की आचार्य परम्परा में धर्मकीर्ति का विशिष्ट स्थान है । बौद्धन्याय के विकास में धर्मकीर्ति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । धर्मकीर्ति के व्यक्तिगत परिचय के विषय में कहा जाता है कि ये दक्षिण के त्रिमलय में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे । उन्होनें प्रारम्भिक अध्ययन वैदिक दर्शनों का किया था । तदनन्तर वसुबन्धु के शिष्य धर्मपाल, जो उन दिनों अत्यन्त वृद्ध हो चुके थे, उनके पास विशेष रूप से बौद्ध दर्शन का अध्ययन करने के लिए नालन्दा गये थे । उनको तर्कशास्त्र में विशेष रुचि थी, इसलिए दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन से उन्होनें प्रमाणशास्त्र का विशेष अध्ययन किया तथा अपनी प्रतिभा के बल से दिङ्नाग के प्रमाणशास्त्र में ईश्वरसेन से भी आगे बढ़ गये । तत्पश्चात् अपना अगला जीवन उन्होनें वाद-विवाद और प्रमाणवार्त्तिक आदि सप्त प्रमाणशास्त्रों की रचना में बिताया । अन्त में कलिङ्ग देश में उनकी मृत्यु हुई ।[32]

आचार्य दिङ्नाग ने जब प्रमाणसमुच्चय लिखकर बौद्ध प्रमाणशास्त्र का बीजवपन किया तो अन्य बौद्धेतर दार्शनिकों में उसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था । तदनुसार न्यायदर्शन के व्याख्याकारों में उद्योतकर ने, मीमांसा मत के आचार्य कुमारिल ने, जैन मत के आचार्यों में मल्लवादी ने दिङ्नाग के मन्तव्यों की समालोचना की ।[33] फलस्वरूप बौद्ध विद्वानों को भी प्रमाणशास्त्र के क्षेत्र में अपने विचारों को सुव्यवस्थित करने का अवसर प्राप्त हुआ । ऐसे विद्वानों में आचार्य धर्मकीर्ति प्रमुख हैं, जिन्होनें दिङ्नाग के दार्शनिक मन्तव्यों का सुविशद विवेचन किया तथा उद्योतकर, कुमारिल आदि दार्शनिकों की समालोचना करके बौद्ध प्रमाणशास्त्र की भूमिका को सुदृढ़ बनाया । उन्होनें केवल बौद्धेतर विद्वानों की ही आलोचना नहीं की अपितु कुछ गौण विषयों में अपना मत दिङ्नाग से भिन्न रूप में भी प्रस्तुत किया । दिङ्नाग के शिष्य ईश्वरसेन की

---

[32] त्रिपाठी, रामशङ्कर, *बौद्ध दर्शन प्रस्थान,* पृ. ३२२

[33] वही, पृ. ३२१

भी, जिन्होनें दिङ्नाग के मन्तव्यों की अपनी समझ के अनुसार व्याख्या की थी, समालोचना कर बौद्ध प्रमाणशास्त्र को परिपुष्ट किया ।

आचार्य धर्मकीर्ति के प्रमाणशास्त्र-विषयक सात ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं । ये सातों ग्रन्थ प्रमाणसमुच्चय की व्याख्या के रूप में ही हैं । प्रमाणसमुच्चय में प्रतिपादित विषयों का ही इन ग्रन्थों में विशेष विवेचन है । यह भी उल्लेखनीय है कि धर्मकीर्ति के ग्रन्थों के प्रकाश में आने के बाद दिङ्नाग के ग्रन्थों का अध्ययन गौण हो गया ।

आचार्य धर्मकीर्ति के ग्रन्थों का प्रधान और पूरक के रूप में विभाजन किया जाता है, जैसे- न्यायबिन्दु की रचना तीक्ष्णबुद्धि पुरुषों के लिए, प्रमाणविनिश्चय की रचना मध्यबुद्धि पुरुषों के लिए तथा प्रमाणवार्त्तिक का निर्माण मन्दबुद्धि पुरुषों के लिए है ।[34] ये ही तीनों ग्रन्थ प्रधान हैं, जिनमें प्रमाणों से सम्बन्धित सभी वक्तव्यों का विस्तृत विवेचन किया गया है । शेष चार ग्रन्थ पूरक के रूप में हैं, जो इस प्रकार हैं- स्वार्थानुमान से सम्बद्ध हेतुओं का निरूपण 'हेतुबिन्दु' में है । हेतुओं का अपने साध्य के साथ सम्बन्ध का निरूपण 'सम्बन्धपरीक्षा' में है । परार्थानुमान से सम्बद्ध विषयों का निरूपण 'वादन्याय' में है ।

सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने धर्मकीर्ति का समय बौद्ध न्याय परम्परा में ६३५-६५० ई. के लगभग अर्थात् सातवीं शताब्दी माना है ।[35] राहुल सांकृत्यायन ने ६२५ ई. के आसपास धर्मकीर्ति का समय निर्धारित किया है ।[36] न्यायाचार्य महेन्द्र ने ६२०-६९० के बीच समय निर्धारण किया है ।[37] तिब्बती परम्परा के अनुसार आचार्य कुमारिल और आचार्य धर्मकीर्ति समकालीन थे ।[38] कुमारिल ने दिङ्नाग का खण्डन तो किया है, किन्तु धर्मकीर्ति का नहीं, जबकि धर्मकीर्ति ने कुमारिल का खण्डन किया है । ऐसी स्थिति में कुमारिल आचार्य धर्मकीर्ति के वृद्ध समकालीन ही हो सकते हैं । इस प्रकार

---

[34] त्रिपाठी, रामशङ्कर, *बौ.द.प्र.*, पृ. ३२२
[35] Vidyabhushana, S.C., *HIL*, p. 303-305
[36] *वादन्याय*, प्रस्तावना, पृ. ५
[37] *अकलङ्कग्रन्थत्रय,* प्रस्तावना, पृ. २१ (सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद-कलकता, १९३९)
[38] *तत्त्व.सं.,* प्रस्तावना, पृ. ७० (गायकवाड़ आरियण्टल सीरीज, बडौदा, १९२६)

सभी मतो के अनुसार विचार करने पर धर्मकीर्ति का समय सातवीं शताब्दी ही प्रतीत होता है ।

1.1.1.4.2.**प्रमाणवार्त्तिक का परिचय-**

धर्मकीर्ति की कृतियों में जैसा कि पूर्व में उल्लेखित है, १प्रमाणवार्त्तिक, २प्रमाणसमुच्चयटीका, ३न्यायबिन्दु, ४हेतुबिन्दु, ५सम्बन्ध-परीक्षा, ६वादन्याय, ७सन्तानान्तर सिद्धि आदि हैं । इनमें सबसे प्रमुख एवं मूल प्रमाणवार्त्तिक है तथा शेष ग्रन्थ इसके छः पाद है ।[39]

प्रमाणवार्त्तिक में बौद्धन्याय के समस्त विषयों का विस्तृत विवेचन मिलता है । यह प्रमाणसमुच्चय के वार्त्तिक के रूप में प्रसिद्ध है । राहुल सांकृत्यायन प्रमाणवार्त्तिक में ही प्रमाणसमुच्चय की व्याख्या का सम्पूर्ण समावेश स्वीकार कर लेते हैं ।[40] प्रमाणशास्त्र के रूप में यह एक गम्भीर ग्रन्थ है, जिसके माध्यम से निर्वाण एवं निर्वाण के मार्ग के स्वयं अधिगम करने के उपायों को विस्तृत रूप से एक विशेष प्रकार की न्यायशैली में वर्णित किया गया है । इसमें बौद्धन्याय का संस्कृत स्वरूप दिग्दर्शित होता है ।

प्रमाणवार्त्तिक में १५९९ कारिकाऐं तथा चार परिच्छेद हैं, जिनमें प्रथम परिच्छेद प्रमाणसिद्धि के नाम से है, द्वितीय परिच्छेद का नाम प्रत्यक्ष है, तृतीय परिच्छेद स्वार्थानुमान है और चतुर्थ परिच्छेद परार्थानुमान के रूप में हैं । वैदिक तार्किकों का मतखण्डन इस ग्रन्थ का उद्देश्य है । कतिपय विद्वानों का विचार है कि यह विज्ञानवाद का प्रतिपादक ग्रन्थ है । ग्रन्थ के अनुशीलन से भी यह प्रतीत होता है कि बौद्ध दर्शन की विविध विचारधाराओं का यह आकर-ग्रन्थ है ।

प्रमाणवार्त्तिक का महत्त्व इससे प्रकट होता है कि इस पर टीका उपटीकाओं की एक लम्बी परम्परा उपलब्ध होती है, जैसे- (१)स्वार्थानुमान परिच्छेद, स्ववृत्ति तथा

---

[39] श्चेरबात्स्की, *बौ.न्या.*, भाग-१, पृ. ३७

[40] राहुल सांकृत्यायन, *दर्शन-दिग्दर्शन*, पृ. ७४८

कर्णगोमिकृत टीका सहित ।[41] (२) प्रमाणवार्त्तिक, मनोरथनन्दिकृतवृत्तिसहित,[42] (३) प्रमाणवार्त्तिक, प्रज्ञाकरगुप्तकृत प्रमाणवार्त्तिकालङ्कारसहित,[43] (४) स्ववृत्ति, स्वार्थानुमान परिच्छेद,[44] (५) स्ववृत्ति, स्वार्थानुमान परिच्छेद (रोमन लिपि, Roma, Is. M.E.O, 1960), स्ववृत्ति, स्वार्थानुमान (कारिका ५१ पर्यन्त; अंग्रेजी अनुवाद नवनालन्दा महाविहार, पटना, १९६४) । इनके अतिरिक्त प्रमाणवार्त्तिक पर देवेन्द्रमति की पञ्जिका, शाक्यमति की टीका 'शङ्करानन्द' औ रविगुप्त की टीकाएँ तिब्बती भाषा में हैं । प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार पर जयनाथ और यमारिकृत टीकाएँ भी तिब्बती में ही उपलब्ध हैं ।[45]

1.1.2.बौद्ध दर्शन का सैद्धान्तिक परिचय-

दार्शनिक पृष्ठभूमि में प्रत्येक दर्शन के अपने सिद्धान्त होते हैं, जिनके आधार पर वह अपने लक्ष्य की सिद्धि करता है । अन्य दार्शनिक संप्रदायों के समान बौद्धदर्शन के भी कुछ विशेष सिद्धान्त हैं । इस दर्शन का प्रत्येक सिद्धान्त अपने अन्दर जीवन की यथार्थता को समेटे हुए है । बौद्ध दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों में- चार आर्यसत्य, क्षणभङ्गवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, अनात्मवाद, अपोहवाद एवं निर्वाण आदि प्रमुख हैं –

1.1.2.1.चार आर्यसत्य- तथागत बुद्ध ने सर्वप्रथम आर्य सत्यों का उपदेश दिया ।[46] उनका कथन था कि संसार में लोग दुःख से संतप्त हैं । समस्त संसार दुःखमय है । इस दुःख का कारण है । इस दुःख का निरोध किया जाना चाहिए और इसके लिए आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग को अपनाना चाहिए । ये आर्य अष्टाङिक मार्ग- सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्म, सम्यक् जीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति एवं

---

[41] किताब महल, प्रयाग, १९४३

[42] बिहार-उड़ीसा रिसर्च जर्नल, पटना, १९३७; बौद्धभारतीप्रकाशन, वाराणसी, १९६८

[43] काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १९५३

[44] काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, १९५९

[45] *न्या.बि.टी.*,(*न्यायबिन्दुसहित*), विषय-प्रवेश, पृ. ७-८

[46] *स. द. सं.*, माधवाचार्य, पृ. ८९

सम्यक् समाधि हैं । इस प्रकार बौद्ध दर्शन में दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध और दुःख निरोधगामिनि प्रतिपदा अथवा अष्टाङ्गिक मार्ग ये चार आर्यसत्य हैं । इस दुःख का निरोध करना ही बौद्ध दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है । अतः अष्टाङ्गिक मार्ग को अपनाकर व्यक्ति तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर दुःखों से निवृत्त हो जाता है ।

निर्वाण की प्राप्ति के लिए बौद्ध दर्शन में ध्यान का ऐसा स्वरूप दिखाई देता है, जिसमें न भोग की पराकाष्ठा है और न ही तप की पराकाष्ठा है, जिसे मध्यममार्ग कहा जाता है । बुद्धोपदिष्ट साधना में तप की पराकाष्ठा गर्हित समझी गयी है । उनका मानना है कि अधिक शारीरिक या मानसिक कष्ट सहन करना उचित नहीं है । इसी प्रकार बुद्ध ने मनुष्य का सांसारिक भोगों में अधिक लिप्त रहना भी निन्दनीय कहा है । बौद्ध धर्म में निराशावाद का अधिक प्राख्यान है । बौद्ध मतावलम्बी साधक जीवन निराशामय एवं दुःख बहुल समझते है । अतएव इसमें इस दुःख से मुक्ति पाने के लिए साधनामार्ग बताये गये हैं । इन साधनामार्गों में आर्य अष्टाङ्ग मार्गों का उल्लेख किया है, जिनके द्वारा साधक निर्वाण अथवा परम् सुख को प्राप्त कर सकता है । इन आर्य अष्टाङ्गिक मार्गों में सर्वप्रमुख सम्यक् समाधि मार्ग है ।

समाधि शब्द का अर्थ है सभी मानसिक वृत्तियों का समीकरण । इसमें चित्त की एकाग्रता एवं चित्तवृत्ति निरोध दोनों ही एक साथ पाये जाते हैं । समाधि की चार अवस्थाएं बौद्ध दर्शन में बतायी गयी हैं –

१).पहली अवस्था में साधक तर्कवितर्क के आधार पर आर्यज्ञान को स्थिर कर शान्तचित्त हो जाता है । यह प्रथम ध्यान है ।

२).दूसरी अवस्था में सभी तर्कवितर्कों, शंकासन्देहों के नष्ट हो जाने पर चित्त की स्थिरता की प्राप्ति, जिसके कारण शान्ति का अनुभव होता है । यह द्वितीय ध्यान है ।

३).तृतीय चरण में साधक आनन्द का अनुभव करता है । यह तृतीय ध्यान है ।

४).अन्त में सुख-दुःख विहीन होकर वह उपेक्षाभाव को प्राप्त करता है । यह चतुर्थ ध्यान है । यह अन्तिम अवस्था निर्वाण की अवस्था है । यह अवस्था सुख-दुःख से परे है, जो कि परमशान्ति की स्थिति है ।[47]

1.1.2.2.**क्षणभङ्गवाद-** बौद्ध दर्शन में वस्तु की क्षणिकता को स्वीकार किया गया है । 'सर्वमनित्यम्' बौद्ध दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है । बौद्ध दर्शन के अनुसार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान ये सभी अनित्य हैं ।[48] इसी अनित्यवाद को बौद्ध नैयायिकों ने क्षणभङ्गवाद या क्षणिकता का नाम दिया । बौद्ध मतानुसार जो वस्तु का स्वभाव है वह उसके उत्पन्न होने के दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाता है, यही क्षणिक कहलाता है ।[49] यह अनित्यवाद या क्षणिकवाद शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का मध्य मार्ग है । 'प्रत्येक वस्तु सत् है', यह एक ऐकान्तिक मत है । 'प्रत्येक वस्तु असत् है', यह दूसरा ऐकान्तिक मत है । इन दोनों मतो को छोड़कर बुद्ध ने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया है । इस मध्यम मार्ग से अभिप्राय है कि जीवन परिवर्तनशील है, इस परिवर्तनशीलता में सत् और असत् का समन्वय है ।

1.1.2.3.**प्रतीत्यसमुत्पादवाद-** कारणों के होने पर कार्यों की उत्पत्ति अर्थात् सापेक्ष कारणतावाद प्रतीत्यसमुत्पाद कहलाता है । प्रत्यय शब्द बौद्ध दर्शन में कारणसमुदाय अर्थ को प्रकट करता है, अर्थात् हेतुओं का समुदाय ही प्रत्यय है ।[50] वसुबन्धु ने प्रत्यय के विषय में कहा है कि- इस वस्तु के होने पर यह होता है, इस प्रकार का कार्यकारणभाव ही प्रतीत्य-समुत्पाद है ।[51] बौद्ध दर्शन में इसे द्वादशचक्र के रूप में प्रदर्शित किया गया

---

[47] दलाई लामा, *बौद्ध सिद्धान्त सार*, पृ. ५१-५६ (सम्पा.-रामशङ्कर त्रिपाठी, के.उ.ति.शि.सं., सारनाथ, वाराणसी, १९९७)

[48] राहुल सांकृत्यायन, *बौद्ध दर्शन,* पृ. ३२

[49] उत्पादनान्तरास्थायि स्वरूपं यच्च वस्तुनः । तदुच्यते क्षणः सोऽस्ति यस्य तत्क्षणिकं मतम् ।- *तत्त्व.सं.,* का. ३८८

[50] प्रत्ययो हेतुनां समवायः।- *भामती*, पृ. ५२६

[51] अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादयमुत्पद्यते इति इदं प्रत्ययार्थः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः।– *अभिधमकोश*, ३।१८ (बौद्धभारती, वाराणसी, १९८१)

है । प्रतीत्यसमुत्पाद भगवान् बुद्ध की समस्त शिक्षाओं का केन्द्र–बिन्दु है अर्थात् बौद्ध दर्शन का सार है । नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद को ही शून्यता का सिद्धान्त कहा है, यही 'मध्यम प्रतिपदा' है ।[52] बौद्ध दर्शन का कार्यकारणभाव, कार्य का विच्छिन्न प्रवाह, क्षणिकवाद और शून्यवाद आदि इसी में समाहित हैं । इस संसार में यही प्रतीत्यसमुत्पाद का नियम कार्य कर रहा है । जड़ और चेतन की उत्पत्ति और विनाश का प्रदर्शक भी यही है । चार आर्यसत्य, अनित्यता, दुःखता, अनात्मता, क्षणभङ्गवाद आदि बौद्धों के प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धान्त इसी प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रतिफलन हैं ।

1.1.2.4.**अनात्मवाद-** बौद्ध दर्शन में आत्मा नामक तत्त्व का निषेध किया गया है, इसे ही अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद कहा जाता है । बौद्धों के मतानुसार रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार- इन पाँचों स्कन्धों से पृथक् आत्मा नाम की कोई सत्ता नहीं है ।[53] इस प्रकार बौद्ध दर्शन में आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं, यही उनका अनात्मवाद है । किन्तु इस विषय में बौद्ध सम्प्रदायों में कुछ मतभेद रहे हैं । विज्ञानवादियों ने विज्ञान को आत्मा के रूप में माना है । कुछ के मत में बुद्ध से यह पूछे जाने पर कि आत्मा है अथवा नहीं, उन्होनें दोनों ही विकल्पों को अस्वीकार कर दिया ।[54] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बुद्ध ने अनेक प्रकार के प्रचलित आत्मवाद का खण्डन किया जो कि वस्तुतः विषयात्मवाद अथवा मूल अविद्या का निराकरण है ।

1.1.2.5.**आलयविज्ञान-** वैभाषिक और सौत्रान्तिक किसी भी तरह आलय विज्ञान की सत्ता स्वीकार नहीं करते । आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान विज्ञानवादियों का एक विशिष्ट सिद्धान्त है । आलय विज्ञान वह तत्त्व है जिसमें जगत् के समग्र धर्मों के

---

[52] यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे ।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा ॥- *म.शा.*, २४.८

[53] यथोक्तं भगवता ये केचिद् भिक्षवः श्रमणा वा ब्राह्मणा वा आत्मेति समनुपश्यन्तः समनुपश्यन्ति इमानेते पञ्चोपादानस्कन्धानिति ।- *बोधिचर्यावतारपञ्जिका*, पृ. ४८८

[54] *संयुक्तनिकाय*, (पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, *बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास*, पृ. १०५ पर उद्धृत)

बीज निहित रहते हैं, उत्पन्न होते हैं तथा पुनः विलीन हो जाते हैं । इसी को आधुनिक मनोविज्ञान में subconscious mind कहते हैं ।[55]

विज्ञानवाद को दो भागों में बांटा गया है- आगमानुयायी और युक्तानुयायी । आर्य असंग, वसुबन्धु आदि आगमानुयायी हैं तथा दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि युक्तानुयायी विज्ञानवादी हैं । विभिन्न वासनाओं के आश्रय के बारे में विज्ञानवादियों के दो प्रकार के मत हैं- आगमानुयायी विज्ञानवादी कहते हैं कि उन वासनाओं का आश्रय आलयविज्ञान होता है, जबकि युक्तानुयायी आलयविज्ञान का खण्डन करते हैं और वासनाओं का आश्रय मनोविज्ञान को मानते हैं ।

आगमानुयायी विज्ञानों की संख्या आठ मानते हैं- चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान, मनोविज्ञान, आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान । जबकि युक्तानुयायी आलयविज्ञान और क्लिष्ट मनोविज्ञान को छोड़कर शेष छः विज्ञान मानते हैं । इस प्रकार आगमानुयायी विज्ञानवादी आलय विज्ञान पर ही अपना दर्शन स्थापित करते हैं । युक्तानुयायी विज्ञानवादी आलय विज्ञान को नहीं मानते अतः क्लिष्ट मनोविज्ञान को भी नहीं मानते ।[56]

1.1.2.6.**अपोहवाद-** अपोह का सिद्धान्त बौद्ध न्याय का अपना एक नवीन दृष्टिकोण है, जिसका प्रारम्भ बौद्धनैयायिक दिङ्नाग से माना जाता है तथा इसके बाद धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्त्तिक में उसका विस्तार किया ।[57] अपोह शब्द का अर्थ 'तद्भिन्नभिन्नत्व' है अर्थात् वस्तु से भिन्न से भिन्न अर्थात् अलग करना, सदृश वस्तुओं के समूह से विसदृश वस्तु का पृथक् व्यवस्थापन अपोहवाद है । बौद्ध दर्शन में समानता की प्रतीति किसी भाव रूप सामान्य के कारण नहीं होती, अपितु अभाव रूप अर्थात् निषेधात्मक

[55] उपाध्याय, बलदेव, *बौद्ध दर्शन मीमांसा*, पृ. २१५
[56] त्रिपाठी, रामशङ्कर, *बौ.द.प्र.*, पृ. १२४
[57] *अपोहसिद्धि*, पृ. Xii (गोविन्दचन्द्र पाण्डेयकृत हिन्दी व्याख्या, के.उ.ति.शि.सं., सारनाथ, वाराणसी, १९९५)

समानता के कारण होती है ।[58] बौद्धों ने शब्द के अर्थ के निर्धारण के लिए अन्य दार्शनिकों से भिन्न अपना एक अलग सिद्धान्त स्थापित किया, इसे ही अपोह या अन्यापोह कहा जाता है । इसी 'अपोह' की सहायता से बुद्धि निर्विकल्प संवेदनों के माध्यम से एक वास्तविक जगत् की भ्रान्ति को जन्म देती है ।

1.1.2.7.**निर्वाण-** दुःख निरोध ही बौद्ध दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है । जिस दशा में दुःख की निवृत्ति होती है उसे विभिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया गया है । कोई उसे मुक्ति या मोक्ष कहता है, कोई कैवल्य, कोई परागति तो कोई निर्वाण । बौद्धों ने इस परमगति के लिए निर्वाण शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है- बुझना । निर्वाण बौद्ध दर्शन में समाधि की अन्तिम अवस्था है । यह अवस्था सुख-दुःख से परे है । बौद्ध धर्म का ध्येय दुःखों की सदा के लिए शान्ति है । इसी अवस्था को यहा निर्वाण कहा गया है और बुद्ध के अनुसार यह निर्वाण ही परम सुख है । इसी निर्वाण को बौद्ध दर्शन में योगक्षेम भी कहा जाता है ।[59]

1.2.**वैशेषिक दर्शन:**

वैदिक काल से ही भारतीय चिन्तन में दार्शनिक विचार की दो धाराएँ प्रवाहित होती रही हैं, जिन्हें 'द्वैत' तथा 'अद्वैत' कहा जा सकता है । प्रस्तुत वैशेषिक दर्शन द्वैत धारा का ही एक अङ्ग है । यद्यपि इस दर्शन का या समस्त द्वैत दर्शन का पर्यवसान अद्वैत प्रवाह में ही है तथाऽपि उपदिश्यमान व्यक्तियों को दृष्टि में रखकर ही महर्षियों द्वारा इन द्वैतवादी सम्प्रदायों का प्रतिष्ठापन किया गया है । इसीलिए पद्मपुराण की निम्न उक्ति के अनुसार महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन का प्रतिष्ठापन किया है-

"कणादेन तु संप्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्" ।[60]

---

[58] श्चेरबात्स्की, *बौ. न्या.*, भाग-१, पृ. ५५५

[59] ते झायिनो साततिका, निच्चं दल्हपरक्कमा । फुसन्ति धीरा निब्बानं, योगक्खेमं अनुत्तरं ॥- *ध. प. गा.,* २३

[60] *पद्मपुराण*, उत्तर खण्ड, अध्याय- २६३

भारतीय दर्शन-परम्परा में वैशेषिक दर्शन का अन्यतम स्थान है । वैशेषिक दर्शन वेदों पर आस्था रखते हुए भी स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ तथा इसने दृश्यमान जगत् से परे आध्यात्मिक गुत्थियाँ सुलझाने की अपेक्षा इसी परिदृश्यमान जगत् को वास्तविक मानकर उसकी व्याख्या करना ही श्रेयस्कर समझा । वैशेषिक दर्शन सामान्य जन के अनुभव पर आधारित दर्शन है जबकि अन्य दर्शनों में दर्शन को सामान्य जन से जोड़ने का कोई प्रयास नहीं किया गया । वे सभी दर्शन मुमुक्षु अथवा तत्त्वज्ञानी को अपने शास्त्र का अधिकारी बताते हैं ।[61]

यद्यपि दर्शन अनेक हैं, तथापि वैशेषिक दर्शन लोकानुभव से सिद्ध वस्तु का यथार्थ विश्लेषण कर मोक्ष का उपदेशक होने से अधिक आकर्षक है, क्योंकि यदि यह दर्शन अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता तो इसके खण्डन में अन्य दार्शनिक अपनी पूरी शक्ति नहीं लगाते । इस प्रसङ्ग में महाकवि श्री हर्ष की निम्न पंक्तियाँ स्मरणीय हैं-

"यः स्पर्धया येन निजप्रतिष्ठां, लिप्सुः स एवाह तदुन्नतत्वम् ।
कः स्पर्धितुः स्वाभिहितस्वहाने, स्थानेऽवहेलां बहुलां न कुर्यात्" ॥[62]

अन्य दर्शन जहाँ कल्पनापरक हैं, वहीं न्याय-वैशेषिक दर्शन शुद्ध विश्लेषणात्मक है । यहाँ प्रत्येक निष्कर्ष तार्किक परीक्षण तथा विश्लेषणात्मक विधि के प्रयोग पर निर्भर करता है । अन्तर्जगत् में जीवात्मा और बाह्य जगत् में प्रकृति का सन्तुलित चिन्तन, दृढ़ विश्वास और तर्क के सहारे अभिव्यक्त करते हैं ।[63] वैशेषिक दर्शन उन पदार्थों का विवेचन करता है, जिनके मध्य जीवन पनपता और फलता-फूलता है । उस समस्त अर्थ-तत्त्व को छः वर्गों में विभाजित कर उन्हीं का मुख्यरूप से उपपादन करता है ।[64] मुख्य विषय अधिभूत तत्त्व हैं, जिनको मानव अपने चारों ओर फैला हुआ पाता है ।

---

[61] कुमार, शशिप्रभा, *वै. द. प. नि.*, पुरोवाक्, पृ. Viii (प्रकाशन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९९२)

[62] *नैषध.*, १०।५०

[63] मिश्र, जगदीशचन्द्र, *भारतीय दर्शन*, पृ. ३४१

[64] शास्त्री, उदयवीर, *वै. द.*, भूमिका, पृ. ६ (विद्योदयभाष्यसहित, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, २००६)

यह वैशेषिक दर्शन उस विपर्यस्त पुरुष के उद्धार के लिए बनाया गया है, जो इस जगत् से सहसा विरक्त नहीं हो पाता । इस दर्शन के अनुसार सांसारिक द्रव्य, गुण आदि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से ही मनुष्य मुक्त होकर कृतकृत्य हो सकता है । इसलिए यदि मनुष्य हठात् वैराग्य में प्रवृत्त नहीं होता है तो कोई बात नहीं, किन्तु यदि उसे सांसारिक वस्तुओं का स्वरूप समझा दिया जाये तो उसके लिए उनसे विरत होना अत्यन्त साधारण कार्य है ।[65]

1.2.1.वैशेषिक नामकरण-

वैशेषिक के नामकरण के विषय में अनेक उक्तियाँ प्रचलित हैं । जैसे-

- इस शास्त्र द्वारा विवेचित पदार्थों में पंचम पदार्थ 'विशेष' की अतिरिक्त कल्पना के आधार पर ही इसका वैशेषिक नाम पड़ा ।
- प्रस्तुत शास्त्र के प्रणेता कणाद के विशिष्ट उपदेष्टा होने के कारण अथवा अन्य न्याय, सांख्य आदि दर्शनों की तुलना में द्रव्यादि पदार्थों के उपपादन में उत्कर्ष एवं विशेष होने के कारण इस शास्त्र का वैशेषिक नाम है ।
- वैशेषिक नाम के मूलभूत 'विशेष' पद का अर्थ- तत्त्वनिश्चयपूर्वक व्यवहार करना है । इस शास्त्र में ऐसा किया गया है, इसलिए इसका वैशेषिक नाम पड़ा ।
- पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य पूर्वक तत्त्वज्ञान के कारण इसे वैशेषिक कहा गया ।[66]

किन्तु विद्वानों ने उपर्युक्त नामकरण के आधारों को केवल कल्पना ही माना है । वास्तविक आधार कुछ और है, जिसका अन्वेषण इस रूप में किया जा सकता है-

कणाद ने जगत् के मूल उपादान कारण पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं को माना है । इनका अन्य नाम 'सूक्ष्मभू' है । इन्हीं से आगे पृथ्वी आदि स्थूल भूतों की

---

[65] मिश्र, श्रीनारायण, *वै.द.ए.अ.*, पृ. ३ (चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६८)
[66] शास्त्री, उदयवीर, *वै.द.*, पृ. ७

उत्पत्ति होती है । कणाद ने पृथिव्यादि के परमाणुओं को नित्य कहा है । यह स्थूल जगत् जिस रूप में हमे दीखता है, कणाद ने उसी के अनुसार इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया है । इसलिए कणाद ने जिन परम सूक्ष्म पृथिव्यादि भूत तत्त्वों को जगत् का मूल उपादान माना है, उनका नाम भारतीय दर्शन शास्त्र में 'विशेष' है, इसी आधार पर इस शास्त्र का वैशेषिक नाम है । 'विशेष' नामक पदार्थ को मूल मानकर प्रवृत्त हुए शास्त्र का वैशेषिक नाम सर्वथा उपयुक्त है ।[67]

1.2.2.**वैशेषिक दर्शन का ऐतिहासिक परिचय-**

वैशेषिक दर्शन का क्रमबद्ध रूप वैदिकोत्तर युग में सम्पन्न हुआ । इस सम्प्रदाय का सर्वप्रथम उल्लेख बौद्ध-साहित्य के 'मिलिन्द-पण्ह' में मिलता है ।[68] वैशेषिक तथा बौद्ध ही ऐसे भारतीय सम्प्रदाय हैं जिनका उल्लेख चीन की प्राचीन परम्परा में मिलता है । अतः इस सम्प्रदाय की प्राचीनता असन्दिग्ध है ।[69] वैशेषिक के ऐतिहासिक विश्लेषण के लिए न्याय-वैशेषिक पर समन्वित दृष्टि से विचार करना समीचीन होगा क्योंकि दर्शन जगत् में ये दोनों दर्शन समानतन्त्री कहे जाते हैं, इसलिए सर्वथा पृथक् मानकर किया गया ऐतिहासिक विवेचन एकांगी ही होगा । दोनों दर्शनों के सूत्र-ग्रन्थ ही इन सम्प्रदायों के प्राचीनतम ग्रन्थ है, इसलिए विद्वानों ने उन्हीं के आधार पर काल निर्धारण का प्रयत्न किया है-

बोडास ने न्याय-वैशेषिक के इतिहास को तीन कालों में विभक्त किया है । प्रथम काल ४००ई.पू. से ईसा की पांचवीं शताब्दी तक है, जिसमें उन्होनें प्रतिनिधि रूप में दोनों सम्प्रदायों के सूत्रों को ही माना है तथा वैशेषिक सूत्र पर लिखे गये प्रशस्तपादभाष्य को भी इसी काल में परिगणित किया है । द्वितीय काल ५०० ई. से १३०० ई. तक का है, जिसको भाष्यकाल कहा जा सकता है क्योंकि इसमें सूत्रों पर लिखे जाने वाले भाष्यों

---

[67] शास्त्री, उदयवीर, *वै.द.*, पृ. ८-९

[68] Randle, Herbert Niel, *ILES*, p. 12 (Oriental Books Reprint Corporation, the University of Michigan, 1930)

[69] मिश्र, श्रीनारायण, *वै.द.ए.अ.*, पृ. १०

की एक लम्बी परम्परा है । तृतीयकाल १३०० ई. से १९०० ई. तक को स्वतन्त्र ग्रन्थ रचना काल कहा जा सकता है, जिसमें अन्ततः दोनों सम्प्रदायों की समन्वयवादी विचारधारा के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं, जैसे- तर्कभाषा, तर्कसंग्रह आदि । इस प्रकार बोडास के अनुसार प्रथम काल सूत्रों में सिद्धान्त निर्माण का था, द्वितीय काल में भाष्यकारों द्वारा उन सिद्धान्तों की व्याख्या की गई तथा तृतीय काल में स्वतन्त्र ग्रन्थ कर्त्ताओं ने उन सिद्धान्तों को व्यवस्थित करने का कार्य किया है ।[70]

सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने न्याय-वैशेषिक के इतिहास को प्रकारान्तर से तीन कालों में विभक्त किया है- (१)प्राचीन काल, (२)मध्य काल, (३)अर्वाचीन काल । उनका विचार है कि प्राचीन काल में हिन्दू न्याय का समावेश होता है, अतः प्राचीन कहने पर भी वे इसमें चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के ग्रन्थकारों को भी ले लेते हैं । मध्यकाल से उनका अभिप्राय बौद्ध एवं जैन न्याय से है, अतः इसमें भी एक ओर तो प्रथम शताब्दी के जैन लेखक, यथा- उमास्वाति तथा दूसरी ओर चतुर्थ या पंचम शताब्दी के बौद्ध दार्शनिक असंग एवं वसुबन्धु का समावेश हुआ है । अर्वाचीन काल का आरम्भ उन्होनें ११ वीं शताब्दी से माना है, अतः इसमें न्यायसार, न्यायलीलावती, तर्कभाषा, तर्कसंग्रह आदि प्रकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त गंगेशोपाध्याय द्वारा प्रवर्तित नव्यन्याय सम्प्रदाय के सभी ग्रन्थ आ जाते हैं ।[71]

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने भी न्याय-वैशेषिक के इतिहास को तीन कालों में विभक्त किया है । प्रस्तुत वर्गीकरण का केन्द्रबिन्दु बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग है, जैसे- (१) उत्पत्ति काल अथवा पूर्व दिङ्नाग काल, (२) विकासकाल अथवा दिङ्नाग सम्प्रदाय से संघर्ष काल, (३) ह्रासकाल अथवा दिङ्नागोत्तर काल ।[72]

---

[70] Bodas, *HSIL*, T.S., p. xviii-xix. (शशिप्रभा कुमार, *वै. द. प. नि.* के पृ. ७-८ पर उद्धृत)

[71] I have made a departure from the time honored classification of Indian Logic into ancient and modern and have added an intermediate stage, thus dividing into three periods, Ancient (650 B.C.-100 A.D.), Medieval (upto 1200 A.D.) and Modern (from 900 A.D.).- vidyabhushan, *HIL*, Intro, p. xiii.

[72] I. The period of origin or the pre-Dignāga period.
II. The period of development or the period of conflict with the Dignāga school.
III. The period of decay or the post-Buddhist period., D.N., Shastri, *CIR*, p. 95.

इनमें से प्रथम काल के अन्तर्गत उन्होनें क्रमशः कणाद का वैशेषिक सूत्र, गौतम का न्यायसूत्र, वात्स्यायन का न्यायभाष्य एवं प्रशस्तपाद के प्रशस्तपादभाष्य को रखा है। द्वितीय काल में उन्होनें उद्योतकराचार्य, वाचस्पति मिश्र, जयन्तभट्ट, भासर्वज्ञ, शिवादित्य, व्योमशिवाचार्य, श्रीधराचार्य एवं उदयनाचार्य को रखा है। तृतीय काल में वरदराज, वल्लभाचार्य एवं शशधर के अतिरिक्त गंगेशोपाध्याय तथा उनके अनुयायी एवं स्वतन्त्र प्रकरण ग्रन्थों के आचार्यों को रखा है।[73]

उपर्युक्त तीनों विद्वानों (बोडास, सतीशचन्द्र विद्याभूषण एवं धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री) के काल निर्धारण पर विचार करने पर यह विदित होता है- बोडास के द्वारा किये गये काल निर्धारण में दोष दृष्टिगत होता है, जैसे- एक काल में रखे गये ग्रन्थ दूसरे काल में भी रचे गये हैं। यथा- तार्किकरक्षा(वरदराज), सप्तपदार्थी(शिवादित्य) आदि ग्रन्थ १४वीं शताब्दी से पूर्व रचे गये हैं जबकि शङ्कर मिश्र की उपस्कार व्याख्या एवं विश्वनाथ की न्यायसूत्र-वृत्ति १४वीं शताब्दी के भी बाद की रचनाएँ हैं।[74] सतीशचन्द्र विद्याभूषण के अनुसार किये गये काल निर्धारण में भी बोडास के वर्गीकरण के दोष के साथ ही इसका क्रमिक विकास से कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। अन्त में धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के द्वारा किया गया वर्गीकरण स्पष्टतः निर्दोष वर्गीकरण है क्योंकि यह ग्रन्थों के आकार या शैली पर आधारित नहीं, अपितु सिद्धान्तों के आन्तरिक विकास-क्रम पर आधारित है।[75]

अतः वैशेषिक दर्शन के इतिहास का आरम्भ महर्षि कणाद के वैशेषिक सूत्र से माना जाता है, जिसका समय ५०० ई.पू. अनुमानित किया गया है तथा जो दार्शनिक सूत्रग्रन्थों में प्राचीनतम है। इस प्रकार वैशेषिक परम्परा का विकास पिछले ढाई हजार वर्षों की लम्बी अवधि में प्रथित है। इस सुदीर्घ विकास-क्रम में अनेकानेक ग्रन्थों रत्नों ने इस दर्शन की मान्यताओं को आगे बढ़ाया है किन्तु वैशेषिक सूत्र ही इस दर्शन की

[73] D.N., Shastri, *CIR*, p. 95
[74] कुमार, शशिप्रभा, *वै.द.प.नि.*, पृ. ८
[75] वही, पृ. ९

प्राचीनतम एवं मूल रचना है ।[76] वैशेषिक दर्शन की इस क्रमिक ग्रन्थ-परम्परा का परिचय इस प्रकार है-

1.2.2.1.कणाद एवं उनका वैशेषिकसूत्र-

वैशेषिक सूत्र वैशेषिक दर्शन का आधार ग्रन्थ माना जाता है । वैशेषिक सूत्र का समय लगभग ६०० ई. पू. माना जाता है । कणाद के बाद और प्रशस्तपाद के पदार्थधर्मसङ्ग्रह से पूर्व वैशेषिक दर्शन की परम्परा के लुप्तप्राय हो जाने के कारण वैशेषिक सूत्रों का स्वरूप वस्तुतः विरूप हो गया है । भिन्न-भिन्न व्याख्याओं तथा अन्याय ग्रन्थों से उद्धृत वैशेषिक सूत्रों के स्वरूप में पर्याप्त असामञ्जस्य है ।[77] मिथिला विद्यापीठ से प्रकाशित संस्करण की भूमिका में तथा बडौदा से प्रकाशित संस्करण की प्रस्तावना एवं उसके कुछ परिशिष्टों में सूत्रपाठ की तारतम्यता का निर्देश किया गया है, जो अत्यन्त उपयोगी है ।

जिस प्रकार स्वरूप में वैमत्य है उसी प्रकार संख्या में भी सम्प्रतिपत्ति नहीं है । साधारणतः शङ्करमिश्र के 'उपस्कार' के साथ प्रकाशित वैशेषिकसूत्र की ही अधिक प्रसिद्धि है । इसमें समस्त सूत्र-पाठ को दस अध्यायों तथा प्रत्येक अध्याय को दो-दो आह्निकों में विभक्त किया गया है । इस संस्करण की संकलित सूत्र संख्या ३७० है ।[78] मिथिला विद्यापीठ से १९५७ में प्रकाशित वैशेषिक सूत्र में केवल नवम अध्याय के प्रथम आह्निक तक का अंश ही उपलब्ध होता है, जिसमें ३२४ सूत्र हैं । बड़ौदा से १९६१ ई. में चन्द्रानन्द वृत्ति के साथ प्रकाशित संस्करण में ३८४ सूत्र मिलते हैं तथा इस संस्करण की एक विशेषता यह भी है कि इसमें अष्टम, नवम एवं दशम अध्यायों का अन्य अध्यायों की तरह दो-दो आह्निकों में विभाजन नहीं है ।[79]

---

[76] कुमार, शशिप्रभा, वै.द.परि., पृ. ९८(विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, २०१०)

[77] मिश्र, श्रीनारायण, *वै.द.ए.अ.*, पृ. ११

[78] वही

[79] वही

वैशेषिक सूत्र की अनेक व्याखाएँ भी हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं-

(क)वाक्य

(ख)श्रायस्क कृत व्याख्या

(ग)रावण-भाष्य

(घ)कटन्दी

(ङ)आत्रेय-भाष्य

(च)भाष्य

(छ)वृत्ति

(ज)भारद्वाज-वृत्ति

(झ)चन्द्रानन्द-वृत्ति

(ञ)कणाद-सूत्र निबन्ध

(ट)मिथिला-विद्यापीठ वृत्ति या व्याख्या

(ठ)उपस्कार

(ड)प्रशस्तपाद-भाष्य[80]

उपर्युक्त व्याख्याओं में प्रशस्तपाद की प्रशस्तपाद भाष्य नामक व्याख्या वैशेषिक दर्शन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है तथा प्रस्तुत शोध की दृष्टि से भी इसी का महत्त्व है क्योंकि न्यायकन्दली प्रशस्तपादभाष्य की ही टीका है । अतः यहाँ पर उपर्युक्त व्याख्याओं में से इसी का परिचय कहा जा रहा है-

[80] मिश्र, श्रीनारायण, वै.द.ए.अ., पृ. ११-१९

1.2.2.2.**प्रशस्तपादभाष्य-**

प्रशस्तपादभाष्य को पदार्थधर्मसंग्रह भी कहा जाता है तथा प्रशस्तपाद को पदार्थधर्मसंग्रह के रचियता के रूप में जाना जाता है । प्रशस्तपादभाष्य का समय लगभग ६०० ई. माना जाता है । न्यायदर्शन के लिए वात्स्यायन का जो महत्त्व है, वैशेषिक दर्शन के लिए प्रशस्तपाद का महत्त्व कहीं उससे भी अधिक है , क्योंकि वात्स्यायन केवल न्यायसूत्रों के प्रथम व्याख्याता के रूप में ही प्रसिद्ध हैं जबकि प्रशस्तपाद वैशेषिक दर्शन के ऐसे संशोधक हैं, जिनके बाद कणाद का महत्त्व ही कम हो गया । वैशेषिक के समस्त प्रतिपाद्य विषयों को मस्तिष्कगत कर ग्रन्थकार ने स्वतन्त्र रचना के रूप में उन सब विषयों को ऐसी पद्धति में प्रस्तुत किया जो अध्ययनार्थी के लिए अत्यन्त सुविधाजनक हो गया । प्रशस्तपाद का पदार्थधर्मसंग्रह असन्दिग्ध रूप से वैशेषिक दर्शन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, इसका वर्णन निम्न है-

(क).कणाद ने केवल १७ गुण बतलाये हैं, परन्तु प्रशस्तपाद ने पदार्थधर्मसंग्रह में अतिरिक्त ७ गुणों की कल्पना कर गुणों की संख्या को २४ कर दिया है ।

(ख).परमाणुओं से सृष्टि प्रक्रिया का विशद वर्णन संग्रह में ही पाया जाता है ।क्

(ग).द्वयणुक, त्र्यणुक आदि की व्याख्या वैशेषिक सूत्रों में न होकर भाष्य में ही है । अतः इसे भी पदार्थधर्मसंग्रह का अवदान माना जाता है ।

(घ).शब्द श्रवण की प्रक्रिया का विशेष विवेचन पदार्थधर्मसंग्रह का ही अवदान है । फलतः वैशेषिक दर्शन के अनेक सामान्य सिद्धान्तों की उद्भावना का गौरव पदार्थधर्मसंग्रह के प्रतिष्ठाता प्रशस्तपाद को दिया जाना उचित ही है ।

1.2.2.2.1.प्रशस्तपादभाष्य की व्याखाएँ-

प्रशस्तपादभाष्य पर अनेक व्याख्या ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें से उपलब्ध एवं प्रसिद्ध व्याख्याएँ इस प्रकार हैं-

व्याख्या	**व्याख्याकार**
१व्योमवती	व्योमशिवाचार्य
२किरणावली	उदयनाचार्य
३न्यायकन्दली	श्रीधराचार्य

कुछ संभावित व्याख्याएँ भी हैं, जिनमें से कुछ उपलब्ध हैं और कुछ अनुपलब्ध-

व्याख्या	**व्याख्याकार**
नाम अज्ञात	शालिकनाथ
पदार्थप्रवेशनिर्णय	अभिनवगुप्त
कणादरहस्य	शङ्कर मिश्र
भाष्यनिकष	मल्लिनाथ
सेतु	पद्मनाभ मिश्र
सूक्ति	जगदीश तर्कालंकार
न्यायलीलावती	श्रीवत्स[81]

1.2.2.3.श्रीधराचार्य एवं न्यायकन्दली टीका-

श्रीधराचार्य वैशेषिक दर्शन की आचार्य परम्परा में विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनका जन्म राढ़ देश के दक्षिण भाग में भूरिसृष्टि नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम बलदेव और माता का नाम अब्बोका था।[82]

प्रशस्तपादभाष्य पर न्यायकन्दली टीका का प्रणयन श्रीधराचार्य ने ९१३ शक संवत् (९९१ ई.) में श्री पाण्डुदास कायस्थ की परार्थना से प्रेरित होकर किया था।[83] इसी के आधार पर श्रीधराचार्य के जन्म का समय दसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

---

[81] शास्त्री, उदयवीर, *वै.द.*, पृ. १७-१८

[82] *न्या.क.*, पृ. ७८७-७८८

[83] त्र्यधिकदशोत्तरनवशतशाकाब्दे न्यायकन्दली रचिता।
श्रीपाण्डुदासयाचितभट्टश्रीश्रीधरेणेयम्॥- वही, पृ. ७८८

इस टीका का नाम 'न्यायकन्दली' इसलिए है क्योंकि इसमें कथित न्याय अपने सिद्धान्तों की पूर्ण रक्षा और विरोधी सिद्धान्तों का सम्यक् रूप से दलन करते हैं ।[84] श्रीधराचार्य ने अपनी इस टीका की तुलना सुमेरु के शृङ्गों से करते हुए कहा है कि यह न्यायकन्दली टीका सुमेरु के शृङ्गों की पंक्तियों की तरह मनोरम है, क्योंकि सुमेरु के शृङ्ग भी सुवर्ण से रचित होने के कारण रमणीय हैं और यह टीका भी सुवर्णों अर्थात् सुन्दर अक्षरों के विन्यास से रचित होने के कारण अतिरमणीय है । सुमेरु का शृङ्ग भी जिस प्रकार सभी वस्तुओं की अपेक्षा उत्तर दिशा में रहने के कारण 'सर्वोत्तरस्थित' है उसी प्रकार यह टीका भी अन्य टीकाओं (प्रशस्तपादभाष्य की) से उत्कृष्ट होने के कारण सर्वातिशायिनी है ।[85]

न्यायकन्दली वैशेषिक सिद्धान्तों के लिए एक प्रमाणभूत व्याख्या मानी जाती है । इनके अन्धकार विषयक सिद्धान्त की समीक्षा अनेक विद्वत दार्शनिकों ने की है । न्यायकन्दली अत्यधिक प्रशस्त तथा ग्रन्थाशयाभिव्यञ्जक है । श्रीधराचार्य और उदयनाचार्य ने ही अभाव को सप्तम पदार्थ के रूप में स्वीकार किया, इससे पूर्व वैशेषिक दर्शन षट् पदार्थवादी था । न्यायकन्दली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह सम्पूर्ण भाष्य पर लिखी गयी है और मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद को शब्दशः समझाने में सफल दिखाई देती है । इसके ऊपर राजशेखर की न्यायकन्दली-पञ्जिका और पद्मनाभ मिश्र की न्यायकन्दलीसार व्याख्या प्रसिद्ध है ।[86]

1.2.2.4.**न्याय-वैशेषिक समानतन्त्र-**

भारतीय दर्शन परम्परा में न्याय-वैशेषिक को समानतन्त्र कहा जाता है । दोनों में किसी के पक्ष से चर्चा की जाए तो दूसरे का प्रसङ्ग स्वतः सामने आ जाता है । अतः वैशेषिक

---

[84] अक्षीणनिजपक्षेषु ख्यापयन्ती गुणानसौ ।
परप्रसिद्धसिद्धान्तान् दलति न्यायकन्दली ॥- *न्या. क.,* पृ. ७८७

[85] सुवर्णमयसंस्थानरम्या सर्वोत्तरस्थितिः ।
सुमेरोः श्रृङ्गवीथीव टीकेयं न्यायकन्दली ॥- वही

[86] *प्र. पा. भा.*, प्रस्तावना, पृ. ३१ (दुण्ढिराज शास्त्री कृत हिन्दी व्याख्या, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सं. ४; २००२)

दर्शन पर यदि कोई चर्चा करनी है तो न्यायदर्शन के विचारों से अवश्य अवगत होना पड़ता है । दोनों सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों की स्थापना तो भिन्न-भिन्न धरातलों पर करते हैं किन्तु अपने परम लक्ष्य(मोक्ष) की प्राप्ति के लिए एक ही धरातल पर आकर खड़े हो जाते हैं । ये दोनों शास्त्र मिलकर किसी समान अर्थ का उपपादन करते हैं । अथवा ये शास्त्र अपने विशेष प्रतिपाद्य अर्थ का विवेचन करते हुए एक-दूसरे के पूरक हैं । वैशेषिक जहाँ पदार्थ और उनके धर्मों का उल्लेख, संगणन एवं स्वरूप का विवेचन करता है, वहीं न्याय दर्शन उन पदार्थों व धर्मों के जानने समझने की प्रक्रिया का विस्तृत निरूपण करता है ।[87]

न्याय-वैशेषिक के जगत् सम्बन्धी विचार एक जैसे हैं किन्तु वैशेषिक ने जगत् का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है । वैशेषिक के सिद्धान्तों को न्याय में स्वीकार किया गया है, अतः वैशेषिक को नैयायिक समानतन्त्र मानते हैं ।[88] वैशेषिक विश्व को तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण से देखता है जबकि न्याय उसे प्रमाणमीमांसीय दृष्टिकोण से देखता है । इन दोनों दर्शनों के सिद्धान्त न केवल एक दूसरे की पुष्टि करते हैं अपितु एक दूसरे के पूरक भी हैं ।

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन दोनों ही क्रमशः आन्तरिक तथा बाह्य जगत् की व्याख्या करते हैं । दोनों के उद्देश्य की सिद्धि का साधन तत्त्वज्ञान ही है ।[89] न्याय ज्ञान प्राप्ति की पद्धति की युक्तिसंगत व्याख्या करता है । वैशेषिक भी मुख्य रूप से इन्द्रियसन्निकर्षजन्य ज्ञान अथवा अनुभव का विश्लेषण करता है । दोनों दर्शनों में तत्त्वचिन्तन और तन्त्र की समानता है । दोनों ही अनेक तत्त्ववादी और बाह्यार्थवादी हैं । इसी प्रकार बोडास ने भी न्यायसूत्रों पर आधारित वैशेषिक सूत्रों का उल्लेख किया है ।[90]

---

[87] शास्त्री, उदयवीर, *वै.द.*, पृ. १

[88] दत्त एवं चट्टोपाध्याय, *भारतीय दर्शन,* पृ. १३३

[89] मिश्र, जगदीशचन्द्र, *भारतीय दर्शन*, पृ. ३४६

[90] *त. सं.*, भूमिका,पृ. ३(अथल्ये बोडास सम्पादित, बॉम्बे संस्कृत सीरीज, पूना, संस्करण५; १९६३)

न्याय और वैशेषिक दोनों का चिन्तन समभूमिक है । वात्स्यायन का कथन है कि न्यायदर्शन में मन और इन्द्रिय दूसरे तन्त्र से लिया गया है, यह दूसरा तन्त्र वैशेषिक ही है । इसी प्रकार न्याय ने द्रव्य, गुण, कर्म आदि छः वैशेषिक पदार्थों को प्रमेय के अन्तर्गत स्वीकार किया है ।[91] दोनों तन्त्रों की समरूपता का विश्लेषण करते हुए षड्दर्शनसमुच्चय की टीका तर्करहस्यदीपिका में कहा है कि न्यायवैशेषिक दर्शन के प्रमाण तत्त्वों का परस्पर संख्याभेद होने के बावजूद भी परस्पर एक-दूसरे में अन्तर्भूत होने से बहुत कम भेद है । दोनों के चिन्तन में परस्पर समानता है । दोनों में केवल विवेचन शैली में किञ्चिद् अन्तर होते हुए भी पर्याप्त साम्य है ।

इस प्रकार न्याय तथा वैशेषिक दर्शन अपने उत्पत्ति काल से ही बिना एक दूसरे के बाधक बने समानान्तर गति से विकास कर रहे थे । किन्तु ऐसे समय में जब भारत के सभी दार्शनिक सम्प्रदाय बौद्ध दर्शन तथा आचार्य शङ्कर के उदय के पश्चात् अपने विचारों में गर्भित सिद्धान्तों, जिन पर पहले कोई विशेष चर्चा नहीं हुई थी उन्हें सामने लाने के लिए नवीन युक्तियों का सहारा ले रहे थे तथा नई स्थितियों को प्राप्त कर रहे थे, उसी समय न्याय तथा वैशेषिक सम्प्रदाय भी एक नवीन विकास को प्राप्त हुए । प्रमुख न्याय-वैशेषिक दार्शनिक उदयनाचार्य ने दोनों सम्प्रदायों के विशिष्ट सिद्धान्तों को मिलाकर एक नये सम्प्रदाय न्याय-वैशेषिक की स्थापना की ।

1.2.3.**वैशेषिक दर्शन का सैद्धान्तिक परिचय –**

वैशेषिक दर्शन वस्तुवादी दर्शन है, जो व्यवहारिक जगत् की वस्तुगत सत्ता में विश्वास रखता है । अतः जगत् में अनुभव होने वाली प्रत्येक वस्तु सत् है, यही उसकी आधारभूत स्थापना है । इस स्थापना के अनन्तर वह समग्र संसार को सात वर्गों या श्रेणियों में विभक्त करता है तथा उनको पदार्थ संज्ञा देता है । ये सात वर्ग ही वैशेषिक के सात

---

[91] अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायान्प्रमेयम् ।- *न्या. भा.*, १.१.९

पदार्थ हैं ।[92] इसी कारण यह दर्शन पदार्थशास्त्र या प्रमेय शास्त्र कहलाया । वैशेषिक दर्शन के ये पदार्थ वास्तविक रूप से सत् हैं, केवल विचारों की उपज नहीं ।[93]

वैशेषिक दर्शन के पदार्थों का विश्लेषण एक दार्शनिक उपलब्धि है, क्योंकि इन पदार्थों के अतिरिक्त कोई प्रतिपाद्य शेष नहीं रह जाता अर्थात् इसमें जगत् के सभी अभिधेय तत्त्वों का समावेश हो जाता है । भौतिक एवं आध्यात्मिक, तार्किक एवं मानसिक, चेतन एवं अचेतन, दृश्य एवं अदृश्य सभी तत्त्व इन पदार्थों में ही किसी न किसी रूप से समाहित हैं । यही कारण है कि वैशेषिक का पदार्थ-सिद्धान्त दर्शन के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । जैसा कि पूर्वोक्त है- कणाद का वैशेषिक दर्शन और पाणिनि का व्याकरण शास्त्र अन्य सभी शास्त्रों के अध्ययन में सहायक हैं । पाणिनि का व्याकरण पद ज्ञान का साधन है और वैशेषिक मूलतः पदार्थ-विद्या है जिसके अनुसार ज्ञान के सभी विषय अथवा जगत् की सभी वर्ण्य वस्तुएं 'पदार्थ' कहलाती हैं ।[94]

1.2.3.1.सप्तपदार्थवाद-

व्युत्पत्ति की दृष्टि से पदार्थ का लक्षण- "पदस्य अर्थः इति पदार्थः" होगा । साधारण मतानुसार 'पद' शब्द का पर्याय है तथा 'अर्थ' की व्युत्पत्ति होगी- "ऋच्छन्तीन्द्रियाणि यं सोऽर्थः" अर्थात् कोई भी विषय जो इन्द्रिय ग्राह्य है, वह अर्थ है । अतः ऐसी सभी वस्तुएं जिन्हे कोई नाम दिया जा सके पदार्थ कहलाती हैं । कोश ग्रन्थों में भी 'पदार्थ' का यही तात्पर्य दिया गया है ।[95] प्रशस्तपाद के अनुसार पदार्थ उसे कहते हैं जो अभिधेय हो अर्थात् जिसको नाम दिया जा सके, जो ज्ञेय हो अर्थात् जिसे जाना जा सके और जिसकी सत्ता, अर्थात् अस्तित्व हो । इस प्रकार अस्तित्व, अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व

---

[92] कुमार, शशिप्रभा, *वै. द. प. नि.*, पृ. १७

[93] Bhaduri, *SNVM*, p.3.(Bhandarkar Oriental series, No.5, poona, 1947)

[94] कुमार, शशिप्रभा, *वै.द.प.नि.*, पृ. १७

[95] (क) शब्दाभिधेये द्रव्यादौ – *वाचस्पत्यम्*, ५ भागः, पृ. ४२२५

(ख) पदानां घटपटादीनाम् अर्थोऽभिधेयः । तत्पर्यायः- भावः, धर्मः, तत्त्वं, सत्त्वं, वस्तु इति जटाधरः ।-*श, क. द्रु.*, ३ भागः, पृ. ४०

(ग) *मा. हि. को.*, ३ खण्ड, पृ. ३८६

पदार्थ के सामान्य लक्षण हैं ।[96] शिवादित्य ने ज्ञान के विषय को पदार्थ कहा है[97] अर्थात् शिवादित्य के अनुसार संसार के सभी ज्ञेय तत्त्व पदार्थ कहे जा सकते हैं, चाहे उनकी सत्ता हो या न हो । इसलिए यह कहा जा सकता है कि प्रशस्तपाद के अनुसार केवल भाव जगत् की वस्तुएं ही पदार्थ कही जा सकती हैं, जबकि शिवादित्य के अनुसार अभाव भी पदार्थ के अन्तर्गत आ जाता है ।

कणाद तथा प्रशस्तपाद ने छः ही पदार्थों का निर्देश किया है – द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ।[98] परवर्ती न्याय-वैशेषिक के आचार्यों ने उपपत्ति की दृष्टि से आवश्यक समझकर 'अभाव' की भी स्वतन्त्र पदार्थों में गणना कर ली और तब से ही वैशेषिक दर्शन को सप्तपदार्थवादी कहा जाने लगा ।[99] श्रीधर, उदयन और शिवादित्य ने सर्वप्रथम 'अभाव' नामक सातवें पदार्थ को स्वीकार किया । उदयन और श्रीधर ने द्रव्यादि छः पदार्थों के अतिरिक्त 'अभाव' नामक सप्तम पदार्थ का निरूपण अपने ग्रन्थों में किया है उसका गम्भीर विवेचन शिवादित्य ने 'सप्तपदार्थी' में किया है ।

यद्यपि 'अभाव' का स्पष्ट उल्लेख १०वीं शताब्दी से बाद के ग्रन्थों में ही मिलता है तथापि यह भी नहीं कहा जा सकता कि कणाद को 'अभाव' पदार्थ मान्य नहीं था क्योंकि कणाद के सूत्रों में ही अभाव का निर्देश प्राप्त होता है ।[100] किन्तु सत्तात्मक पदार्थों का वर्गीकरण अभीष्ट होने के कारण उन्होने अभाव को पृथक् पदार्थ न मानकर भाव परतन्त्र ही माना है । इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में 'अभाव' पदार्थ की परिगणना करने पर पदार्थों की संख्या सात स्वीकृत की गयी है[101] जो कि निम्नलिखित हैं -

---

[96] षण्णामपि पदार्थानामस्तित्त्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ४१(न्यायकन्दलीसहित, दुर्गाधरझा कृत हिन्दी व्याख्या, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, २ संस्करण; १९९७)

[97] प्रमितिविषयाः पदार्थाः । – *स. प.*, पृ. २

[98] द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः । *प्र.पा.भा.*, पृ. १५

[99] वही, भूमिका, पृ. ५३

[100] कारणाभावात् कार्याभावः । न तु कार्याभावात् कारणाभावः ।- *वै. सू.*, १.२.१, १.२.२

[101] द्रव्यगुणकर्म-सामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्थाः । *त. सं.*, पृ. ३

1.2.3.1.1.नवद्रव्यवाद-

वैशेषिक दर्शन द्वारा प्रतिपादित पदार्थों में द्रव्य सर्वप्रथम एवं सर्वप्रधान पदार्थ है । श्रीधराचार्य के अनुसार द्रव्य सभी पदार्थों का आश्रयभूत है, इसलिए सर्वप्रथम द्रव्य पर ही विचार किया गया है ।[102] "क्रिया-गुणवत् सवायिकारणम् द्रव्यम्"।[103] अर्थात् जिसमें क्रिया और गुण हो तथा जो समवायि कारण हो, उसे द्रव्य कहते हैं । गुण एवं क्रिया का अस्तित्व बिना किसी आधार के सम्भव नहीं है । रूप, रंग, शब्द आदि गुण तथा चलना-फिरना, देखना, बोलना आदि क्रियाएं निराधार नहीं रह सकती अतएव उनका कोई न कोई आश्रय स्वीकार करना पड़ता है, वह आश्रयभूत पदार्थ ही 'द्रव्य' कहलाता है ।[104] तर्कसंग्रहदीपिका के अनुसार द्रव्यत्व जाति वाला अथवा गुणवाला होना द्रव्य का सामान्य लक्षण है ।[105] लक्षणावली में द्रव्य का लक्षण करते हुए कहा है कि गुणों के अत्यन्ताभाव का अनधिकरण ही 'द्रव्य' कहलाता है ।[106] ये द्रव्य संख्या में नौ हैं- १. पृथ्वी २. जल ३. तेज ४. वायु ५. आकाश ६. काल ७. दिक् ८. आत्मा ९. मन ।[107]

1.2.3.1.2.चतुर्विंशतिगुणवाद-

" द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्"[108]

अर्थात् जो द्रव्य में आश्रित होकर रहते हैं, गुण रहित होते हैं, संयोग-विभाग में कारण नहीं होते एवं निरपेक्ष होते हैं उन्हें गुण कहा जाता है । गुण संख्या में २४ हैं । कणाद ने १.रूप २. रस ३. गन्ध ४. स्पर्श ५. संख्या ६. परिमाण ७.पृथक्त्व ८. संयोग ९.

---

102 आदौ द्रव्यस्योद्देशः सर्वाश्रयत्वेन प्राधान्यत्वात् ।- *न्या. क.*, पृ. १७

103 *वै. सू.*, १.१.१५

104 The colour, the form, the sound and the other qualities that we perceive can not be imagined by us to float as 'homeless attributes of nothing'; we are obliged to refer them to something which holds them and is their abiding ground. This notion of the abiding ground gives us the substance.- Bhaduri, *SNVM*, p. 23

105 द्रव्यत्वजातिमत्त्वं गुणवत्त्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम् ।- *त. सं. दी.*, पृ. १४

106 अत्र गुणात्यन्ताभावानधिकरणं द्रव्यम् ।- *लक्षणा.*, पृ. २

107 पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।- *वै. सू.*, १.१.५

108 वही, १.१.१६

विभाग १०. परत्व ११. अपरत्व १२. बुद्धि १३. सुख १४. दुःख १५. इच्छा १६. द्वेष १७. प्रयत्न- इन सतरह ही गुणों का उल्लेख किया है ।[109] शंकर मिश्र ने प्रकृत सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'चकार' से गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म तथा शब्द नामक सात गुणों का संग्रह होता है, क्योंकि ये लोकव्यवहार में गुण रूप में प्रसिद्ध हैं, इस कारण सूत्रकार ने रूपादि गुणों के समान सूत्र में कण्ठ से उच्चारण नहीं किया है ।[110] इसके बाद सर्वप्रथम प्रशस्तपाद ने कणाद के द्वारा निर्दिष्ट सत्रह गुणों में सात गुण- १८. गुरूत्व १९. द्रवत्व २०. स्नेह २१. संस्कार २२. धर्म २३. अधर्म २४. शब्द को मिलाकर गुणों की संख्या २४ की है ।[111]

1.2.3.1.3.**पञ्चकर्मवाद-**

कर्म वैशेषिक दर्शन का तीसरा पदार्थ है । वैशेषिक दर्शन के अनुसार कर्म या क्रिया द्रव्य की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है । वस्तु या द्रव्यों में परिवर्तन अथवा गति का साक्षात् कारण वैशेषिक दर्शन में 'कर्म' पदार्थ कहा जाता है ।[112] कर्म गत्यात्मक होता है ।[113] गुण के समान यह भी केवल द्रव्य में ही पाया जाता है । कणाद के अनुसार कर्म का लक्षण- **"एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्"**[114] अर्थात् एक ही द्रव्य में आश्रित, निर्गुण तथा संयोग और विभाग की उत्पत्ति में जो निरपेक्ष कारण हो, वह कर्म कहलाता है । पाँच प्रकार के कर्म होते हैं- १. उत्क्षेपण २. अपक्षेपण ३. आकुञ्चन ४. प्रसारण और ५. गमन ।[115]

---

[109] रूपरसगन्धस्पर्शाः सङ्ख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्ध्यः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ।- *वै.सू.*, १.१.६

[110] चकारेण गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारधर्माधर्मशब्दान् समुच्चिनोति ते हि प्रसिद्धगुणभावा एवेति कण्ठतो नोक्ताः ।- *वै.सू.उप.भा.*, पृ. ३४

[111] चशब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्काराटदृष्टशब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः ।- *प्र. पा. भा.*, पृ. २७

[112] Bhaduri, *SNVM*, p. 134

[113] चलनात्मकं कर्म । *त. सं.*, पृ. ७५

[114] *वै. सू.*, १.१.१७

[115] उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ।- वही, १.१.७

1.2.3.1.4.**सामान्य-सिद्धान्त-**

दृश्यमान भौतिक जगत् की वस्तुओं में अनेकता, भिन्नता तथा विविधता होते हुए भी एकता, अभिन्नता एवं समानता भी दृष्टिगोचर होती है।[116] समानता की प्रतीति कराने वाला धर्म ही सामान्य है । यह द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनों में ही रहता है । सामान्य किसी वर्ग के साधारण धर्म को कहते हैं । इसे जाति भी कहा जाता है । जाति वस्तुओं में समभाव से रहती है तथा जाति एवं व्यक्ति का समवाय सम्बन्ध होता है । जैसे गोत्व जाति संसार के सभी गायों में समान रूप से पायी जाती है । अतः जो समान आकृत्यादि वाले विभिन्न व्यक्तियों में एक आकार की प्रतीति का कारण हो वही 'सामान्य' है । वैशेषिक दर्शन में सामान्य का लक्षण है- **"नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्"**[117] अर्थात् सामान्य नित्य तथा एक होते हुए अनेकों में समवाय सम्बन्ध से रहता है । सामान्य 'पर' तथा 'अपर' भेद से दो प्रकार का माना गया है । अधिक देश में रहने वाला 'पर' सामान्य कहलाता है । इसे 'परसत्ता' भी कहा गया है । पर सामान्य की अपेक्षा अल्पदेश में रहने वाला सामान्य 'अपरसामान्य' कहलाता है ।[118]

1.2.3.1.5.**विशेष- सिद्धान्त-**

वैशेषिक का नामकरण विशेष से होने के कारण यह वैशेषिक दर्शन का सर्वप्रमुख और आधारभूत पदार्थ है । विशेष वह नित्य पदार्थ है जिसके कारण एक व्यक्ति संसार के सभी व्यक्तियों से अपने को व्यावृत अर्थात् पृथक् करता है ।[119] कणाद ने विशेष का स्पष्ट लक्षण न देकर केवल अन्त्यविशेष कहा है । प्रशस्तपादभाष्य में कहा गया है कि नित्य द्रव्यों में रहने वाले ही अन्त्यविशेष हैं तथा वे अत्यन्त व्यावृत्तिबुद्धि के हेतु हैं ।[120]

---

[116] सर्वस्य च वस्तुनो द्वावाकारौ-सामान्याकारो विशेषाकारश्च ।- *न्या. वा.*, पृ. ४४

[117] *त. सं.*, पृ. ७५-७६

[118] सामान्यं द्विविधम्- परमपरं च ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ७४१

[119] नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः ।- *त. सं.*, पृ. १४

[120] नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः । ते खल्वत्यन्तव्यावृत्तिहेतुत्वाद्विशेषा एव ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ३६

साधारणतः वस्तुओं की भिन्नता का ज्ञान उनके अवयवों तथा गुणों के द्वारा हो जाता है । किन्तु एक प्रकार के परमाणुओं का पारस्परिक भेद कर पाना अत्यन्त कठिन है । प्रत्येक परमाणु की अपनी विशेषता होती है । प्रत्येक परमाणु की वह विशेषता ही विशेष कहलाती है । न्यायकन्दलीकार ने कहा है कि अन्त्य अर्थात् उत्पत्ति और विनाश के अन्त में रहने वाले नित्यद्रव्यों में रहने वाले विशेष हैं ।[121]

1.2.3.1.6.**समवाय-सिद्धान्त-**

समवाय वैशेषिक दर्शन का अन्तिम भाव पदार्थ है । न्याय-वैशेषिक की संबन्ध परम्परा में समवाय एक अतिमहत्त्वपूर्ण संबन्ध है । समवाय स्थायी या नित्य संबन्ध को कहते हैं ।[122] यह एक ऐसा घनिष्ठ संबन्ध है जिससे जुड़ने वाली दो वस्तुओं में से एक का नाश होने तक दूसरी को उससे पृथक् नहीं किया जा सकता ।[123] कणाद ने समवाय का लक्षण किया है कि 'कारण तथा कार्य में यहाँ (कारण में) यह (कार्य) है' – इस प्रकार की प्रतीति जिससे होती है, वही समवाय है ।[124] प्रशस्तपाद के अनुसार 'आधार और आधेयरूप अयुतसिद्धो का इह प्रत्यय अर्थात् इस आधार में यह आधेय है , इस बुद्धि का कारण जो संबन्ध है, वही समवाय है' ।[125] समवाय संबन्ध द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा विशेष इन पाँचों पदार्थों में रहता है तथा समवाय एक ही है ।

1.2.3.1.7.**अभाववाद-**

यद्यपि कणाद ने 'अभाव' को भाव परतन्त्र ही माना है तथापि परवर्ती वैशेषिक आचार्यों ने अभाव को भी अलग से एक स्वतन्त्र पदार्थ मानकर सातवें पदार्थ के रूप में स्वीकार किया है । अतः यहाँ पर 'अभाव' की चर्चा करना भी आवश्यक है ।

---

[121] उत्पादविनाशयोरन्तेऽवस्थितत्वादन्तशब्दवाच्यानि नित्यद्रव्याणि, तेषु भवाः स्थिता इत्यर्थः ।- *न्या. क.*, पृ. ७६६

[122] नित्यसंबन्धः समवायः । अयुतसिद्धवृत्तिः ।- *त. सं.*, पृ. ७६

[123] A relationship that is uninterrupted and uniform, *E.B.*, Vol. X, p. 327

[124] इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः । – *वै. सू.*, ७.२.२६

[125] अयुतसिद्धानामाधार्य्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इह प्रत्ययहेतुः स समवायः । - *प्र.पा.भा.*, पृ. ३७

किसी वस्तु की अनुपस्थिति को ही उस वस्तु का अभाव कहा जाता है। शिवादित्य के अनुसार अभाव वह है जिसका ज्ञान अपने प्रतियोगी के अधीन होता है।[126] गङ्गेशोपाध्याय ने भी अभाववाद में यही लक्षण स्वीकार किया है।[127] उदयनाचार्य ने नञर्थक ज्ञान के विषय को अभाव कहा है।[128] तर्कसंग्रह की टीका सिद्धान्तचन्द्रोदय में भी शिवादित्य के लक्षण का ही अनुसरण किया गया है।[129] सर्वदर्शन संग्रह में 'असमवाय होने पर जो असमवायि हो', उसी को अभाव कहा गया है।[130] जयन्तभट्ट ने भी 'नास्तीतिज्ञानगम्यत्वम्' ही अभाव का लक्षण दिया है तथा कहा है कि वह अभाव भी ज्ञानाज्ञान समर्थ हो सकता है।[131] अतः अभाव न तो स्वयं समवाय है तथा न किसी अन्य से समवाय से सम्बद्ध रहता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में अभाव के चार भेद उपलब्ध होते हैं – १. प्रागभाव २. प्रध्वंसाभाव ३. अत्यन्ताभाव ४. अन्योन्याभाव।

1.2.3.2.अभ्युदय और निःश्रेयस-

वैशेषिक दर्शन का साध्य निःश्रेयस है और अभ्युदय उसका साधन है। अतः द्रव्यादि सात पदार्थों के तत्त्वज्ञान से अभ्युदय और निःश्रेयस के प्राप्त्यर्थ यह दर्शन प्रवृत्त होता है। अभ्युदय सुख है और एक काल में आत्मा के समस्त विशेष गुणों का नाश हो जाना निःश्रेयस है।[132] वैशेषिक दर्शन के द्वारा प्रतिपादित द्रव्यादि पदार्थों की यथार्थता को जानकर उनका अपेक्षित उपयोग ही अभ्युदय है तथा दुःखत्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति निःश्रेयस है।[133] वैशेषिक दर्शन समस्त दुःखों की निवृत्ति के लिए पारलौकिक साधनों की व्याख्या नहीं करता, अपितु इसी बाह्य जगत् के तात्त्विक विश्लेषण के द्वारा दुःखादि

---

[126] प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानोऽभावः। - *स. प.*, पृ. ६२

[127] अथाभावो भावात्मैव। (अभाववाद) – *तत्त्वचिन्तामणि*, पृ. ७३०

[128] नञर्थप्रत्ययविषयोऽभावः। - *लक्षणा.*, पृ. २६

[129] प्रतियोगिज्ञानाधीनविषयत्वम्। – *सि. च. (त. स.)*, अथल्ये बोडास, पृ. १०१

[130] असमवायत्वे सत्यसमवायित्वम्। - *स. द. सं.*, पृ. ४४४

[131] *न्यायमञ्जरी*, भाग १, पृ. ५६

[132] वृत्तिकृतस्तु अभ्युदयः सुखं निःश्रेयसमेककालीनसकलात्मविशेषगुणध्वंसः।- *वै.सू.उप.भा.*, १.१.२

[133] निःश्रेयसमात्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति।- वही, १.१.४

की निवृत्ति सम्भव है । प्रशस्तपाद ने पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य के द्वारा निःश्रेयस की प्राप्ति के विषय में कहा है कि- **"द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः"**[134] अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य का तत्त्वज्ञान निःश्रेयस का कारण है तथा उस निःश्रेयस के विषय में कहा है कि- **"तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्म्मादेव"**[135] अर्थात् उस निःश्रेयस की प्राप्ति ईश्वर की विशेष प्रकार की इच्छा से कार्य करने में प्रवृत्त हुए धर्म से ही होती है, न्यायकन्दलीकार ने भी साधर्म्य-वैधर्म्यपूर्वक तात्त्विक अन्वेषण को निःश्रेयस का हेतु कहा है ।[136] इस प्रकार पदार्थों के साधर्म्यादिरूप तत्त्वविषयक ज्ञान के साथ मिलकर ही धर्म में निःश्रेयस की साधनता है, अतः बाह्य जगत् का तत्त्वतः विश्लेषण ही मोक्ष अथवा निःश्रेयसरूप परमलक्ष्य है । इस प्रकार वैशेषिक दर्शन एक वैज्ञानिक दर्शन है जिसमें समस्त विश्व को सात वर्गों में बांटकर प्रत्येक का अपना अलग महत्त्व बताया है । अखिल चराचर जगत् वैशेषिक के सातों पदार्थों में समाहित है तथा इनके तात्त्विक ज्ञान से ही परमलक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है ।

निष्कर्ष-

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध एवं वैशेषिक दोनों दर्शनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अत्यन्त सुदृढ़ और प्राचीन है । एक तरफ जहाँ बौद्ध दर्शन का इतिहास त्रिपिटकों से माना जाता है, वहीं दूसरी तरफ वैशेषिक दर्शन के इतिहास का आरम्भ वैशेषिक सूत्र से होता है । दोनों दर्शनों में ग्रन्थ-लेखन की एक लम्बी परम्परा रही है । सैद्धान्तिक रूप से बौद्ध दर्शन में जैसे- बाह्यार्थ जगत् को वस्तुसत्ता के रूप में भ्रान्त कहा है, वहीं वैशेषिक दर्शन में बाह्य जगत् की सप्तपदार्थी व्यवस्था के द्वारा सत् रूप में व्याख्या की गई है ।

---

[134] *प्र. पा. भा.*, पृ. १७

[135] वही

[136] साधर्म्यवैधर्म्य एव तत्त्वं साधर्म्यवैधर्म्यतत्त्वम्, तस्य ज्ञानं निःश्रेयसहेतुः ।- *न्या. क.*, पृ. १९

अध्याय- 2

बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में प्रमाण का स्वरूप

भारतीय दर्शन में ज्ञानमीमांसा का विशेष स्थान है, जिसे प्रमाणमीमांसा भी कहा जाता है । तत्त्वज्ञान के लिए ज्ञानमीमांसा को समझना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि जिस साधन से उस तत्त्व को देखा जाता है वह प्रमाण कहलाता है । तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति को जानना आवश्यक है अर्थात् ज्ञानमीमांसा के ये चार अङ्ग हैं ।[1]

इस दृश्यमान जगत् में वस्तुतत्त्व क्या है? यह दर्शनशास्त्र का मुख्य प्रश्न रहा है । इस वस्तुतत्त्व पर दो दृष्टियों से विचार किया जाता है । प्रथम दृष्टि में उसकी प्रतीति कैसे होती है, इस प्रकार का विचार- इस विवेचन को पाश्चात्य दर्शनपरम्परा में ज्ञानसिद्धान्त कहा जाता है और भारतीय दर्शन में इसका उल्लेख प्रमाण-निरूपण के रूप में किया जाता है तथा दूसरी दृष्टि में जब वस्तुतत्त्व पर उसके ज्ञान की समस्या को छोड़कर वस्तु के स्वरूप की दृष्टि से विचार किया जाता है- इस विवेचन को पाश्चात्य दर्शन परम्परा में 'ऑन्टोलॉजी' कहा जाता है और भारतीय दर्शन में इस विवेचन को प्रमेय-निरूपण नाम दिया जाता है ।

प्रमाण को ज्ञान की कसौटी माना जाता है, इसलिए समस्त भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों ने प्रमा और प्रमाण पर गंभीर एवं विशद चिन्तन किया है । भारतीय दर्शन के वैदिक सम्प्रदाय हों या अवैदिक, सभी प्रमा अर्थात् सम्यक् ज्ञान, प्रमाण अर्थात्

---

[1] चतसृषु चैवं विधासु तत्त्वं परिसमाप्यते । अर्थवति च प्रमाणे प्रमाता प्रमेयं प्रमितिरित्यर्थवन्ति भवन्ति ॥ *न्या.भा.*, १.१.१

सम्यक् ज्ञान का साधन और प्रमाण्य अर्थात् ज्ञान की यथार्थता पर अपने-अपने विशिष्ट मत रखते हैं ।

जिस प्रकार लौकिक व्यवहार में वस्तुओं की यथार्थ माप के लिए तुला की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार दर्शन में भी ज्ञान के सत्यासत्य के निर्धारण के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है । प्रमाण के द्वारा ही ज्ञाता अर्थ की उपलब्धि करके उस अर्थ को छोड़ने या ग्रहण करने की इच्छा करता है ।

यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति तीन वस्तुओं पर निर्भर करती है- प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण । किन्तु प्रमाण-मीमांसा के आवश्यक तत्त्व प्रमा एवं प्रमाण हैं । इसलिए सर्वप्रथम प्रमा पर ही विचार करना आवश्यक है-

2.1.प्रमा-विचार-

प्रमा शब्द सामान्यतः सम्यक् ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है । प्रमाण का सम्बन्ध प्रमा से है, इसलिए प्रमा के स्वरूप को जाने बिना प्रमाण के स्वरूप को नहीं जाना जा सकता । प्रमा के बिना कोई भी लौकिक अथवा पारलौकिक व्यवहार नहीं हो सकता ।

प्रमा शब्द की व्युत्पत्ति 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु से अङ् तथा टाप् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होती है, जिसका शाब्दिक अर्थ है- प्रतिबोध, विशुद्ध ज्ञान एवं यथार्थ ज्ञान ।[2] इस शब्द के अनेक पर्याय मिलते हैं, जैसे- बुद्धि, मनीषा, धी, धिषणा, प्रज्ञा, शेमुषी, मति, प्रेक्षा, उपलब्धि, चिद्, संविद् प्रतिपद्, ज्ञप्ति, चेतना[3] किन्तु दार्शनिक जगत् में यह शब्द सामान्यतः सम्यक् ज्ञान के अर्थ में ही प्रयुक्त किया जाता है ।

---

[2] Monier Williams, *SED* , p. 1115

[3] (a) वही

(b) आप्टे, शिवराम वामन, *संस्कृत हिन्दी कोश*, पृ.१०४८

2.1.1.प्रमा का सामान्य स्वरूप-

विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में प्रमा के स्वरूप का विवेचन भिन्न-भिन्न रूप में किया गया है । ज्ञान के स्वप्रकाशत्व और परप्रकाशत्व पर भी अलग-अलग दर्शनों ने अलग-अलग मत प्रस्तुत किये हैं ।

सांख्य दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ सांख्यकारिका में प्रमा के स्वरूप की चर्चा नहीं मिलती किन्तु सांख्यसूत्रकार ने स्पष्टतः एक सूत्र में प्रमा की परिभाषा की है[4], जिसकी व्याख्या करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि अनधिगत(अज्ञात) वस्तु का अवधारण ही प्रमा है , जो कि बुद्धि और पुरुष दोनों का अथवा केवल पुरुष का धर्म है ।[5] सांख्यमत में ज्ञान को बुद्धि से भिन्न स्वीकर किया गया है । बुद्धि प्रकृति से उत्पन्न प्रथम तत्त्व है[6], जबकि ज्ञान उस त्रिगुणात्मक बुद्धि में उत्पन्न होने वाला उसका एक भाव या धर्म है ।[7] इस प्रकार कहा जा सकता है कि बुद्धि कारण है और प्रमा अथवा ज्ञान कार्य है । ज्ञान बुद्धि में आश्रित होता है । सांख्य दर्शन में स्पष्टतः ज्ञान को स्वप्रकाश्य अथवा परप्रकाश्य नहीं कहा गया है, तथापि यह अर्थापति की जा सकती है कि यहाँ ज्ञान को परप्रकाश्य माना गया है क्योंकि जड़ात्मक प्रकृति से उत्पन्न बुद्धि तत्त्व भी जड़ है और उसका कार्य ज्ञान भी जड़ है । उसके प्रकाशन के लिए चेतन पुरुष के प्रतिबिम्ब की आवश्यकता होती है । सांख्य-योग के ग्रन्थों से विदित होता है कि चेतन पुरुष के सांनिध्य के कारण ही बुद्धिवृत्ति चेतनवत् प्रतीत होती है और उसी के फलस्वरूप पुरुष को विषय का बोध होता है ।[8] इस प्रकार विषय ज्ञान और उसका प्रकाशन स्वयं बुद्धि नहीं कर सकती, उसके लिए पुरुष तत्त्व की आवश्यकता होती है ।

---

[4] द्वयोरकतरस्य व्याप्यसन्निकृष्टार्थ परिच्छितिः प्रमा । *सां.सू.*, १.८७

[5] *सां.प्र.भा.*, पृ. ६४-६५

[6] प्रकृतेमहांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् । *सां का.*, का. २२

[7] अध्यवसायो बुद्धि धर्मो ज्ञानं विराग । वही, का. २३

[8] (क) बुद्धितत्त्वं हि प्राकृतत्त्वादचेतनमिति तदीयोऽध्यवसायोऽप्यचेतनः एवं बुद्धितत्त्वस्य सुखादयोऽपि परिणाम भेदा अचेतनाः। *सां.त.कौ.*, पृ. १०६; (ख) *यो. वा.*, पृ. २२

मीमांसा दर्शन का भाट्ट सम्प्रदाय ज्ञान को परप्रकाश्य मानता है । इनके अनुसार ज्ञान अतीन्द्रिय है ।[9] जबकि प्रभाकर मत में ज्ञान स्वप्रकाश्य माना गया है । इनके अनुसार जब प्रमाता को किसी विषय का ज्ञान होता है तब उसे तीन प्रतीतियाँ होती हैं- प्रमाता को स्वयं

अपना ज्ञान, विषय का ज्ञान और ज्ञान । इसे 'त्रिपुटीसंवित्' का सिद्धान्त कहा गया है क्योंकि ज्ञान में तीन वस्तुएँ होती हैं- ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय ।[10] अतः ज्ञान स्वयं प्रकाशमान है ।

वेदान्त दर्शन के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश्य तथा अजन्य है ।[11] आचार्य शंकर ने कहा है कि विषयज्ञान का कारण ज्ञाता में स्थित ज्ञान ही है । ज्ञान का अनुभव हमें उसी प्रकार होता है जिस प्रकार सुख और दुःख का ।[12] वस्तुतः यह आत्मा का ही चैतन्य रूप है ।[13]

न्याय दर्शन के अनुसार ज्ञान को परप्रकाश्य माना गया है । इनके अनुसार ज्ञान और बुद्धि में कोई अन्तर नहीं है । किसी विषय का ज्ञान ही बुद्धि है ।[14] जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप में अनुभव यथार्थ ज्ञान या प्रमा कहा गया है ।[15] इस व्यवसायात्मक ज्ञान के प्रकाश के लिए न्याय दर्शन में अनुव्यवसायात्मक ज्ञान की आवश्यकता मानी गयी है जो आत्मा में विषयज्ञान के बाद 'घटमहं जानामि' के रूप में उत्पन्न होता है । अतः यहाँ ज्ञान को परप्रकाश्य माना गया है ।

---

9 *श्लो.वा.*, का., १८४-१८७

10 (अ) मेयमात्रावभासरूपो संवेदिका ।- *प्रकरणपञ्जिका*, पृ. १७१

(ब) प्रभाकरमीमांसकास्तु सर्वदा ज्ञानमुत्पद्यमानं विषयात्मानौ प्रकाशयदेव प्रकाशते दीपवत् इति वदन्तः ।- *प्रकरणपञ्जिका पर न्यायसिद्धान्त*, पृ. १७२

11 संविदेषा स्वयं प्रमा ।- *पञ्चदशी*, १.७

12 *गीताभाष्य*, १८

13 इयं संविदात्मा भवितुमर्हति ।- *पञ्चदशी टीका*, १८

14 अर्थ प्रकाशो वा बुद्धिः । *त. भा.*, पृ.२५८

15 तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः । सैव प्रमेत्युच्यते ।- *त.सं.*, पृ. ७०

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान स्वपरप्रकाश्य है क्योंकि वह अपने को भी प्रकाशित करता है और विषय को भी ।[16] इनके अनुसार आत्मा ज्ञाता तो है ही , अपने ज्ञान गुण से अभिन्न होने के कारण ज्ञेय भी है । ज्ञान प्रदीप की भाँति स्वयंप्रकाश रूप होकर ही अर्थ को प्रकाशित करता है ।[17]

2.1.2.बौद्धन्याय में प्रमा का स्वरूप-

बौद्धन्याय में प्रमा के अर्थ में अनेक स्थानों पर प्रमाण शब्द का प्रयोग भी किया गया है । इसका कारण यह है कि प्रमाण शब्द के तीन अर्थ किये हैं- (१) ज्ञान का साधन (२) ज्ञान या प्रमा (३) प्रमाता । धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्त्तिक में कहा है- 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्' ।[18] अर्थात् अबाधित ज्ञान प्रमाण कहलाता है । यद्यपि कोश ग्रन्थों में प्रमा के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं किन्तु प्रस्तुत स्थल पर इसका प्रयोग सम्यक् ज्ञान के अर्थ में ही किया गया है ।

बौद्धन्याय में प्रमा का स्वरूप स्वप्रकाश्य माना गया है । इनके मत में जब कोई व्यक्ति किसी विषयज्ञान के बाद जब उसका स्मरण करता है तो वह स्मृति द्विरूपात्मक होती है । स्मृति के समय विषय के स्मरण सहित विषयज्ञान का भी स्मरण होता है । अर्थात् जब वह स्मरण करता है तो केवल विषय की ही स्मृति नहीं होती बल्कि यह भी स्मृति होती है कि मुझे अमुक विषय का ज्ञान हुआ था । इस द्विरूपात्मक स्मरण से सिद्ध होता है कि जब ज्ञाता को विषय का ज्ञान हुआ था, तब ज्ञान का ज्ञान भी अवश्य हुआ था ।

दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय में ज्ञान की यह स्वयं प्रकाशरूपता प्रतिपादित की है ।[19] धर्मकीर्ति ने भी ज्ञान की स्वयंप्रकाशता की पुष्टि की है ।[20] शान्तरक्षित एवं कमलशील

---

[16] प्रमाणं स्वपरावभासि।– *न्यायावतार*, का. १

[17] ज्ञानं स्वप्रकाशमानमेव अर्थं प्रकाशयति, प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत् ।- *प्र.मी.सू.*,३

[18] *प्र. वा.*, १.३

[19] ज्ञानान्तरेणानुभवे निष्ठाऽतत्रापि हि स्मृतिः ।- *प्र.समु.*, १.१२

[20] तत्राप्युभवात्मत्वात् ते योग्या स्वात्मसंविदि ।
इति सा योग्यता मानमात्मा मेयः फलं स्ववित् ।- *प्र.वा.*, २.३६६

ने भी ज्ञान की स्वप्रकाशता का समर्थन किया है । उन्होनें कहा है कि यदि ज्ञान स्वयं को प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है तो वह विषय को प्रकाशित करने में समर्थ कैसे हो सकता है ।[21] वस्तुतः विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष के बाद विषयज्ञान के साथ ही ज्ञान का प्रकाश भी हो जाता है अर्थात् ज्ञान और विषयज्ञान एक साथ ही उत्पन्न होते हैं ।

प्रमाविषयक चर्चा में ज्ञान के साकार अथवा निराकार और ज्ञातविषयक अथवा अज्ञातविषयक स्वरूप पर विचार करना भी आवश्यक है । इस विषय में यह कहा जा सकता है कि वैभाषिक मत में ज्ञान निराकार है तथा सौत्रान्तिक मत में साकार । ज्ञान को साकार मानने वाले वैभाषिक युक्ति देते हैं कि अपने कारणों से ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है जिसमें अपने स्वरूप अथवा आत्मा को भासित करने के साथ-साथ अर्थ अर्थात् अनात्म को भासित करने की शक्ति होती है । सौत्रान्तिक के अनुसार निराकार ज्ञान के द्वारा बाह्य अर्थ का प्रकाशन नहीं हो सकता अतः बाह्य वस्तुएँ साकार ज्ञान का विषय हैं ।[22]

विज्ञानवादी तो एकमात्र विज्ञान की ही सत्ता को स्वीकार करते हैं । इसलिए जो कुछ भी विषयाकार का अनुभव होता है, वह वस्तुतः ज्ञान का अपना ही रूप है । धर्मकीर्ति ने इस विषय में कहा है कि 'ज्ञान अविभक्त रूप से एक है किन्तु विपर्यय ज्ञानों के कारण वह ग्राह्य और संवित्ति- इन तीनों रूपों में भासित होता है ।[23] प्रमा संवादी है या अविसंवादी- इस विषय में धर्मकीर्ति का स्पष्ट मत है कि अविसंवादी ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान होता है ।[24] धर्मोत्तर ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि अविसंवादक ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है । लोक में पूर्व प्रदर्शित वस्तु को प्राप्त करा देने वाला व्यक्ति संवादक

---

[21](अ) अप्रसिद्धोपलम्भस्य नार्थवित्तिः प्रसिद्ध्यति ।- *तत्त्व.सं.*, का. २०७३

(ब) तस्य ज्ञानस्य अप्रसिद्धरूपत्वे सति प्रसिद्धिस्तस्यार्थानुभवस्य का परा भवेत्, नैव काचित् ।- *तत्त्व.सं.पं.*, पृ.४८२

[22] शास्त्री, श्रीनिवास, *वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध दर्शन का विवेचन*, पृ. ५९-६१

[23] अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मविपर्यासित दर्शनै ।

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते॥– *प्र.वा.*, १.३५४

[24] प्रमाणमविसंवादी ज्ञानम् ।- वही, १.३

कहलाता है, उसी प्रकार ज्ञान भी अपने द्वारा बोधक वस्तु को प्राप्त करा देने के कारण संवादक (अविसंवादक) कहलाता है ।[25] ज्ञान के स्वरूप के विषय में यह भी उल्लेखनीय है कि बौद्ध नैयायिकों ने ज्ञान को अज्ञात विषय का बोधक स्वीकार किया है । उनके अनुसार जो ज्ञान अनधिगत या पूर्वतः अज्ञात विषय का ज्ञान कराने वाला होता है, वही प्रमाण या यथार्थ ज्ञान है ।[26] अतः स्मृतिज्ञान और धारावाहिक ज्ञान को यहाँ प्रमा की कोटि में नहीं रखा गया क्योंकि इन ज्ञानों में पहले से ज्ञात वस्तु का ज्ञान होता है तथा ज्ञात अर्थ का बोधक प्रमाण नहीं है ।[27]

अन्य दर्शनों की भाँति बौद्धों ने भी सामान्यतः ज्ञान के दो भेद स्वीकार किये हैं- प्रमा एवं अप्रमा । पूर्ववर्ती बौद्धाचार्यों में असंग ने विद्या पाँच प्रकार की मानी है- १ आत्मविद्या, २ चिकित्साविद्या, ३ हेतुविद्या या तर्कशास्त्र, ४ शब्दविद्या या व्याकरणशास्त्र, ५ शिल्पकर्मस्थानविद्या ।[28] किन्तु असंग के परवर्ती आचार्य वसुबन्धु ने दो प्रमाणों के आधार पर दो ही प्रकार की प्रमा स्वीकार की है- प्रत्यक्ष और अनुमान ।[29] इसी प्रकार आचार्य दिङ्नाग ने भी वसुबन्धु का ही अनुसरण किया है ।[30] इनके पश्चात् धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर ने भी सम्यक् ज्ञान को दो प्रकार का माना है- प्रत्यक्ष एवं अनुमान ।[31] उन्होनें सम्यक् ज्ञान की व्याख्या करते हुए बौद्धन्याय के कई मन्तव्यों को स्पष्ट कर दिया है, जैसे- (१) ज्ञान दो प्रकार का है- सम्यक्ज्ञान और मिथ्याज्ञान । सम्यक् ज्ञान ही प्रमा कहलाता है । (२) सम्यक् ज्ञान की मुख्यतः दो विशेषताएँ होती हैं- यह अपने द्वारा प्रदर्शित अर्थ को प्राप्त कराता है, दूसरी यह कि प्रमाण अज्ञात अर्थ का बोधक होता है ।

---

25 अविसंवादकं ज्ञानं सम्यक् ज्ञानम् ।- *न्या.बि.टी.*, पृ.१०

26 अनधिगतविषयं प्रमाणम् ।- वही, पृ. ११

27 यदुक्तम् स्मृतीच्छाद्वेषादिवत् पूर्वाधिगतविषयत्वात् पुनः पुनरभिज्ञानं न प्रमाणमिति ।- *प्र.समु.वृ.*, पृ.२

28 *योगाचारभूमि* (श्रुतमयीभूमि-१०)

29 नैन, अनिता, *बौद्ध-प्रमाण-मीमांसा*, पृ. ३६

30 *प्र.समु.*, प्रत्यक्ष परिच्छेद, का.२

31 द्विविधं सम्यग्ज्ञानम्। प्रत्यक्षमनुमाञ्चेति॥– *न्या.बि.*,१.२-३

प्रमाण का कार्य है अर्थ की प्राप्ति करा देना और प्रथम ज्ञान से ही अर्थ की प्रतीति हो जाने पर व्यक्ति की प्रवृति हो जाती है तथा अर्थ की प्राप्ति हो जाती है । फिर इस विषय में होने वाला दूसरा ज्ञान तो अर्थ की प्राप्ति नहीं कराता, अतः वह प्रमाण नहीं है । अतः न्याय-वैशेषिक के समान बौद्धन्याय में भी धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जाता । (३) जिस ज्ञान के द्वारा प्रदर्शित वस्तु से भिन्न वस्तु की प्राप्ति होती है, वह असम्यक् या मिथ्या ज्ञान है । उसी प्रकार भ्रान्ति, संशय या स्वप्न ज्ञान इत्यादि मिथ्या ज्ञान हैं ।[32] यहाँ पर यह विशेष उल्लेखनीय है कि बौद्धों ने प्रमा एवं प्रमाण को भिन्नार्थक न मानकर एकार्थक स्वीकार किया है तथा ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहकर इस 'सम्यक्' विशेषण से संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञानों में स्पष्टतः प्रमाणत्व का निषेध किया है ।

2.1.3.वैशेषिक दर्शन में प्रमा का स्वरूप-

वैशेषिक दर्शन में भी न्याय दर्शन की भाँति बुद्धि, उपलब्धि तथा प्रत्यय को पर्यायवाची माना गया है ।[33] इनके अनुसार बुद्धि के दो प्रकार हैं- विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान और अविद्या अर्थात् अयथार्थ ज्ञान । महर्षि कणाद ने 'अदुष्टं विद्या' अर्थात् दुष्ट ज्ञान से भिन्न को विद्या कहा है । दुष्ट ज्ञान की व्याख्या करते हुए उन्होनें कहा है कि इन्द्रिय दोष तथा संस्कार दोष से उत्पन्न अयथार्थ ज्ञान ही दुष्टविद्या अथवा अविद्या है ।[34] अविद्या चार प्रकार की है- संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न ।[35] विद्या भी चार प्रकार की है- प्रत्यक्ष, लैङ्गिक, स्मृति और आर्ष ।[36]

इस प्रकार बौद्धन्याय एवं वैशेषिक न्याय तथा उनसे भिन्न प्रायः सभी दर्शनों में प्रमा और अप्रमा को यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान की कोटि में रखा है । प्रमा के अन्तर्गत सम्यक्

---

32 *न्या.बि.टी.*, पृ.१०-११

33 *प्र.पा.भा.*, पृ.१३०

34 इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चविद्या । तद्दुष्टज्ञानम् ।-*वै.सू.*, ९.२.१०

35 तत्राविद्या चतुर्विद्या संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा ।- *प्र.पा.भा.*, पृ.१३०

36 विद्यापि चतुर्विधा प्रत्यक्षलैंगिकस्मृत्यार्षलक्षणा ।- वही, पृ.१४३

ज्ञान तथा अप्रमा के अन्तर्गत मिथ्या अथवा भ्रान्तज्ञान कहा गया है । प्रमा-विवेचन के साथ-साथ प्रमाण विवेचन भी अभीष्ट है । अतः आगे प्रमाण के स्वरूप पर विस्तृत प्रकाश डाला जा रहा है-

2.2.प्रमाण-विचार-

भारतीय दर्शन में सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने प्रमाण की महत्ता एवं सत्ता को स्वीकार किया है । लोकव्यवहार में भी यह देखा गया है कि किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होती है । जिस प्रकार किसी वस्तु के सम्यक् माप के लिए तुला की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार पदार्थों के सम्यक् स्वरूप के ज्ञान के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है । इस प्रकार भारतीय दर्शन में सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रमाणों का सर्वाधिक महत्त्व है ।

न्याय दर्शन के प्रथम सूत्र में निर्धारित सोलह पदार्थों में सर्वप्रथम प्रमाण ही है ।[37] सांख्यकारिका में भी कहा गया है- प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों से ही होती है ।[38] इसी प्रकार वात्स्यायन ने कहा है कि प्रमाण के द्वारा ही ज्ञाता अर्थ की उपलब्धि करके उस अर्थ को छोड़ने या ग्रहण करने की इच्छा रखता है ।[39]

प्रमाण पर विचार करते समय चार बातें विचारणीय होती हैं- १. प्रमाण का स्वरूप २. प्रमाण संख्या ३. प्रमाण का विषय ४. प्रमाण फल । इन्हीं के आधार पर प्रस्तुत विवेचन किया जा रहा है-

2.2.1.प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति एवं निरुक्ति-

---

[37]प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासाच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानानिश्रेयसाधिगमः ।- *न्या.सू.*, १.१.१

[38] प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धिः ।– *सां.का.*, ४

[39] प्रमाणेन खल्वयं ज्ञातार्थनुफलेभ्य तदर्थमीप्सति, जिहासति वा।– *न्या.भा.*, १.१.१

'प्रमाण' शब्द 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है । जिसका शाब्दिक अर्थ है- ज्ञान का साधन अथवा ज्ञान ।

दर्शनशास्त्र में प्रमाण शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है-

१. यथार्थ ज्ञान अर्थात् प्रमा, जब यह प्रत्यय (ल्युट्) भाव अर्थ में प्रयुक्त होता है । इस अर्थ में इसका निर्वचन है- 'प्रमीयते इदं इति प्रमाणम्'

२. प्रमाता- जब यह प्रत्यय कर्तृ अर्थ में प्रयुक्त हो । इस अर्थ में इसका निर्वचन है- 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्'

३. ज्ञान का साधन- जब यह प्रत्यय करण अर्थ में प्रयुक्त हो । इस अर्थ में इसका निर्वचन है- 'प्रमीयते अस्यास्तीति प्रमाणम्' ।[40]

सामान्यतः प्रमाण का तात्पर्य सम्यक् ज्ञान से लिया जाता है । जो ज्ञान सम्यक् व सर्वथा समीचीन है वह प्रमाण कहलाता है । प्रमाण का लक्षण भिन्न-भिन्न दर्शनों ने भिन्न-भिन्न किया है । अतः बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शनसम्मत प्रमाण स्वरूप का विवेचन करने से पूर्व अन्य दर्शनों में प्रतिपादित प्रमाण स्वरूप को जान लेना समुचित होगा-

न्याय दर्शन प्रमाणशास्त्र के रूप में प्रसिद्ध है, इसलिए सर्वप्रथम उसी के अनुसार प्रमाण के लक्षण पर दृष्टि डालना उचित है । महर्षि गौतम के सूत्रों में प्रमाण का स्पष्ट लक्षण नहीं प्राप्त होता है । किन्तु भाष्य में कहा गया है कि- प्रमाण के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना न्याय है ।[41] न्यायवार्त्तिक में उपलब्धि अर्थात् ज्ञान के साधन को प्रमाण कहा

---

40 अयं प्रमाणशब्दः भावे कर्तरि करणे च वर्तते । तत्र भावे...प्रमा प्रमाणमिति । कर्तरि...प्रमिणोति प्रमेयमिति प्रमाणम् । करणे...प्रमिणोत्यनेनेति प्रमाणम् ।- *तत्त्वार्थ-राजवार्तिक*, १.४९

41 प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।– *न्या. भा.*, १.१.१

गया है ।[42] वाचस्पति मिश्र ने भी **'उपलब्धि हेतुः प्रमाणम्'** की व्याख्या करते हुए लिखा है- 'उपलब्धि मात्र से स्मृति भिन्न अव्यभिचारी रूप प्रमा ज्ञान अभिप्रेत है ।[43]

जैन न्याय में समन्तभद्र के अनुसार समग्र वस्तु को अखण्ड (युगपत्) रूप में जानने वाला ज्ञान ही प्रमाण है ।[44] 'स्व' और 'पर' के अवभासक ज्ञान को भी यहाँ प्रमाण कहा गया है ।[45] न्यायावतार में प्रमाण का लक्षण- '**प्रमाणस्वपराभासिज्ञानबाधविवर्जितम्**' किया गया है । अकलङ्क ने अनधिगत अर्थ-विषयक अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण के रूप में अभिव्यक्त किया है ।[46]

सांख्य- सांख्यकारिका में प्रमाण का कोई लक्षण नहीं मिलता, किन्तु टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने प्रमाण के विषय में कहा है कि- प्रमाण वह चित्तवृत्ति है जिसका विषय असन्दिग्ध अर्थात् निश्चित रूप से ज्ञात होने वाला, अविपरीत अर्थात् अबाधित एवं अनधिगत हो- ऐसी चित्तवृत्ति से होने वाला उसका फलभूत पुरुषवर्ती बोध प्रमा है ।[47] अतः सांख्य दर्शन में प्रमाण केवल बोध स्वरूप या ज्ञान रूप ही है और यह ज्ञान विषयाकार परिणाम स्वरूप होने के कारण एक मात्र बुद्धि का ही धर्म है, इन्द्रिय इत्यादि का नहीं ।

योग दर्शन में भी प्रमाण का स्पष्ट लक्षण प्राप्त नहीं होता, केवल व्यासभाष्य से ऐसा प्रतीत होता है कि उनके अनुसार पौरुषेय बोध ही प्रमा है ।[48] इस प्रकार सांख्य और

---

42 उपलब्धिहेतुः प्रमाणम् ।- *न्या.वा.*, १.१.१

43 *न्या.वा.ता.टी.*, पृ.१६

44 तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासकम् । *आप्त-मीमांसा*, श्लोक १०१

45 स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धि लक्षणम्।– स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक ६३

46 प्रमाणमविसंवादी ज्ञानं अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् ।- *अष्टशती*, का. ३६

47 *सां. त. कौ.*, पृ. २६

48 फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृतिबोधः। *यो.भा.*, १.७

योग दोनों में ही बुद्धिनिष्ठ ज्ञान को प्रमाण तथा पुरुषनिष्ठ ज्ञान को प्रमा कहा जाता है ।[49]

मीमांसा दर्शन के अनुसार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अप्राप्त, अबाधित एवं निरपेक्ष विषयक ज्ञान प्रमाण कहा जाता है ।[50] पार्थसारथि मिश्र ने कुमारिल के लक्षण को स्पष्ट करते हुए प्रमाण का लक्षण इस प्रकार दिया है- 'कारणदोष एवं बाधक ज्ञान से रहित अज्ञात विषयक ज्ञान ही प्रमाण शब्द का बोधक है' ।[51] मानमेयोदयकार ने भी अज्ञाततत्त्वविषयक ज्ञान को प्रमा और उसके कारण को प्रमाण कहा है ।[52] प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार अनुभूति ही प्रमाण है । स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभूति कहते हैं । स्मृति संस्कारमात्र से उत्पन्न होने वाला पूर्वानुभूतिसापेक्ष ज्ञान है । अतः स्मृति पूर्वज्ञान की अपेक्षा रखने के कारण प्रमाण नहीं कही जा सकती ।[53] पीत शंखादि ज्ञान प्रमाण होते हुए व्यवहार-विसंवादी होने के कारण भ्रान्त ही सिद्ध होता है, अतः अनुभूति ही प्रमाण है ।[54]

वेदान्त दर्शन में वेदान्तपरिभाषाकार ने प्रमा के दो लक्षण दिये हैं । प्रथम लक्षण स्मृति व्यावृत्त प्रमा का है- अनधिगत तथा अबाधित वस्तु-विषयक ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है ।[55] किन्तु प्रमा का द्वितीय लक्षण जो स्मृति ज्ञान को भी प्रमाण की कोटि में रखता है, इस प्रकार है- 'अबाधितार्थविषयक ज्ञानत्वम्' अर्थात् उत्तरवर्ती ज्ञान से बाधित न होने वाले विषय का ज्ञान ही प्रमा है । इसी लक्षण को वे स्मृति साधारण के नाम से ज्ञापित करते

---

49 अनधिगततत्त्वबोधः पौरुषेयो व्यवहार हेतुः प्रमा। तत्करणं प्रमाणम्।– *तत्त्ववैशारदी*, पृ.२९

50 औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धः तस्य ज्ञानमुपदेशो व्यतिरेकश्च अर्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणबादरायणस्यानपेक्षत्वात् । *मी. सू.*, १।१।५

51 एतच्च विशेषणत्रयमुपादानेन सूत्रकारेण कारणदोषबाधकज्ञानरहितमगृहिततग्राहीज्ञानं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं सूचितम्।– *शा.दी.*, पृ.१२३

52 तस्मादज्ञाततत्त्वार्थज्ञानसाधनमेव नः प्रमाणमिति ।- *मा.मेयो.*, पृ.७

53 अनुभूतिः प्रमाणम् ।– *प्रकरणपञ्चिका*, पृ.१०४

54 वही, पृ.१२६-१२७

55 स्मृतिव्यावृत्तं प्रमात्वम् अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम् ।- *वे.परि.*, पृ.९

हैं ।[56] इस प्रकार विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के विद्वानों ने प्रमाण का लक्षण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है । किन्तु प्रायः सभी विद्वानों के लक्षणों से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि अज्ञातार्थ एवं अबाधित विषय का ज्ञान ही प्रमाण है ।

2.2.2.बौद्ध दर्शन में प्रमाण-

भारतीय न्यायविद्या में प्रमाणविषयक चर्चा में बौद्धन्याय का महत्त्वपूर्ण स्थान है । न्यायविद्या भारत की प्राचीन विद्या है जिसमें प्रमाणों के द्वारा अर्थ या पदार्थ की परीक्षा की जाती है ।[57] बौद्ध दर्शन में ज्ञान स्वयं एकमात्र प्रमाण है । पांचवी-सातवीं शताब्दी में इसका उद्देश्य प्रमाणों को निश्चित करना तथा ज्ञान की इयत्ता को निर्धारित करन था । इसके लिए बौद्ध दर्शन में प्रमाणों की व्यवस्था की गयी । बौद्ध-न्याय में प्रमाणभूत भावना का विवेचन किया गया है, जो केवल ज्ञापक है ।[58]

चार प्रकार के बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है- वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक । इनमें वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक भूत-भौतिक एवं चित्त-चैत आदि बाह्य एवं आभ्यन्तर पदार्थों की सत्ता को स्वीकार करते हैं । अतः उनके अनुसार प्रमाण-प्रमेय व्यवहार की यथार्थता हो सकती है । लेकिन योगाचार सम्प्रदाय तो विज्ञानमात्र को ही परमार्थ सत् मानता है, इसलिए प्रमाण-प्रमेय को वह कल्पित ही मानता है । उनके अनुसार विज्ञान ही विकल्पों के कारण प्रमाण तथा प्रमेय रूप में प्रतीत होने लगता है ।[59] माध्यमिक सम्प्रदाय के अनुसार प्रमाण और प्रमेय व्यवहार में नियतरूपता नहीं होने के कारण प्रमाण-प्रमेय व्यवहार कल्पित है । इनके अनुसार परमार्थ सत् वस्तु सदैव एक जैसी प्रतीत होनी चाहिए जबकि प्रमाण के सम्बन्ध में ऐसा नहीं होता । नेत्र आदि जब ज्ञान का साधन होते हैं तब वे प्रमाण होते हैं और जब

---

56 स्मृतिसाधारणत्वबाधितार्थविषयकज्ञानत्वम्।– *वे.परि.*, पृ.१६

57 प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः ।- *न्या. भा.*, १।१।१

58 नरेन्द्र देव, *बौद्ध दर्शन*, पृ. ५८९

59 तत्र प्रत्यवतिष्ठते विज्ञानवादी- न खलु वास्तवः प्रमाणप्रमेयभावः किं त्वनादिवासनानिबन्धकल्पनाधीनः ।- *न्या. वा. ता.टी*, पृ. १०७६

स्वयं उनका ज्ञान किया जाता है तब वे प्रमेय कहलाते हैं। इस प्रकार विज्ञानवादी और शून्यवादी के मत में प्रमाण-प्रमेय व्यवहार कल्पित है, केवल लोकव्यवहार में इसे स्वीकार किया जाता है।

वैभाषिक मत में विज्ञान निराकार है, वह अपने स्वरूप को भाषित करता हुआ वस्तु को प्रकट करता है। निराकार विज्ञान का आत्मसंवेदन सहित अर्थ-प्रकाशन ही प्रमाण कहलाता है।[60] वैभाषिक के मतानुसार बाह्यार्थ क्षणिक है तथा विज्ञान भी क्षणिक है और निराकार है। जब निराकार विज्ञानक्षण का बाह्यार्थक्षण के साथ सामञ्जस्य होता है, तब वह निराकार विज्ञान अपने स्वरूप सहित बाह्यार्थ को प्रकट करता है। अपने स्वरूप सहित विज्ञान का बाह्यार्थ को प्रकट करने का यह सामर्थ्य ही प्रमाण कहलाता है।

सौत्रान्तिकों के अनुसार विज्ञान का जो विषय के साथ सारूप्य है, वही प्रमाण है।[61] अर्थात् अर्थ की प्रतीति कराना ही प्रमाण का फल है जो इस अर्थ-प्रतीति का व्यवस्थापक है। इनके अनुसार साकार विज्ञानक्षण तथा विषयक्षण का सारूप्य ही प्रमाण है।

बौद्ध दर्शन के सभी सम्प्रदायों के अनुसार प्रमाण का सामान्य स्वरूप जानने के पश्चात् बौद्ध-न्याय में प्रमाण का विशिष्ट स्वरूप जानना आवश्यक है। अतः प्रस्तुत स्थल पर बौद्ध-न्याय सम्मत प्रमाण के स्वरूप पर विचार किया जा रहा है-

2.2.2.1.बौद्धन्याय में प्रमाण:

बौद्ध साहित्य में यद्यपि दिङ्नाग से पूर्व भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, किन्तु उनमें प्रमाण चर्चा गौण रूप से ही हुई है। दिङ्नाग ने सर्वप्रथम प्रमेय-द्वैविध्य द्वारा प्रमाण-द्वैविध्य स्वीकार किया है। बौद्ध-न्याय का भारतीय प्रमाणशास्त्र के विकास में जो

---

[60] विज्ञानस्यैवानाकारस्यात्मानात्मप्रकाशन- सामर्थ्यमित्यपरे।- *न्या.वा.ता.टी.*, पृ. १५

[61] विषय-सारूप्य साकारस्य विज्ञानस्येत्यन्ये।- वही, पृ. १५

योगदान रहा उसका श्रेय दिङ्नाग एवं उनके सम्प्रदाय को जाता है । दिङ्नाग मूलतः योगाचार सम्प्रदाय के आचार्य थे, किन्तु बौद्धन्याय की स्थापना करने के साथ उन्होंने बाह्य वस्तु की सत्ता को भी स्वीकार किया । अतः बौद्धन्याय सौत्रान्तिक, वैभाषिक एवं योगाचार सम्प्रदाय का सम्मिलित प्रतिनिधित्व करता है ।[62] इनके बाद टीकाकार जिनेन्द्रबुद्धि ने स्पष्ट रूप से प्रमाण का लक्षण किया है- "**अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति प्रमाण-सामान्य-लक्षणम्**"[63] अर्थात् अज्ञातार्थ का बोधक ही प्रमाण है । बौद्ध-तर्कभाषा में भी उस यथार्थ ज्ञान को प्रमाण कहा है जिसका विषय पूर्व में ज्ञात न हो अर्थात् अज्ञातार्थ का ज्ञापक प्रमाण है ।[64]

बौद्धन्याय में प्रमाण-विवेचन पर बहुत अधिक बल दिया गया है । दिङ्नाग ने तो बुद्ध को प्रमाणभूत की संज्ञा देकर उन्हें नमस्कार किया है और प्रमाणसमुच्चय में प्रमाणों का विस्तृत वर्णन किया है ।[65] धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर ने भी मुख्यतया प्रमाण-विवेचन पर ही जोर दिया है । बौद्धन्याय के विभिन्न आचार्यों के प्रमाण लक्षणों का वर्णन इस प्रकार है-

2.2.2.2.दिङ्नाग का प्रमाण-लक्षण-

बौद्ध साहित्य में यद्यपि दिङनाग से पूर्व भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये, किन्तु उनमें प्रमाण-चर्चा गौण रूप में ही हुई है । दिङ्नाग ने ही सर्वप्रथम प्रमाण को स्पष्ट स्वरूप प्रदान किया । बौद्धन्याय की मजबूत नींव दिङ्नाग से ही आरम्भ मानी जाती है । उनके अनुसार स्मृति, इच्छा, द्वेष आदि प्रमाण नहीं है, क्योंकि इनका विषय पहले से ही ज्ञात

---

62 जैन, धर्मचन्द, *बौद्ध-दर्शन प्रमाण-मीमांसा*, पुरोवाक् पृ.३

63 *प्र. स. टी.*, पृ. ११

64 प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम् । प्रमीयतेऽर्थोऽनेनेति प्रमाणम् ।- *बौ.त.भा.*, पृ. १

65 प्रमाणभूताय जगद्वितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने।
प्रमाणसिद्धये स्वमतात्समुच्चय करिष्यते विप्रसृदिहैकतः॥– *प्र.समु.*, १.१

है ।[66] उनके इस कथन से स्पष्ट होता है कि वे अज्ञातार्थ के बोधक को ही प्रमाण मानते हैं ।

2.2.2.3.धर्मोत्तर का प्रमाण-लक्षण-

धर्मोत्तर ने धर्मकीर्ति के ही लक्षण को स्वीकार करते हुए कहा है- अविसंवादक अर्थात् अनुभव से बाधित न होने वाला ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है ।[67] प्रमाण का अविसंवादी लक्षण साधन के अर्थ में किया गया है । न्यायबिन्दुटीका में इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि जिससे ज्ञान किया जाता है, वह मान कहलाता है । इस करणार्थक मान शब्द से प्रमाण कहा गया है, जिसका स्वरूप है ज्ञान का अर्थ के साथ सारूप्य ।[68]

2.2.2.4.शान्तरक्षित एवं कमलशील सम्मत प्रमाण-लक्षण-

शान्तरक्षित ने भी धर्मकीर्ति का अनुसरण करते हुए ज्ञान (बुद्धि का) अर्थ के साथ सारूप्य को प्रमाण माना है । उन्होंने कहा है- बाह्य जगत् की सत्ता मानने वाले (सौत्रान्तिक आदि) के मत में ज्ञान के सारूप्य को स्वीकार किया गया है । इसलिए निश्चित रूप से उसे स्वीकार करना चाहिए क्योंकि वह उसी अर्थ का प्रकाशन करता है[69] अर्थात् जिस विषय से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह उस विषय के सदृश ही होता है ।

प्रस्तुत स्थल पर सादृश्य विचारणीय विषय है, क्योंकि भारतीय दर्शन में इसके अनेक अर्थ किये गये हैं । न्याय-वैशेषिक के अनुसार सामान्य आदि का अनेक पदार्थों में होने अथवा एक वस्तु में दूसरी वस्तु के बहुत से धर्मों का होना ही सादृश्य अथवा साधर्म्य कहलाता है ।[70] सांख्य के अनुसार वस्तुओं का समान धर्म गोत्व आदि सादृश्य है ।

---

66 यदुक्तम् स्मृतीच्छोद्वषादिवत्.....न प्रमाणमिति।– *प्र.समु.वृ.*,१, पृ.२

67 *न्या.बि.टी.*, पृ. १०

68 मीयतेऽनेनेति मानम् । करणसाधनेन मानशब्देन सारूप्यलक्षणं प्रमाणमभिधीयते ।- वही, पृ.३०

69 किन्तु बाह्यार्थसद्भाववादे सारूप्यसम्भवः।
ध्रुवमभ्युपगन्तव्य इत्यर्थं स प्रकाशितः ॥- *तत्त्व.सं.*, का.१३५८

70 समानो धर्मो येषां ते सधर्माणः, तेषां भावः साधर्म्यम् ।- *कारि.*, १३

मीमांसक सादृश्य को सामान्य से भिन्न स्वीकार करते हैं । बौद्ध दर्शन में सादृश्य केवल एक मानसिक कल्पना है, इसकी बाह्य जगत् में सत्ता नहीं, न ही वह कोई परमार्थसत् वस्तु है । अतः इसे अन्यव्यावृत्ति के रूप में ही समझा जा सकता है । अर्थात् सारूप्य की व्यावृत्ति सादृश्य कहलाती है ।[71] शान्तरक्षित ने भी सारूप्य को अन्यव्यावृत्ति के रूप में ही स्वीकार किया है ।[72]

इस प्रकार दिङ्नाग से लेकर शान्तरक्षित तक सभी बौद्ध नैयायिकों ने अज्ञात अर्थ का बोधक मानते हुए ज्ञान में अर्थ के सारूप्य को प्रमाण माना है । किन्तु इस शोध का विषय धर्मकीर्ति की प्रमाणवार्त्तिक के अनुसार प्रमाण का स्वरूप-विवेचन होने के कारण यहाँ पर प्रमाणवार्त्तिक के अनुसार प्रमाण को जानना अपेक्षित है-

2.2.2.5.प्रमाणवार्त्तिक में प्रमाण-स्वरूप-

धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्त्तिक में प्रमाण का लक्षण प्रस्तुत करते हुए बतलाया है कि अविसंवादि ज्ञान प्रमाण है ।[73] अविसंवादन से अभिप्राय यथोपदर्शित अर्थक्रिया की योग्यता है[74] अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा वस्तु का बोध होता है, यदि वह वस्तु उसी रूप में प्राप्त हो जाती है तो वह ज्ञान प्रमाण कहलाता है क्योंकि विसंवाद अथवा अर्थ-व्यभिचार होने पर प्रमिति न होकर विपर्यय (मिथ्या प्रत्यय) होता है । यहाँ प्रमाण-लक्षण इस प्रकार प्राप्त होता है-

"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः ।
अविसंवादनं शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात्" ॥

---

71 *बौ.न्या.*, भाग- २, पृ. ४

72 यावद्धयो विजातीयेभ्यो व्यावृतः तावद्धय एव ज्ञानमपीतीदं सर्वात्मना सारूप्यम् । कतिपयपदार्थव्यावृत्तितस्त्वंशेन सारूप्यम् ।- *तत्त्व.सं.प.*, पृ.३४३

73 प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम् ।- *प्र. वा.*, १.३

74अर्थक्रियास्थितिः अविसंवादनम् ।- वही, १.३

प्रस्तुत लक्षण में आये अविसंवादी और अर्थक्रियास्थिति अर्थात् अर्थक्रिया-कारित्व को समझना आवश्यक है क्योंकि इन्हीं के द्वारा प्रमाण का प्रामाण्य सिद्ध किया गया है ।

2.2.2.5.1.अविसंवादकत्व-

अर्थ-व्यभिचार से रहित ज्ञान अविसंवादी है और वही ज्ञान प्रमाण है क्योंकि विसंवाद अर्थात् अर्थ-व्यभिचार होने पर प्रमिति न होकर विपर्यय अथवा मिथ्या ज्ञान होता है । मनोरथनन्दी ने विसंवाद का स्वरूप कहा है- **"विसंवादनं विसंवादः वञ्चनम् । तद्योगात विसंवादि न तथा अविसंवादि"**[75] अर्थात् मिथ्याकथन विसंवाद है, वञ्चना भी है, यह संवादी नहीं होता ।

न्यायादि के प्रमाण-लक्षणों से यह भिन्न है, वहाँ 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' कहा गया है किन्तु धर्मकीर्ति ने अविसंवादक का अर्थ उपदर्शित वस्तु को प्राप्त करा देने वाला सम्यक् ज्ञान कहा है ।[76] मनोरथनन्दी ने प्रमाणवार्त्तिक-वृत्ति में यथोपदर्शित अर्थात् जिस रूप में वस्तु है उसी रूप में प्राप्त कराने की योग्यता को अविसंवादकत्व कहा है ।[77] अनुभव से बाधित न होने वाला ज्ञान अर्थात् अविसंवादक ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है । जिस प्रकार लोक में पूर्व प्रदर्शित वस्तु को प्राप्त करा देने वाला व्यक्ति संवादक कहलाता है, उसी प्रकार ज्ञान भी अपने द्वारा बोधित वस्तु को प्राप्त करा देने के कारण अविसंवादक कहलाता है । वार्त्तिकालङ्कारकार ने नैयायिकों के इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष को प्रमाण मानने के विषय में कहा है कि "इन्द्रिय-सन्निकर्षादि जो प्रमाण कहा गया है, वह विसंवाद रहित ज्ञान के उत्पादक होने के कारण उपलक्षणविधया प्रमाणव्यवहार मात्र

---

[75] *प्र.वा.मनो.वृ.,* मनोरथनन्दी, पृ. ३ (*प्रमाणवार्त्तिक* सहित, द्वारिकादास शास्त्री द्वारा सम्पादित, बौद्धभारती वाराणसी, १९९४)

[76] अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् ।- *न्या.बि.टी.*, पृ. १०

[77] यथोपदर्शितार्थस्य क्रियायाः स्थितिः प्रमाणयोग्यता=अविसंवादनम् ।- *प्र.वा.मनो.वृ.*, पृ. ३

है । विसंवाद-रहित सफल प्रवृत्ति के लिए तो साक्षात् प्रमाण की ही आवश्यकता होती है ।[78]

उपर्युक्त विषय में शंका की जा सकती है कि अविसंवादित्व जो प्रमाण का स्वरूप कहा गया है वह उचित नहीं क्योंकि विचारणीय वही होता है जो सन्दिग्ध और सप्रयोजन हो । न्यायभाष्यकार ने इस विषय में कहा है- **"नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते, किं तर्हि? संशयिते"** । इसलिए जो अविसंवादित्व धर्म है वह तो प्रमाण ज्ञान का स्वरूप ही है, अतः ज्ञान रूप धर्मी का ज्ञान होने पर ज्ञात ही हो जाता है, फिर किसकी परीक्षा होगी? और यदि अविसंवादित्व को ज्ञान का स्वरूप नहीं माना जाये तो फिर उस ज्ञान को प्रमाण भी नहीं कह सकते, किन्तु बौद्ध मत में तो ज्ञान को प्रमाण न माना जाये, ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि ऐसा मानने पर सिद्धान्त मत ही खण्डित हो जायेगा । सिद्धान्त मत में इस शंका के समाधानस्वरूप ही लक्षण में 'अर्थक्रिया-स्थित' पद का प्रयोग किया गया है, तथा कहा है कि अविसंवादित्व को ज्ञान का स्वरूप नहीं माना जाता अपितु अर्थक्रिया-स्थिति को अविसंवादित्व कहा जाता है ।[79] वह अर्थक्रिया-स्थिति इस प्रकार है-

2.2.2.5.2.अर्थक्रिया-स्थिति-

किसी वस्तु के होने में उसकी अर्थक्रियाकारिता प्रमाण होती है । और वह अर्थक्रियाकारिता है- अपने द्वारा सिद्ध होने वाले प्रयोजन को निष्पन्न करा देना । जैसे- जल से प्यास की तृप्ति, अग्नि से उष्णता होती है, वही जल और अग्नि की अर्थक्रिया है और उनकी सत्ता का प्रमाण है । तात्पर्य यह है कि ज्ञान का स्वरूपमात्र अवगत हो जाने से उस ज्ञान को प्रमाण नहीं कह सकते, जब तक कि उसमें अर्थक्रिया के निष्पादन का ज्ञान न हो । इस प्रकार अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु-सत्ता का लक्षण बन जाता है अर्थात्

---

78 (क) नाज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादि ।- *प्र.वा.मनो.वृ.*, पृ. ३

(ख) *प्र.वा.अलं*, पृ. ४

79 न स्वरूपमेवज्ञा नस्य प्रामाण्यं संवादित्व वा । अपितु अर्थक्रियास्थितिः अविसंवादनम् ।- वही

अग्नि आदि पदार्थों के दाह-पाक रूप अर्थ प्रयोजन की क्रियानिष्पत्ति की स्थिति अथवा समर्थता ही प्रामाण्य है तथा वह अर्थक्रिया-स्थिति ज्ञानकाल में न होकर भावी है । अतः ज्ञान का ज्ञान हो जाने मात्र से प्रमाण ज्ञात नहीं होता, अपितु अज्ञात ही रहता है ।[80] किसी एक अर्थक्रिया का स्थान दूसरी अर्थक्रिया नहीं ले सकती, इसीलिए एक वस्तु दूसरी वस्तु से अत्यन्त भिन्न है । इतना ही नहीं कि अर्थक्रिया-भेद के कारण घट से पट का भेद होता है, बल्कि एक रूप में दिखाई देने वाला एक घट भी वस्तुतः एक नहीं है, वह भी भिन्न-भिन्न प्रयोजनों की निष्पत्ति अथवा अर्थक्रिया के कारण भिन्न-भिन्न ही है । इस अर्थक्रियाकारित्व के कारण ही बौद्ध दर्शन में वस्तुओं की क्षणिकता है । इस प्रकार के वस्तुस्वभाव को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही अविसंवादी है तथा इस अविसंवादित्व के आधार पर ही ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित होता है ।[81]

यहाँ शंका होती है कि अर्थक्रिया-सम्बन्धी ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, वहाँ पर अर्थक्रिया-सम्बन्धिता का ज्ञान, ज्ञान का स्वरूप होने के कारण ज्ञान का ज्ञान होते ही ज्ञात हो जाता है" ।[82] सिद्धान्त मत में इसका समाधान है कि ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि अर्थक्रिया और ज्ञान का सम्बन्ध केवल ज्ञान के ज्ञान से ज्ञात नहीं होता क्योंकि जब घट और भूतलादि का सम्बन्ध देखते हैं तो वह द्विष्ठ अर्थात् अपने दोनों सम्बन्धियों में रहने वाला होता है, अतः वह सम्बन्ध अपने दोनों सम्बन्धियों के ज्ञान से ही ज्ञात होता है, केवल एक सम्बन्धी के ज्ञानमात्र से ज्ञेय नहीं है । इसलिए यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ज्ञान-काल में अर्थ-क्रिया नहीं रहती, इस कारण उस समय उसका ज्ञान नहीं होता, तो उसका अर्थात् अर्थक्रिया का ज्ञान के साथ सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता ।

उपर्युक्त चर्चा के विषय में पुनः शंका होती है कि यदि अर्थक्रिया से पूर्व में उत्पन्न ज्ञान को प्रमाण कहा जाये तो फिर अर्थक्रिया का ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण ? और अप्रमाण ज्ञान के द्वारा अर्थक्रिया का निश्चय नहीं हो सकता, इसलिए उसे प्रमाण ही मानना

---

80 *प्र.वा.अलं.*, पृ. ४

81 *बौ.त.भा.*, पृ. २०

82 ननु तत्संबन्धिता स्वरूपमेव, तत् कथं न स्वरूपसंवेदनमातावधारणम्? ।- *प्र.वा.अलं.*, पृ. ४

पड़ेगा । तब फिर उसकी प्रमाणता के लिए अन्य अर्थक्रिया के अधिगम पर निर्भर होना होगा । इस प्रकार पूर्व-पूर्व अर्थक्रिया को उत्तरोत्तर अर्थक्रिया के अधिगम की अपेक्षा होने पर अनवस्था नामक दोष से गुजरना पड़ेगा? सिद्धान्ती का मत्त है कि कथित अनवस्था दोष अनुचित है, क्योंकि जब उत्तरकालीन ज्ञान में अवभासित अर्थक्रिया की सत्ता से पूर्वोत्पन्न वह्न्यादि ज्ञानों में प्रमाणता मानी जाती है तब उसी समय अर्थात् अर्थक्रिया के ज्ञान काल में अवभासित अर्थक्रिया की अर्थक्रिया के द्वारा उस उत्तरभावी प्रथम अर्थक्रिया के ज्ञान में प्रमाणता क्यों नहीं मानी जा सकती ? तात्पर्य यह है कि जहाँ प्रथम ज्ञान में केवल वह्न्यादि का भान, द्वितीय ज्ञान में दाह-पाकादि रूप अर्थक्रिया और तृतीयादि ज्ञान में उत्तरोत्तर अर्थक्रिया का भान होता है, वहाँ निश्चित रूप से पूर्व-पूर्व ज्ञान को उत्तरोत्तर ज्ञान की अपेक्षा होने से अनवस्था होती है । किन्तु जहाँ एक ही प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय और उसकी अर्थक्रिया का भान हो जाता है, वहाँ अनवस्था कैसे हो सकती है अर्थात् अनवस्था दोष नहीं है[83] तथा वह अर्थक्रिया-स्थिति अविसंवादक पदार्थ है- इस विषय में केवल सामान्याभिधान किया गया है, उसका भान पृथक् ज्ञान से होता है या समूहालम्बनात्मक एक ही ज्ञान से- ऐसी किसी विशेष व्यवस्था का प्रदर्शन नहीं किया गया है ।[84]

अर्थक्रिया-स्थिति को अविसंवादक मानकर अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण मानने पर शंका की जाती है कि यह दाह-पाकादि रूप अर्थक्रिया तो स्वप्न में भी देखी जाती है अतः वह्नि का स्वप्न-ज्ञान तथा 'पीत-शङ्ख' आदि जो अप्रमाण ज्ञान हैं उनमें भी प्रमाण के इस लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । तथा शब्दादि ज्ञान जो प्रमाण है उनमें अव्याप्ति भी होगी, क्योंकि शाब्द ज्ञान के विषयीभूत वह्न्यादि की अर्थक्रिया न तो स्वतः अर्थात् उसी ज्ञान के द्वारा और न अन्य ज्ञान के द्वारा बोधित होती है । अतः प्रमाण का लक्षण "अविसंवादी ज्ञानं प्रमाणम्" ऐसा न करके "अबाधितार्थोऽनुभवः प्रमाणम्" इस प्रकार

---

83 यत्रार्थक्रियास्थितिरपरोपकल्पिता तद् यावत् प्रमाणम् । यत्र तु स्वस्तदैवार्थक्रियानुभव:, तत् सुतरामेव प्रमाणम् ।- *प्र.वा.अलं.*, पृ. ५

84 अर्थक्रियास्थितिरविसंवादनमिति सामान्येनाभिधानात् ।- वही पृ. ५

किया जाना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से स्वप्न अर्थक्रिया बाधित होने के कारण स्वप्न ज्ञानों में अतिव्याप्ति नहीं होगी और वह्न्यादि के शाब्द ज्ञान में अव्याप्ति भी नहीं होगी, क्योंकि उसका विषय अबाधित है ।[85]

सिद्धान्त पक्ष ने उक्त शंका का समाधान करते हुए कहा है कि पूर्वपक्ष के द्वारा की गयी शंका अयुक्त है क्योंकि शब्द-जनित या शब्द-विषयक ज्ञान शाब्द बोध कहलाता है तथा लक्षण में जो 'शाब्देऽपि' पद का प्रयोग किया गया है, यहाँ 'अपि' शब्द के द्वारा गन्धादि विषयक अन्य शाब्द ज्ञानों का ग्रहण भी अभिप्रेत है अर्थात् 'अपि' शब्द के द्वारा प्रत्यक्षादिरूप अन्य ज्ञानों का ग्रहण किया गया है । अतः जहाँ शब्द, गन्ध, रसादि चित्र-गुणात्मक पुष्पादि द्रव्य का चक्षु के द्वारा ग्रहण अथवा प्रत्यक्ष किया जाता है, वह ज्ञान भी चक्षु के अविषयीभूत शब्द, गन्धादि विषयों में अभिप्रेतार्थ-निवेदकत्वेन प्रमाण माना जाता है । किन्तु जहाँ पर अभिप्रेत अर्थ की प्रापकता नहीं देखी जाती वह ज्ञान प्रमाण ही नहीं होता, जैसे पट-प्रापक घट-ज्ञान या शुक्ति-प्रापक रजत-ज्ञान ।

इस प्रकार के ज्ञान अभिप्रेतार्थविषयक अनुमान परम्परा के माध्यम से भी प्रमाण नहीं कहे जा सकते क्योंकि अभिप्रेत अर्थ अर्थात् घट और रजत की प्राप्ति रूप अविसंवादकता का वहाँ अभाव है । बौद्धों का यह सार्वभौमिक लक्षण है कि जहाँ स्वाभिप्रेत वस्तु का प्रापकरूप अविसंवाद है, उस ज्ञान को ही प्रमाण माना जाता है । सजातीय अर्थ के ज्ञान की उत्पादकता या विजातीय अर्थ के ज्ञान की अनुत्पादकता मात्र पर प्रमाणता निर्भर नहीं है ।[86] अतः सभी शाब्द ज्ञानों में शब्दादि विषयों के स्वरूप की प्राप्ति ही अर्थक्रिया है, इसी कारण सभी शाब्द ज्ञान प्रमाण माने जाते हैं । शब्द-जनित ज्ञान

---

[85] ननु दाहपाकाद्यर्थक्रियेयं स्वप्नेऽपि सम्भवति पीतशङ्खादिज्ञाने च । शब्द-विषये तु ज्ञाने न दाहपाकाद्यर्थक्रिया स्वतः परतश्चार्थक्रियाभावात् । तस्मादबाधितो बोधः प्रमाणमिति युक्तम् ।- *प्र.वा.अलं.*, पृ. ६

[86] अभिप्रयाविसंवादात् प्रमाणं सर्वमुच्यते । न सजातिविजातीयविज्ञानोत्पत्तिमात्रतः ॥- वही, पृ. ९

वक्ता के अभिप्राय का सूचक होने के कारण प्रमाण माना जाता है[87] और वहाँ अभिप्रेत वस्तु का स्वरूप ज्ञान ही अविसंवादक है । अतः शाब्द ज्ञान में अव्याप्ति नहीं है ।

दूसरी जो स्वप्न ज्ञान में लक्षण की अतिव्याप्ति विषयक आक्षेप किया गया है उसको भी अनुचित कहते हुए सिद्धान्ती ने पूर्वपक्ष के द्वारा कहे गये लक्षण में ही दोषारोपण किया है कि- जो अबाधितार्थनुभवत्व का लक्षण कहा है उससे स्वप्न ज्ञान में अतिव्याप्ति की निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि अन्य ज्ञान के द्वारा पूर्व में हुए ज्ञान का विषयाभाव-ज्ञानरूप या बाध सम्भव नहीं । कोई भी ज्ञान अपने विषय में प्रवृत्ति और अन्य ज्ञान के विषयापहार की रचना नहीं कर सकता क्योंकि सभी ज्ञानों का यह स्वभाव है कि वे अपने विषय की ही स्वरूपसिद्धि किया करते हैं, अपितु किसी अन्य ज्ञान के विषय का बाध नहीं करते ।[88] इस प्रकार पूर्व और उत्तर ज्ञान का बाध्य-बाधकत्व भाव सम्भव नहीं हो सकता । अतः अबाधित-विषयक ज्ञान को प्रमाण नहीं कहा जा सकता, अपितु अर्थक्रियाकारित्व के आधार पर ही प्रमाणत्व सिद्ध होता है अर्थात् जिस ज्ञान में अर्थक्रियाकारित्व का अभाव है, वह अप्रमाण है और जिसमें अर्थक्रिया का उत्पादन स्वतः या परतः किसी भी तरह से हो जाता है, वह प्रमाण है । इसीलिए स्वप्न और अस्वप्नादि का विभाग न तो पारमार्थिक रूप से है और न ही विषय के बाधाबाध पर निर्भर है क्योंकि स्वप्नावस्था में अर्थक्रिया अविचलितावस्थारूप में नहीं रहती, भावनामात्र ही होती है । अतः विषय-वस्तु से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहने के कारण स्वप्नास्वप्न और प्रमाणाप्रमाण भेद केवल व्यवहार मात्र हैं, तात्त्विक नहीं ।[89]

इस प्रकार किसी ज्ञान को प्रमाण होने के लिए अविसंवादी होना आवश्यक है, अविसंवादकत्व की कसौटी अर्थक्रियाकारित्व है तथा वह अर्थक्रियाकारित्व ज्ञेय का स्वरूपबोध मात्र है । यही प्रमा की प्रवर्तनता अथवा प्रापकता है ।

---

87 (क) शाब्देऽप्यभिप्रायनिवेदनात् ।- *प्र.वा.*, १.३; (ख) शब्दविषयन्तु ज्ञानमभिप्रायनिवेदनात् प्रमाणम् ।- *प्र.वा.अलं.*, पृ. ८

88 न च स्वविषय प्रवृत्तमन्यविषयापहारं रचयितुमलम् । स्वविषय(ज्ञान) स्वविषयस्य रूपसाधनं हि ज्ञानानां धर्मः ।- वही, पृ. ६-७

89 व्यवहारमात्रमेवेदं स्वप्नास्वप्नभेदो नाम । तथा प्रमाणाप्रमाणभेद इति ।- वही, पृ. ६-७

"**अर्थक्रियासमर्थम् अविसंवादनम्**" के द्वारा जो प्रमाण का लक्षण धर्मकीर्ति ने किया है, यहाँ पर एक बात उल्लेखनिय है कि यहाँ बाह्य अर्थ का विवेचन सौत्रान्तिक की दृष्टि से किया गया है । इस विषय में प्रमाणवार्त्तिक में कहा भी गया है कि- "**अस्त्येषां विदुषां वादो बाह्यं त्वाश्रित्य वर्ण्यते**" ।[90] अतः अर्थक्रियासमर्थ जो वस्तु का स्वरूप है तथा अर्थप्रदर्शन जो ज्ञान का स्वरूप है, वह सब व्यावहारिक दृष्टि से ही है[91] अर्थात् सौत्रान्तिकों की दृष्टि से ही है ।

2.2.2.5.3.अज्ञातार्थप्रकाशकत्व-

अन्य बौद्ध नैयायिको की भांति धर्मकीर्ति ने भी अज्ञातार्थज्ञापकत्व को भी प्रमाण कहा है[92] अर्थात् वह ज्ञान प्रमाण है जिसका विषय अज्ञात हो । स्वरूप अर्थात् स्वलक्षण का ज्ञान हो जाने के पश्चात् जो सामान्यलक्षण-विषयक अनुमान ज्ञान होता है वह भी अज्ञात स्वलक्षण विषयक होने से ही प्रमाण होता है । सांवृत्तसत् अथवा भ्रम ज्ञान को अज्ञातार्थप्रकाशत्व से भिन्न करते हुए कहा है कि अज्ञातार्थ का प्रकाशक ज्ञान प्रमाण है, सांवृत्त अर्थात् शुक्ति में रजतादि का भ्रामक ज्ञान अज्ञातार्थ का प्रकाशक नहीं होता, अपितु रजतादि दृष्ट पदार्थ शुक्ति में कल्पित होता है । परमार्थ रजत से अभेद का आरोप करके 'इदं रजतम्' इस प्रकार का व्यवहार होता है । यह ज्ञान अज्ञातार्थ का प्रकाशक नहीं कहा जा सकता ।

यहाँ पर शंका की गयी है कि 'अविसंवादकत्व' को प्रमाण का लक्षण कहा जा चुका तो फिर 'अज्ञातार्थप्रकाशकत्व' से लक्षणान्तर का अभिधान किस प्रयोजन से किया गया है क्योंकि द्विचन्द्रादिविषयक भ्रम ज्ञानों का निवारण तो 'अविसंवादित्व' से हो ही जाता है ।

---

90 *प्र.वा.*, २.३९८

91 प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्तनम् । अज्ञातार्थप्रकाशो वा स्वरूपाधिगतेः परम् ।- वही, १.७

92 अज्ञातस्यार्थस्य प्रकाशकं ज्ञानं प्रमाणम् ।- *प्र.वा.अलं.*, पृ. ६९

उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुए कहा है कि यद्यपि द्विचन्द्रादि भ्रमज्ञानों में प्रामाण्य की अतिव्याप्ति की निवृत्ति 'अविसंवादी' पद के द्वारा हो जाती है, तथापि स्मृत्यादि गृहीत-ग्राही अप्रमाण रूप ज्ञानों में प्रामाण्य की अतिव्याप्ति का प्रसंग बना ही रहता है, क्योंकि उनमें भी अविसंवाद पाया जाता है ।[93] अतः 'अज्ञातार्थप्रकाशक' को प्रमाण का लक्षण कहने से स्मृत्यादि में अतिव्याप्ति का निवारण हो जाएगा, क्योंकि स्मृत्यादि ज्ञान गृहीत-ग्राही होते हैं, अज्ञातार्थ-ज्ञापक नहीं ।

यहाँ पर एक विचारणीय विषय है कि जो 'अज्ञातार्थप्रकाशकत्व' प्रमाण का लक्षण कहा गया है, उसमें 'अर्थ' से अभिप्राय केवल परमार्थत्व से है क्योंकि घट-पटादि सांवृतिक पदार्थों में अविसंवाद रहने पर भी अर्थत्व अथवा परमार्थत्व नहीं रहता । इसलिए यहाँ पर लक्षण का स्वरूप "**अज्ञातपरमार्थप्रकाशः प्रमाणम्**" इस प्रकार निष्पन्न होगा ।[94] परमार्थसत् स्वलक्षण को कहा गया है जो प्रत्यक्ष का विषय है ।[95] वह परमार्थ है- 'अद्वैतरूपता'[96] अर्थात् वह विज्ञान मात्र है उसमें द्वैत का विधान नहीं हो सकता । वार्तिकालंकारकार ने इस विषय में कहा है कि ज्ञाननिष्ठ परमार्थ प्रकाशनता ही प्रमाणता है, अतः इन प्रमाण लक्षणों में 'अज्ञातार्थप्रकाशन' पारमार्थिक प्रमाण का लक्षण है और पूर्वोल्लेखित 'अविसंवादिज्ञान' व्यावहारिक प्रमाण का लक्षण है ।

उपर्युक्त विषय में शंका होती है कि यदि अज्ञातार्थ-प्रकाशक ज्ञान को पारमार्थिक प्रमाण माना जाता है, तब तो वह्निनत्वादि सामान्य को विषय करने वाले अनुमान ज्ञान को भी पारमार्थिक प्रमाण मानना होगा, जबकि वह व्यावहारिक प्रमाण मात्र कहा गया है । उसका विषयीभूत सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत नहीं, अतः अनुमान अज्ञातार्थ का प्रकाशक है । इसी शंका को स्वयं धर्मकीर्ति ने भी उठाया है[97] और उसका

---

93 सत्यमेतत् । तथापि अज्ञानार्थग्रहणेन गृहीतग्राही प्रत्ययः शक्यः परिहर्तुं नाविसंवादिग्रहणेन । तत्राप्यविसंवादग्रहणात् । न चाविसंवादेनार्थत्वगतिः ।- *प्र.वा.अलं.*, पृ. ६९

94 वही, पृ. ७०

95 तदेव परमार्थसत् ।- *न्या.बि.*, १.१४

96 परमार्थश्चाद्वैतरूपता ।- *प्र.वा.अलं.*, पृ. ७०

97 प्राप्तं सामान्यविज्ञानम् ।- *प्र.वा.*, १.८

समाधान करते हुए कहा है कि- यदि अगृहीतविषय के ग्राहक ज्ञान को ही प्रमाण माना जाता है, तब अगृहीतसामान्य का ग्राहक अनुमान ज्ञान भी प्रमाण होगा और उक्त अतिव्याप्ति दोष घटित होगा । किन्तु प्रमाण का लक्षण केवल "**अज्ञातार्थज्ञापकं ज्ञानं प्रमाणम्**" इतना ही नहीं है, अपितु "**अज्ञातस्वलक्षणविषयकं ज्ञानं प्रमाणम्**" इस प्रकार है । अतः सामान्यविषयक ज्ञान अगृहित-ग्रहण होने पर भी प्रमाण नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह ज्ञान स्वलक्षणविषयक न होकर सामान्यलक्षणविषयक ही होता है । और यहाँ पर केवल स्वलक्षण ही विचारणीय है, क्योंकि स्वलक्षण ही अर्थक्रियाकारी होता है, सामान्यलक्षण नहीं ।[98] तात्पर्य यह है कि स्वलक्षण मात्र में ही प्रमाण की प्रवृत्ति होती है, सामान्यलक्षण में प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं होती ।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि सामान्य में प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती तो फिर पदार्थों की समानता के आधार पर जो प्रत्यभिज्ञा ज्ञान होता है, वह कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि- सामान्य पदार्थ का ज्ञान न रहने पर भी पूर्वाभ्यास के द्वारा प्रवृत्ति हो जाती है तथा ज्ञात सामान्य पक्ष में भी जब तक स्वलक्षण का ज्ञान न हो तब तक विषय में प्रवृत्ति नहीं होती । अतः प्रवर्तक न होने के कारण सामान्य ज्ञान प्रमाण नहीं है और यदि सामान्य ज्ञान को प्रवर्तक मान भी लिया जाये तब भी सामान्योन्मुखतया किसी की विषय में प्रवृत्ति नहीं होती, अपितु विशेषोन्मुख ही होती है । फलतः सामान्य ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता । स्वसंवेदन के द्वारा केवल स्वलक्षण का ही ग्रहण होता है, इसलिए वही प्रमाण है । 'अज्ञातार्थप्रकाशक' के 'अर्थ' के द्वारा केवल परमार्थ का ही ग्रहण होने से वह अद्वैतरूप है, इसलिए उसमें "**सामान्यलक्षणमन्यत् स्वलक्षणमन्यत्**" इस प्रकार का प्रयोग भी नहीं हो सकता ।[99]

---

98 अविज्ञाते स्वलक्षणे । यज्ज्ञानमित्यभियात् स्वलक्षणविचारतः ॥- *प्र.वा.*, १.८

99 *प्र.वा.अलं.*, पृ. ७३

प्रमाणवार्त्तिकालंकारकार ने कहा है कि अज्ञात स्वलक्षण ही अनुमानादि ज्ञानों में प्रतीत होता है, उसका भेद नहीं ।[100]

अन्य शंका उत्पन्न होती है कि यदि अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष के समान अज्ञात स्वलक्षण का ही भान होता है तो फिर प्रत्यक्ष और अनुमान रूप से प्रमाण भेद और बाह्य विज्ञान का भेद तथागत बुद्ध ने क्यों किया?

इसका उत्तर सिद्धान्तियों ने दिया है कि- 'अभिप्रायात्' अर्थात् अनुमान ज्ञान को अविसंवादी होने के कारण प्रमाण कहा गया है । बाह्य विज्ञान वासना के वशीभूत शिष्यों की अपेक्षा को ध्यान में रखकर तथागत ने अनुमान को भी प्रमाण मान लिया । वस्तुतः स्वसंवेदनात्मक एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अन्य कोई ज्ञान प्रमाण नहीं । अनुमानादि का प्रपञ्च शिष्यों के अनुरोध पर किया गया है । अनुमान के विषयभूत सामान्यलक्षण को स्वलक्षण के समान पारमार्थिक न मानने में बौद्धों का मत है कि वह काल्पनिक है, तथा विचार एवं तर्क के द्वारा उस काल्पनिक विषय का नाश हो जाता है, केवल स्वलक्षणतत्त्व ही अर्थक्रियाकारी होने के कारण विचारणीय रहता है अर्थात् अद्वैततत्त्व रूप उस स्वलक्षण से भिन्न कोई अन्य तत्त्व है ही नहीं, वह स्वलक्षण विज्ञान का स्वरूप है और बौद्धों के अनुसार एकमात्र विज्ञान ही सत् है ।[101]

इस प्रकार प्रमाण का लक्षण दो तरह से प्राप्त होता है, एक व्यावहारिक जो अविसंवादी ज्ञान के रूप में कहा गया है और दूसरा पारमार्थिक जो अज्ञातार्थप्रकाशक के रूप में कहा गया है । अतः अनुमान व्यवहारमात्र में प्रमाण कहा गया है और प्रत्यक्ष पारमार्थिक रूप से प्रमाण है । अविसंवादकत्व और अज्ञातार्थप्रकाशकत्व प्रमाणता की कसौटी के मूल नियामक तत्त्व हैं । इन्हीं के आधार पर भगवान् बुद्ध को भी बौद्धन्याय में प्रमाण कहा गया है- 'तद्वत् प्रमाणं भगवान'[102] से 'तद्वत्' अर्थात्

---

100 स्वलक्षणमेवात्र सर्वत्र ज्ञाने प्रतीयते, न च भेद इति ।- *प्र.वा.अलं.*, पृ. ७२

101 विनेयज्ञानाभिप्रायात् तमपेक्ष्य स्वसंवेदनमेकैवं प्रत्यक्षं प्रमाणं नापरम् ।- वही, पृ. ७३

102 *प्र.वा.*, १.९

अविसंवादितार्थबोधकत्व और अज्ञातार्थप्रकाशकत्व इन दोनों प्रमाणता से युक्त होने के कारण भगवान बुद्ध प्रमाण कहे गये हैं। क्योंकि उनके द्वारा उपदिष्ट दुःखादि रूप चार आर्यसत्य अविसंवादी और प्रमाणान्तर से अज्ञात हैं।[103]

प्रमाण-लक्षण व स्वरूप-विवेचन के पश्चात् प्रमाण-संख्या पर विचार करना अपेक्षित है। अतः उसी का विवेचन किया जा रहा है-

2.2.2.6.प्रमाण-संख्या-

प्रमाणों की संख्या के विषय में बौद्ध नैयायिकों ने प्रमेय का सहारा लिया है अर्थात् प्रमेय के आधार पर प्रमाण की संख्या निश्चित की है- 'मेयाधीना मानसिद्धिः'। बौद्ध न्याय में दो ही प्रमाण स्वीकृत हैं- प्रत्यक्ष और अनुमान। इसके पक्ष में उनकी उक्ति है कि दो प्रकार का ही प्रमेय है। अतः प्रमाण भी दो ही होने चाहिए।[104]

यद्यपि दिङ्नाग से पूर्ववर्ती आचार्यों ने दो से अधिक प्रमाण भी माने हैं, जैसे- नागार्जुन की विग्रहव्यावर्त्तनी और उपायहृदय में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने हैं। इसी प्रकार असंग ने योगाचार भूमिकाशास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण माने हैं।[105] परन्तु तर्कशास्त्र, वाद-विधि, प्रमाणसमुच्चय, प्रमाणवार्त्तिक, न्यायमुख आदि में दो ही प्रमाण स्वीकार किये गये हैं।[106] सर्वप्रथम दिङ्नाग ने प्रमेयद्वैविध्य द्वारा प्रमाणद्वैविध्य को स्वीकार किया है।[107]

---

103 हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः॥
दयालुत्वात् परार्थं च सर्वारम्भाभियोगतः।
ततः प्रमाणं तायो वा चतुः सत्यप्रकाशनम्॥- *प्र.वा.*, १.३४,१४८

104 प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणे यस्माद् लक्षणद्वयं प्रमेयम्। ⊢ *प्र.समु.*, १.२

105 G. Tucci, *Pre. Dignaga B.L.*, Introduction, p. 17 (GOS, Vol. XLIX, Baroda, 1930)

106 तद् द्विविधं प्रत्यक्षमनुमानं चेति। ⊢ *बौ.त.भा.*, पृ. ७

107 अत्र प्रमाणं द्विविधमेव । कुतश्चेत्? द्विलक्षणं प्रमेयम्। स्वसामान्यलक्षणाभ्यां भिन्नलक्षणं प्रमेयान्तरं नास्ति।- *प्र.समु.*, पृ. ४

इसके पश्चात् धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर आदि सभी विद्वानों ने प्रमाणद्वैविध्य का ही समर्थन किया है ।[108] उनके अनुसार शेष सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं दो प्रमाणों में हो जाता है ।[109]

धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग का अनुसरण करते हुए ही विषय-द्विविधता के आधार पर प्रमाण-द्विविधता को स्वीकार किया है । ये दो प्रमाण- प्रत्यक्ष और अनुमान हैं । इनमें अविसंवादकता होने से प्रमाणता मानी जाती है और उस अविसंवादकता का कारण यह है कि ये दोनों प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान अर्थ अथवा विषयवस्तु से अव्यभिचरित हैं । इन दोनों में अव्यभिचरितता का दर्शन प्रत्यक्षत्व और अनुमानत्व धर्मों के द्वारा होता है । शाब्दत्वादि अन्य धर्म अव्यभिचरितता के प्रयोजक नहीं है, क्योंकि शाब्दादि ज्ञानों का अर्थ के साथ सम्बन्ध ही नहीं होता, क्योंकि वह अर्थ अर्थात् प्रमेय पदार्थ दो ही प्रकार का है- स्वलक्षण और सामान्यलक्षण । तथा ये दोनों प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों के विषय हैं, इसलिए प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा ही प्रमेय प्रतिपादित होता है ।[110] अतः प्रत्यक्ष और अनुमान को छोड़कर अन्य किसी पदार्थ से प्रमेय की अधिगति (बोध) नहीं होने से इन दोनों से भिन्न तीसरा प्रमाण नहीं हो सकता ।[111]

यहाँ पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि- प्रमाण के आधार पर प्रमेय की संख्या निर्धारित की जा सकती है, किन्तु प्रमेय के आधार पर प्रमाण-संख्या का निर्धारण उचित नहीं , क्योंकि प्रमाण साधक है और प्रमेय साध्य । इस आक्षेप का निरास करते हुए कहा गया है कि प्रमेयसिद्धि के लिए ही प्रमाण माना जाता है, प्रमाण के लिए प्रमेय नहीं । प्रमाण अंग है और प्रमेय अंगी । विषयाकार ही प्रमाण है और वह आकार विषय पर निर्भर है, अतः प्रमेय-द्वित्व से ही प्रमाण-द्वित्व न्यायोचित है । प्रमेय की सिद्धि

---

108 (अ) मानं द्विविधं मेयद्वैविध्यात् शक्त्यशक्तितः ।
अर्थक्रियायां केशादिर्नार्थोऽनर्थादिमोक्षतः ॥- *प्र.वा.*, २.१
(ब) द्विविधं सम्यग्ज्ञानम्, प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति ।- *न्या.बि.*, १.२.३

109 शेषप्रमाणानामत्रैवान्तर्भावात् ।- *न्या.प्र.वृ.*, पृ.३५

110 *प्र.वा.अलं.*, पृ. ४०९

111 प्रत्यक्षत्वानुमेयत्वमेवावितथप्रमेयत्वप्रतिपत्तिर्नापरा । सामान्यविशेषरूपादपरस्य प्रतिपत्तिप्रकारस्याभावात् । विषयस्य चैकस्यैव द्वैविध्यं प्रतिपत्तिप्रकारस्य द्वैविध्यात् । प्रतिपत्तिभेदश्च प्रमाणभेदः ।- वही, पृ. ४१०

प्रमाण से और प्रमाण की सिद्धि स्वसंवेदन से होती है। इस प्रकार से इन द्विविध प्रमेय के अतिरिक्त कोई तीसरा प्रमेय सम्भव नहीं होने से दो प्रमाण से अतिरिक्त कोई तीसरा प्रमाण भी नहीं हो सकता[112] तथा एक प्रमाण भी नहीं हो सकता क्योंकि दो प्रमेय निश्चित होने पर एक ही प्रमाण मानना उचित नहीं, द्वितीय प्रमेय का ग्राहक द्वितीय प्रमाण भी आवश्यक है क्योंकि प्रमाण व्यवस्था के पक्षधर बौद्ध नैयायिक केवल प्रथम प्रमाण से ही द्वितीय प्रमेय का ग्रहण नहीं करते। अतः प्रमाणों की संख्या न एक है और न ही तीन और चार, वह द्विविध प्रमेय के आधार पर द्विविध ही है।[113]

2.2.2.7.प्रमाण का विषय-

बौद्धन्याय में द्विविध प्रमाण के समान विषय या प्रमेय भी द्विविध ही है। प्रमाण-संख्या निर्धारण के समय ही यह स्पष्ट कर दिया गया कि विषय दो हैं इसलिए उनके ग्राहक प्रमाण भी दो ही हैं। ये दो प्रकार के विषय हैं- स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण। प्रमाणवार्त्तिककार ने सदृशत्व और असदृशत्व के भेद से भी प्रमेय को द्विविध कहते हुए समस्त विश्व को दो भागों में बांटा है।[114] यहाँ सदृशता से तात्पर्य समानता अथवा सामान्यलक्षण और असदृशता से असाधारणता अथवा स्वलक्षण है। इन दोनों में स्वलक्षण को परमार्थसत् और सामान्यलक्षण को संवृतिसत् कहा गया है जो बौद्धन्याय के द्विविध सत् कहे जाते हैं।[115]

स्वलक्षण का अर्थ बताते हुए धर्मकीर्ति ने लिखा है- जो वस्तु समीप में स्थित होकर स्फुट आभास तथा दूर स्थित होकर अस्फुट आभास उत्पन्न करती है, वही स्वलक्षण

---

112 न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य सम्भवः।
तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥- *प्र.वा.*, २.६३

113 त्र्येकसंख्यानिरासो वा प्रमेयद्वयदर्शनात्।
एकमेवाप्रमेयत्वादसतश्चेन्मतं च नः ॥- वही, २.६४

114 सदृशासदृशत्वाच्च विषयाविषयत्वतः।
शब्दस्यान्यनिमित्तानां भावे धीसदसत्त्वतः ॥- वही, २.२

115 अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्।
अन्यत् संवृत्तिसत् प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे ॥- वही, २.३

है[116] तथा वही परमार्थ सत् है[117] अर्थात् लोक में जो अग्नि आदि पदार्थ हैं वे वस्तु के साधारण रूप हैं । वस्तुतः उसका परमार्थ सत् स्वरूप जो अर्थ क्रिया समर्थ रूप है, वह है अर्थात् जो अग्नि दहन-पाचन आदि में समर्थ है, वही यथार्थ एवं वस्तुसत् है । यह स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है ।

जिस पदार्थ के साथ अन्वय-व्यतिरेक रखती हुई बुद्धि उत्पन्न होती है । बुद्धि के साक्षात् जनक उस पदार्थ को स्वलक्षण कहते हैं, क्योंकि उस पदार्थ का साक्षात् अर्थात् स्वरूपतः ग्रहण होता है, उससे भिन्न सामान्यलक्षण अतीन्द्रिय होता है ।[118]

सामान्यलक्षण के विषय में कहा गया है- स्वलक्षण से भिन्न सामान्यलक्षण है[119] अर्थात् ज्ञान का वह विषय जो स्वलक्षण नहीं है, वह सामान्यलक्षण है । सामान्यलक्षण का अर्थ है- वस्तु का साधारण रूप । यह अनुमान का विषय है । इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनिय है कि प्रत्येक प्रमाण के दो-दो विषय माने गये हैं- ग्राह्य एवं अध्यवसेय । जिस विषय के आकार वाला ज्ञान उत्पन्न होता है, वह विषय ग्राह्य है । यह ग्राह्य विषय भी दो प्रकार का होता है- परमार्थसत् और आरोपित । प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय परमार्थसत् वस्तु होती है और अनुमान का आरोपित वस्तु । दोनों प्रकार के ग्राह्य विषय का अपने ज्ञान में प्रकाशन होता है । वस्तुतः बौद्धमत में ग्राह्य विषय वह है, जो ज्ञान का हेतु है ।

अध्यवसेय विषय वह है, जिसका ज्ञान में प्रतिभास तो नहीं होता, किन्तु वह प्रवृत्ति का विषय अवश्य होता है । इसीलिए उसे प्रापणीय विषय भी कहा जाता है । क्योंकि ज्ञान द्वारा जिस वस्तु में व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है, वही वस्तु उस ज्ञान का प्रापणीय विषय कहलाती है । प्रत्यक्ष का अध्यवसेय विषय क्षणसन्तान है तथा अनुमान का अध्यवसित

---

116 यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञान प्रतिभास भेदस्तत् स्वलक्षणम् ।- *न्या.बि.*, १.१३

117 तदेव परमार्थसत् ।- वही, १.१.४

118 बुद्धिर्यत्रार्थसामर्थ्यादन्वयव्यतिरेकिणौ ।
तस्य स्वतन्त्र ग्रहणमतोऽन्यद्वस्त्वतीन्द्रियम् ॥- *प्र.वा.*, २.५९

119 अन्यत् सामान्यलक्षणम् ।- वही, १.१६

स्वलक्षण । प्रत्यक्ष ज्ञान वस्तुस्वरूप पर साक्षात् रूप से आश्रित होता है, जबकि अनुमान नहीं होता । इसी भेद को प्रकट करने के लिए स्वलक्षण को प्रत्यक्ष का ग्राह्य कहा जाता है और अनुमान का अध्यवसेय ।[120] इससे स्पष्ट होता है कि वस्तुओं के दो रूप होते हैं- सामान्य तथा विशेष । इन्हीं को सामान्य तथा स्वलक्षण के द्वारा कहा गया है । जैसे- घट वस्तु का सर्वसाधारण रंग, रूप तथा नाम आदि से युक्त रूप सामान्यलक्षण है, किन्तु प्रत्येक घट का एक विलक्षण अथवा निजी रूप भी होता है , जो उसे समस्त घटों से व्यावृत्त करता है । वह घटेतर गौ इत्यादि से भी भिन्न होता है । वस्तु के उस असाधारण सर्वतोव्यावृत्त स्वरूप को स्वलक्षण कहते हैं ।[121]

मीमांसक और न्याय-वैशेषिक आदि के अनुसार एक ही विषय को विभिन्न प्रमाणों से जाना जा सकता है । कुछ मीमांसकों के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण के दो विषय सामान्य और विशेष होते हैं, किन्तु अनुमान का विषय सामान्य ही हो सकता है, विशेष नहीं ।[122] न्याय-वैशेषिक सामान्य और विशेष दोनों को ही दोनों प्रमाणों का विषय मानते हैं ।[123] सांख्य दर्शन में दोनों प्रमाणों का विषय त्रिगुण रूप सामान्य को ही माना गया है ।[124] चार्वाक के अनुसार चार भूत ही प्रमाण के विषय हैं,[125] यह प्रमाणसंप्लव कहा जाता है ।

किन्तु बौद्धमत में दोनों प्रमाणों के दो विषय माने गये हैं । प्रत्यक्ष का स्वलक्षण और अनुमान का सामान्यलक्षण । प्रत्यक्ष के विषय को अनुमान से या अनुमान के विषय को प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं जाना जा सकता । यही प्रमाण-व्यवस्था है ।

---

120 द्विविधो हि विषयः प्रमाणस्य ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति, अन्यो हि ग्राह्योऽन्यश्चाध्यवसेयः ।- *न्या.बि.टी.*, पृ.७०

121 वही, पृ.७२-७३

122 कैश्चिन्मीमांसाकादिभिः प्रत्यक्षस्य सामान्यविशेषौ द्वावपि विषयौ कल्पितौ अनुमानस्य सामान्यं विषयो न विशेषः ।- *न्या.प्र.पं.*, पृ.७४

123 न्यायवैशेषिकैस्तु परस्परविभक्तौ सामान्यविशेषौ द्वयोरपि ।- वही, पृ.७४

124 सांख्यस्तु द्वयोरपि सामान्य विषय इष्टात्रैगुण्यरूपस्य सामान्यस्याभ्युपगमात् ।- वही, पृ. ७४

125 भूतचतुष्टयं प्रमाणभूमिरिति च चार्वाकैः ।- वही

2.2.2.8.प्रमाण व प्रमा की अभिन्नता-

दार्शनिक क्षेत्र में प्रमाण और प्रमाणफल की चर्चा भी एक विशेष स्थान रखती है । न्याय-वैशेषिक तथा मीमांसक आदि बाह्यार्थवादी सम्प्रदाय प्रमाण और उसके फल को पृथक्-पृथक् मानते हैं । कुमारिल ने कहा है कि जिस प्रकार खदिर वृक्ष पर प्रहार करने से पलाश वृक्ष का छेदन नहीं होता उसी प्रकार यदि लोक में विचार करें तो कुल्हाड़ी रूप साधन और वृक्ष छेदन रूप साध्य में कभी भी एकत्व नहीं माना जा सकता अर्थात् साध्य और साधन सदैव भिन्न होते हैं ।[126]

किन्तु बौद्धन्याय में प्रमाण और प्रमाणफल की एकता को स्वीकार किया गया है । भाट्ट मीमांसक तथा अन्य यथार्थवादी विचारकों के विरोध में बौद्धों ने दिङ्नाग से लेकर शान्तरक्षित और कमलशीलपर्यन्त प्रमाण और प्रमाणफल की एकता को स्वीकार किया गया है । दिङ्नाग और धर्मकीर्ति दोनों ने ही स्पष्टतः यह स्वीकार किया है कि प्रमाण, प्रमेय और फल ये तीनों भिन्न नहीं अपितु एक ही ज्ञानात्म के विभिन्न रूप हैं ।[127] धर्मोत्तर ने भी यही कहा है कि वही ज्ञान प्रमाण है तथा वही प्रमाण का फल है ।[128] ये प्रमाता के रूप में किसी आत्मतत्त्व की सत्ता को नहीं मानते अपितु इनके अनुसार ज्ञान स्वयं ही ज्ञाता है, वही प्रमाण है तथा वही उसका फल है ।[129]

कमलशील ने भी इस विषय में कहा है कि प्रथम जब बाह्यार्थ का ज्ञान होता है, तब बुद्धि में अर्थ का सारूप्य प्रमाण होता है और उस विषयज्ञान सारूप्य का स्वसंवेदन उसका फल है, तब इस स्वसंवेदन की योग्यता ही प्रमाण है । ज्ञान की योग्यता का

---

126 छेदने खदिरप्राप्ते पलाशे न छिदा यथा ।
तथैव परशोलोक छिदया नैकतेति चेत् ॥- *तत्त्व.सं.*, का.१३४४

127 (क) पदाभासं प्रमेयं तत्प्रमाणफले पुनः।
ग्राहकाकारसंविति त्रयं नातः पृथक् कृतम् ॥- *प्र.समु.*, १.१०
(ख) अविभागो ही बुद्धयात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहक संविति भेदवानिव लक्ष्यते ॥- *प्र.वा.*, २.३५४

128 तदेव ज्ञानं प्रमाणं तदेव च प्रमाणफलम् ।- *न्या.बि.टी.*, पृ.८६

129 विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते ।
स्वविित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥- *तत्त्व.सं.*, का.१३४३

सम्बन्ध ज्ञान आदि से ही है, घट आदि बाह्यपदार्थ से नहीं । इस योग्यता के द्वारा ही ज्ञान की स्वसंवित्ति होती है । इस प्रकार योग्यता को ज्ञान के ज्ञान का साधन माना गया है ।[130]

2.2.2.9.**प्रामाण्य-विचार-**

बौद्ध प्रमाण-मीमांसा के विषय में एक विचारणीय तथ्य है कि जब बौद्धमत में ज्ञेयस्वरूपावबोध ही अर्थक्रियाकारित्व है और उसके आधार पर ही ज्ञान का अविसंवादित्व अथवा सम्यक् ज्ञानत्व निश्चित होता है तो फिर सभी ज्ञान अपनी उत्पत्ति के साधनों के आधार पर स्वतः ही प्रमाण हो जाते हैं या उसके लिए स्वातिरिक्त साधनों की अपेक्षा होती है? इस सम्बन्ध में बौद्धेतर मीमांसकादि प्रायः सभी दार्शनिक परतः प्रामाण्यवादी हैं, जो प्रमाणगत प्रामाण्य के निश्चय के लिए स्वातिरिक्त साधनों को आवश्यक समझते हैं । बौद्ध नैयायिक ज्ञान को परवेद्य न मानकर स्वसंविदित मानते हैं तथा ज्ञान को स्वसंविदित मानकर भी उसके प्रामाण्य के सम्बन्ध में स्वतः-परतः से बंधे नहीं हैं, अपितु इस सम्बन्ध में ये अनियमवादी हैं । किसी विषय के सम्बन्ध में यदि ज्ञाता को पहले से अभ्यास है तो वहाँ स्वतः प्रामाण्य होता है, जैसे- जौहरी को विभिन्न मणियों की पहचान में किन्तु अनभ्यस्त दशा में प्रामाण्य सन्दिग्ध रहता है, इसलिए वहाँ पर स्वातिरिक्त अर्थक्रिया-ज्ञान अथवा अनुमान की अपेक्षा होती है, ऐसी स्थिति में परतः प्रामाण्य होता है ।

प्रामाण्य संशय और विपर्यय के अभाव से होता है । संशय का अभाव अभ्यास-सिद्ध और और प्रत्यक्ष में एवं अनुमान में स्वतः होता है, अन्यत्र अनुमान से होता है । विपर्यय अर्थक्रिया के निर्भास से एवं अनुमान से ज्ञात होता है । वस्तुतः ऐसी स्थिति में अर्थक्रिया का निर्भास प्रत्यक्षान्तर ही होता है ।[131]

---

130 बाह्येऽर्थे प्रमेये विषयाधिगमः प्रमाणफलम्, सारूप्यं तु प्रमाणम् । *तत्त्व.सं.पं.*, पृ.३४०

131 *न्या. बि.ध. त. टी.*, पृ. १५ (प्रवेश)

विषय का निश्चय प्रमाण से होता है । प्रामाण्य के निश्चय का प्रश्न संशय होने पर होता है । अनुमान निस्संशय होता है । प्रत्यक्ष अनभ्यास-दशा में युक्त संशय को जन्म देता है । युक्त संशय होने पर प्रामाण्य का निश्चय समर्थक प्रमाणान्तर से होता है । अप्रामाण्य का निश्चय प्रबलतर बाधक प्रमाणान्तर से होता है । अप्रमाण्य के अभाव का निश्चय ज्ञान में स्वतः नहीं होता । व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञान स्वतः अप्रमाण नहीं है, पारमार्थिक दृष्टि से है । परतः प्रामाण्य भी अप्रामाण्याभाव के निश्चय के लिए एवं अनभ्यास-दशापन्न-प्रत्यक्ष के लिए ही है ।[132]

इस प्रापण-शक्ति अथवा प्रामाण्य का निश्चय सभी अर्थक्रिया की अनुभूति में और अनुमान में स्वतः ही होता है । प्रवर्त्तकता प्रत्यक्ष में कहीं स्वयं होती है, कहीं परतः । स्वतः वहाँ होती है जब अभ्यास के कारण सब और से भ्रम की शंका निरस्त हो, जहाँ निद्रा आदि से अनभिहत होकर प्रत्यक्ष ज्ञान निकट देशस्थ वस्तु का ग्रहण करता हो, जबकि व्यंजक के अधीन अन्य प्रकार की अभिव्यक्ति की आशंका न की जा सके । ऐसी स्थिति में विषय के रूप के संवेदन से ही ज्ञान सत्यार्थक निश्चित होता है । अन्य प्रकार के प्रवर्त्तक प्रत्यक्ष का प्रामाण्य अर्थ-क्रिया के अनुभव रूप स्वतः प्रामाण्य ज्ञानान्तर से निश्चित होता है अथवा अव्यवहित पश्चाद्वर्ती विषय के दर्शन से मध्यवर्ती भ्रान्ति के संशय के हटने से निश्चय होता है ।

2.2.3.वैशेषिक दर्शन में प्रमाण-स्वरूप –

यद्यपि प्राचीन वैशेषिक में कणाद से लेकर प्रशस्तपाद तक प्रमाणों के विषय में मौलिक विचार व्यक्त किये गये हैं । तथापि परवर्ती युग में न्याय दर्शन के साथ समन्वय हो जाने के कारण ऐसा कहा जाने लगा कि वैशेषिक दर्शन की अपनी स्वतन्त्र प्रमाण-मीमांसा विकसित नहीं होने के दो मुख्य कारण हैं- (i) वैशेषिक दर्शन पदार्थशास्त्र होने के कारण इस दर्शन में मुख्यतः प्रमेयों पर ही बल दिया गया, प्रमाण के विषय में मुख्यतः विचार

---

132 *न्या.बि.ध.टी.*, पृ. १५

नहीं किया गया । (ii) न्याय-वैशेषिक समान-तन्त्र होने से वैशेषिक दर्शन की प्रमाण-मीमांसा गौण हो गई तथा परवर्ती वैशेषिक आचार्यों ने प्रमाण परम्परा के क्षेत्र में नैयायिकों का ही अनुसरण किया है, किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, फिर भी कणाद, प्रशस्तपाद और उनके टीकाकार श्रीधराचार्य का प्रमाण विषयक चर्चा में अपना अलग दृष्टिकोण परिलक्षित होता है ।

वैशेषिक दर्शन में प्रमाणों की चर्चा प्रमेयों की सिद्धि के लिए की गई है । घट-पटादि प्रमेयों की सिद्धि प्रमाण के आधार पर होती है, अतः द्रव्यादि सात पदार्थों की सत्ता की स्थापना के लिए प्रमाण की आवश्यकता हुई ।

जैसा कि पूर्वोक्त है वैशेषिक दर्शन में यथार्थज्ञान का ही लक्षण किया गया है, उसके साधन अर्थात् प्रमाण का उल्लेख नहीं किया गया, किन्तु उत्तरकालीन वैशेषिक सम्प्रदाय के ग्रन्थों में न्यायदर्शन के समान ही प्रमाण का लक्षण किया गया है । वैशेषिक दर्शन द्वारा प्रतिपादित प्रमाण का स्वरूप तथा न्यायदर्शन द्वारा प्रतिपादित प्रमाण के स्वरूप में थोड़ा ही अन्तर प्रतीत होता है । वैशेषिक दर्शन के अनुसार प्रमाण या ज्ञान जो कि तर्क की विशेष समस्या है नानाविध आकृतियों को धारण कर लेता है, क्योंकि इसके प्रमेय विषय अनन्त हैं ।[133]

सर्वप्रथम वैशेषिक दर्शन-परम्परा में सूत्रकार कणाद ने बुद्धि अथवा ज्ञान के दो भेद किये हैं- (१) विद्या और (२) अविद्या । इनमें से जो दोष रहित ज्ञान है वह विद्या है तथा इन्द्रियों के दोष से एवं संस्कार के दोष से उत्पन्न होने वाली अविद्या है, अविद्या दुष्ट ज्ञान है ।[134] प्रशस्तपाद ने बुद्धि को अनेक प्रकार की कहा है, क्योंकि इसके विषय अनन्त हैं और यह प्रत्येक विषय में स्वतन्त्र रूप से सम्बद्ध है ।[135] किन्तु भाष्यकार ने यह भी कहा है कि यह बुद्धि व्यक्तिशः अनेक प्रकार की होने पर भी संक्षेप में विद्या

---

[133] चौधरी, नन्दिनी, *न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के प्रमाण विचार*, पृ. १०

134 इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्च विद्या । तद्दुष्टज्ञानम् । अदुष्टं विद्या ।- *वै.सू.* ९।२।१०-१२

135 *प्र.पा.भा.*, पृ. ४१०

तथा अविद्या के भेद से दो प्रकार की है ।[136] उपस्कारभाष्य में न्यायसूत्र १.१.१५ को उद्धृत करते हुए "**बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्य्यायाः**" कहकर बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान तथा प्रत्यय इन शब्दों को अभिधावृत्ति के द्वारा एक ही अर्थ का बोधक माना गया है[137] अर्थात् शंकरमिश्र ने बुद्ध्यादि शब्दों को परस्पर पर्याय बताया है। न्यायकन्दलीकार ने प्रशस्तपादभाष्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि बुद्धि एक ऐसी वस्तु है; जिसके द्वारा अनुकूल विषयों को ग्रहण और प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति होती है तथा उसकी उत्पत्ति और विनाश दोनों होते हैं । बुद्धि का आश्रय कोई दूसरा पदार्थ होता है, जिसमें उसकी उत्पत्ति से प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों उत्पन्न होती हैं ।[138] बुद्धि के द्विविध भेदों के में से निश्चयात्मक ज्ञान ही विद्या है, जिसका विषय बाधित न हो तथा विद्या से भिन्न या विपरीत अर्थ वाली अविद्या है ।[139]

प्रशस्तपाद ने अविद्या के जहाँ चार भेद स्वीकार किये हैं- संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय एवं स्वप्न ।[140] वहीं यथार्थ ज्ञान रूप विद्या के भी चार भेद बताये हैं – प्रत्यक्ष, अनुमिति, स्मृति और आर्ष ।[141]

किन्तु प्रमाज्ञान या यथार्थज्ञान के रूप में – प्रत्यक्ष और अनुमिति को ही स्वीकार किया गया है । शब्दादिजन्य जितने भी प्रमाज्ञान हैं, वे सभी अनुमिति में ही अन्तर्भूत हैं । फलतः प्रमाकरण या प्रमाण भी प्रत्यक्ष व अनुमान भेद से दो ही हैं ।

---

136 तस्याः सत्यप्यनेकविधत्वे समासतो द्वे विधे- विद्या चाविद्या चेति ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ४११

137 *वै.सू.उप.भा.*, पृ. ४४७-४४८ (ढुण्ढिराज शास्त्री कृत प्रकाशिका हिन्दी व्याख्या)

138 यस्या अमी पर्यायशब्दाः, सा बुद्धिः । या पुनरियं प्रक्रियोपदर्शिता सा प्रतीत्यभावादेव पराणुद्यते । विषयहानोपादानानुगुणमुत्पादव्यधर्मकमेकम्, तदधिकरणं चापरम्, यस्य तदुत्पादात् प्रवृत्तिनिवृत्ती स्याताम् ।- *न्या.क.*, पृ. ४१२

139 निःसन्दिग्धाबाधिताध्यवसायात्मिका प्रतीतिर्विद्या, तद्विपरीता चाविद्येति ।- वही, पृ. ४१४

140 तत्राविद्या चतुर्विधा- संशयविपर्ययानध्यवसायस्वप्नलक्षणा ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ४११

141 विद्यापि चतुर्विधा-प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा ।- वही, पृ. ४४१

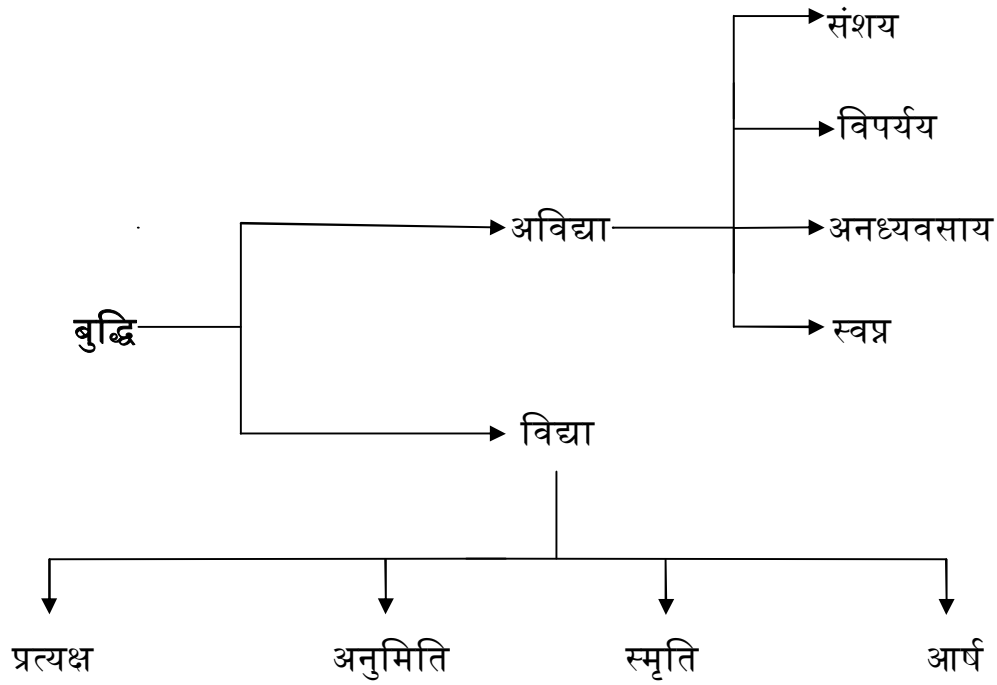

2.2.3.1.अविद्या-

विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान की चर्चा करने से पहले अविद्या अथवा अयथार्थ ज्ञान के विषय में जानना भी आवश्यक है, क्योंकि किसी विषय में प्रवृत्ति के लिए अन्य विषयों से निवृत्ति भी उतनी ही आवश्यक है, अतः यहाँ अविद्या के स्वरूप एवं भेदों के विषय में वर्णन आवश्यक है-

2.2.3.1.1.संशय-

सूत्रकार कणाद का कहना है कि "सामान्य धर्मों का प्रयत्न होना, किन्तु विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष व स्मरण न होने से संशय किसी भी वस्तु में हो जाता है" ।[142] प्रशस्तपाद ने इस विषय में कहा है कि जिन दो वस्तुओं के साधारण धर्म पहले से ज्ञात हैं, उन दोनों के

[142] सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशय । *वै.सू.*, २.२.१७

केवल साधारण धर्म रूप सादृश्य के ज्ञान एवं उसके पश्चात् दोनों के असाधारण धर्मों के स्मरण और अधर्म इन तीन हेतुओं से- 'यह अमुक वस्तु है?' या 'उससे भिन्न है?' इस प्रकार का विरोधात्मक ज्ञान ही संशय है ।[143] उपस्कारभाष्य में कहा गया है कि एक ही धर्मी में विरुद्ध अनेक धर्मप्रकारक ज्ञान संशय है ।[144] कणादरहस्य में भी आचार्य शंकरमिश्र ने इसी मत को उद्धृत किया है । विद्योदयभाष्यकार ने संशय की व्याख्या करते हुए कहा है कि संशय ज्ञान में भय अवश्य रहता है, यदि भय या आशंका न हो तो संशय ज्ञान होगा ही नहीं । इसका उदाहरण दिया है- सांयकाल में एक व्यापारी धन लेकर जंगल से होते हुए घर आता है । रास्ते में धन का तथा अपनी जान का उसे क्रमशः चोर एवं हिंसक जन्तुओं से भय रहता है । तब वह 'स्थाणु' जैसे किसी आकार विशेष में 'स्थाणु है या पुरुष'? यह आशंका करता है ।[145]

न्यायकन्दलीकार का मत है कि यह स्थाणु है या पुरुष? इस प्रकार का अनिश्चित तथा दोनों पक्षों को स्पर्श करने वाला अर्थात् दो विरुद्ध विषयों का विशेष प्रकार का ज्ञान ही संशय है ।[146]

संशय को द्विविध कहा है- (i) अन्तः संशय (ii) बहिः संशय । बाह्यविषयक संशय भी दृष्ट एवं अदृष्ट भेद से दो प्रकार का माना गया है।[147] स्थाणु तथा पुरुष में समान रहने वाला दृश्यमान ऊर्ध्वतादिधर्म जब संशय का कारण होते हैं, तब दृश्यमानधार्मिक बहिःसंशय होता है । किसी मनुष्य को पूर्व में (केशयुक्त, वस्त्रयुक्त) जैसा देखा गया था,

---

143 संशयस्तावत् प्रसिद्धानेकविषयोः सादृश्यमात्रदर्शनादुभयविशेषानुस्मरणादधर्माच्च किंस्विदित्युभयालम्बी विमर्शः संशय ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ४११-१२

144 एकस्मिन् धर्मिणि विरोधिनानाप्रकारकं ज्ञानं संशय इति ।- *वै.सू.उप.भा.*, पृ. १७६

145 शास्त्री, उदयवीर, *वै.द.*, पृ. १०६

146 किं स्थाणुः? किं वा पुरुषः? इति अनवस्थितोभयरूपेणोभयविशेषसंस्पर्शी विमर्शो विरुद्धार्थविमर्शो ज्ञानविशेष संशयः ।- *न्या.क.*, पृ. ४१९

147 द्विविधः संशयो बहिर्विषयकोऽन्तर्विषयकश्च । बहिर्विषयकोऽपि दृश्यमानधर्मिकोऽदृश्यमानधर्मिकश्च ।- *वै.सू.उप.भा.*, पृ. १७६

उसी को दूसरे समय में (केशरहितादि) वैसा न देखना जब संशय का कारण होता है, तब वह अदृश्यमान धार्मिक बहिःसंशय होता है।[148]

विद्या-अविद्या से भी संशय ज्ञान होता है ।[149] जैसे- किसी ज्योतिषी ने कहा कि अमुक समय चन्द्रग्रहण होगा, यह सत्य भी हो सकता है और असत्य भी । इस प्रकार का संशय अन्तःविषयक संशय है ।[150]

2.2.3.1.2.**विपर्यय-**

जैसे संशय प्रत्यक्ष एवं अनुमान से ज्ञात विषयों का ही होता है, वैसे ही विपर्यय भी इन दोनों का ही होता है । जिन दो वस्तुओं के असाधारण धर्म ज्ञात हैं, उन दोनों में से एक वस्तु में दूसरी वस्तु का ज्ञान ही विपर्यय है । इसकी उत्पत्ति उक्त विषयों के यथार्थ ज्ञान का अभाव, आत्मा एवं मन के संयोग एवं अधर्म इन तीन हेतुओं से होती है । इन कारणों में आत्म-मनस् संयोग को उक्त दोनों विषयों के ज्ञान से उत्पन्न संस्कार का सहायक भी अपेक्षित रहता है । विपर्यय वात्, पित्त एवं कफ के प्रकोप से बिगड़ी हुई इन्द्रिय वाले पुरुष को ही होता है । जैसे- गौ में अश्व का ज्ञान विपर्यय है ।[151] इस विपर्यय के भी अनेक भेद प्राप्त होते हैं, जैसे-

- प्रत्यक्ष-विषयक विपर्यय वहाँ होता है, जहाँ वस्तुतः प्रत्यक्ष के न रहने पर भी प्रत्यक्ष का अभिमान होता है । जैसे- मेघ से रहित यह प्रकाश बिना तरंग के समुद्र की तरह है तथा रात का यह अंधकार अंजन के चूर्ण की तरह कृष्ण वर्ण का है ।[152]

---

148 यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च ।- *वै.सू.*, २.२.१९

149 विद्याऽविद्यातश्च संशय ।- वही, २.२.२०

150 *वै.सू.उप.भा.*, पृ. १७८

151 *प्र.पा.भा.*, पृ. ४२३-४२६

152 असत्यपि प्रत्यक्षे प्रत्यक्षाभिमानो भवति, यथा व्यपगतघनपटमचलजलनिधिसदृशमम्बरमञ्जश्यामं शार्वरं तम इति ।- वही, पृ. ४२६-२७

- अनुमान-विषयक विपर्यय- वाष्प को धूम समझकर उसके द्वारा जल में वह्नि का अनुमान तथा गवय के सींग को देखकर गौ का अनुमान।[153]

- अन्य भी कुछ विपर्यय हैं, जैसे- त्रयी के विरुद्ध मत वाले बौद्धादि दर्शनों में 'यही मोक्ष का कारण है' इस प्रकार का अभिमान भी विपर्यय है। शरीर इन्द्रिय तथा मन को आत्मा समझना भी विपर्यय कहलाता है। उत्पत्तिशील वस्तुओं में नित्यत्व का ज्ञान, कारण के न रहने पर भी कार्योत्पत्ति का ज्ञान, हितोपदेश करने वाले में अहित का भान तथा अनिष्ट उपदेशकर्ताओं में हित का ज्ञान। ये सभी विपर्यय के उदाहरण हैं।[154]

इस प्रकार मिथ्या निश्चय ही विपर्यय है। संशय अनिश्चयात्मक होता है जबकि विपर्यय अयथार्थ किन्तु निश्चयात्मक ज्ञान होता है।

2.2.3.1.3.**अनध्यवसाय-**

प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा ज्ञात होने वाले विषयों का ही अनध्यवसाय भी होता है। इनमें पहले से ज्ञात किसी अन्य विषय में मग्न अथवा किसी विशेष प्रकार की प्रतीति की इच्छा या किसी प्रयोजन से अभिभूत पुरुष का 'यह क्या है?' इस प्रकार का केवल आलोचन ज्ञान ही प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात होने वाले विषय का अनध्यवसाय है। जैसे- भार ढोने वाले पुरुष को कटहल प्रभृति फलों को देखने के बाद यह अनिश्चयात्मक (अनध्यवसाय) ज्ञान होता है कि यह क्या है? उस भारवाही पुरुष को भी सत्ता, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, वृक्षत्व, रूपत्व एवं शाखा प्रभृति को एक रूप से समझाने वाली पनसत्व जाति का भी निश्चय ही है। केवल उसे यह विशेष रूप से ज्ञात नहीं रहता है कि 'इसका नाम क्या है?' नारिकेल द्वीप में रहने वाले को केवल सास्ना को देखने से जो

---

153 अनुमानविषयेऽपि वाष्पादिभिर्धूमाभिमतैर्वह्न्यनुमानम्, गवयदर्शनाच्च गौरिति।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ४२८

154 वही, पृ. ४२८-२९

'यह कौनसा प्राणी होगा?' इस प्रकार का अनध्यवसाय होता है, वह अनुमानिक अनध्यवसाय है ।[155]

शंकरमिश्र ने कणादरहस्य में अनध्यवसाय को संशय से भिन्न बताया है- अनध्यवसाय 'यह क्या है?' इस प्रकार का ज्ञान है, किन्तु वह संशय नहीं है क्योंकि इसमें विरोधी कोटियाँ नहीं होती तथा यह समानधर्मा विप्रतिपत्तियों से जन्य भी नहीं है ।[156]

2.2.3.1.4.**स्वप्न-**

जिस प्रकार आत्मा तथा मन के संयोग विशेष और संस्कार से स्मरणज्ञान होता है, उसी प्रकार स्वप्नज्ञान भी होता है ।[157] इन्द्रियों के व्यापारों के शान्त होने पर जिसका मन स्वरूप में लीन रहता है, ऐसे मनुष्य को इन्द्रिय व्यापार से होने के समान जो अनुभव होता है उसे स्वप्नज्ञान कहते हैं ।[158] स्वप्न के विषय में प्रशस्तपाद ने कहा है कि जिस व्यक्ति की सभी इन्द्रियाँ मन के प्रलीन होने के कारण विषयों के ग्रहण से विमुख रहती है, उसे केवल मनस् रूप इन्द्रिय से जो ज्ञान होता है, वही स्वप्नज्ञान है ।[159]

स्वप्नज्ञान की प्रक्रिया- प्रशस्तपाद ने स्वप्नज्ञान की उत्पत्ति की प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार किया है- "शरीर के अतिसंचालन से शान्त व्यक्तियों को विश्राम देने के लिए एवं भोजन के परिपाक के लिए हृदय के बीच बाह्य इन्द्रियों से रहित आत्मा के प्रदेश में जिस समय जिस पुरुष का मन (इष्ट की प्राप्ति या अनिष्ट की निवृत्ति के लिए) आत्मा के द्वारा जानबूझकर निष्क्रिय होकर बैठ जाता है, उस समय उस व्यक्ति को प्रलीनमनस्क कहते हैं । मन की यह स्थिति उन क्रियाओं से होती है जो अदृष्टयुक्त आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होती है । ऐसी अवस्था में मन के निष्क्रिय होकर बैठ जाने के कारण

---

155 *प्र.पा.भा.*, पृ. ४३४-३५

156 *कणादरहस्य*, पृ. १२१ (कुमार, शशिप्रभा, *वै.द.प.नि.*, पृ. ३१३ पर उद्धृत)

157 आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराश्च स्मृतिः ।- *वै.सू.*, ९.२.६

158 तथा स्वप्नः ।- वही, ९.२.७

159 *प्र.पा.भा.*, पृ. ४३६-३७

बाह्य इन्द्रियां अपने कार्यों को करने में असमर्थ हो जाती हैं, तब प्राणवायु और अपानवायु की प्रवृत्तियाँ अधिक हो जाती हैं । उस स्थिति में 'स्वाप' नामक आत्मा और मन के बीच विशेष प्रकार के संयोग एवं संस्कार इन दोनों से जो मन रूप इन्द्रिय के द्वारा ही अविद्यमान-विषयक 'प्रत्यक्षप्रकारक' जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे स्वप्नज्ञान कहते हैं ।[160]

2.2.3.1.4.1.**त्रिविध स्वप्नज्ञान-**

(i).संस्कारपाटवजन्य- जब कामी या क्रुद्ध पुरुष बराबर किसी वस्तु की चिन्ता करते हुए सोता है, तब वह चिन्तित वस्तु स्वप्न में प्रत्यक्षाकार प्रतिभासित होती है ।

(ii).धातुदोषजन्य- स्वप्नज्ञान वात, पित्त, कफ आदि के दोष से भी उत्पन्न हो सकता है । वात प्रकृति के पुरुष को आकाशगमनादि का प्रत्यक्ष सदृश ज्ञान होता है । पित्त प्रकृति अथवा प्रकुपितपित्त पुरुष को अग्निप्रवेश, स्वर्णमय पर्वतादि उदित सूर्यमण्डल प्रभृति वस्तुओं को स्वप्न में देखता है । तथा श्लेष्म या कफप्रकृति के पुरुष को नदी-समुद्रादि में तैरने या बर्फ से भरे पर्वत का स्वप्न देखता है ।[161] ये धातुदोषजन्य स्वप्नों के उदाहरण हैं।

(iii).अदृष्टजन्य- स्वयं ज्ञात एवं दूसरों के लिए अज्ञात तथा स्वयं अज्ञात व दूसरों को ज्ञात विषयों के जितने स्वप्न शुभ-सूचक हैं, वे सभी संस्कार और धर्मरूप अदृष्ट से उत्पन्न होते हैं । जैसे- गजारोहण या छत्रलाभादि । उन्हीं विषयों के जितने स्वप्नज्ञान अशुभ के सूचक हैं, वे सभी अधर्मरूप अदृष्ट और संस्कार से उत्पन्न होते हैं । जैसे- तेल की मालिश, खरारोहण आदि के स्वप्न । स्वयं भी अज्ञात एवं दूसरों को भी अज्ञात सर्वथा

---

160 *प्र.पा.भा.*, पृ. ४३६-३८

161 *न्या.क.*, पृ. ४४१

अप्रसिद्ध विषयों के दर्शनरूप स्वप्नज्ञान केवल अदृष्ट से ही होते हैं, जैसे- सूर्यमण्डल का गल जाना ।[162]

शंकरमिश्र ने भी उपस्कारभाष्य में इसी तरह स्वप्न-प्रक्रिया को समझाया है तथा त्रिविध स्वप्नज्ञान को भी इसी क्रम में बतलाया है ।[163] तीनों प्रकार के स्वप्न में प्रथम दो कभी भी सत्य सिद्ध नहीं होते, अन्तिम कभी-कभी सत्य सिद्ध हो जाता है, किन्तु स्वप्न सामान्यतः मिथ्या ही माने जाते हैं ।[164]

यद्यपि संस्कार की विलक्षणता से यह स्वप्न अर्थों को साक्षात् प्रकाशित करने वाला हो जाता है, किन्तु वस्तुतः वह प्रत्यक्ष नहीं है । स्वप्न जागृतावस्था के मिथ्याज्ञानों यथा संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय से पृथक् है । संशय एवं अनध्यवसाय में मन अनिश्चित एवं द्विधाग्रस्त रहता है, जबकि स्वप्न में नहीं रहता क्योंकि स्वप्न में मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं होता जिससे विषयों का बोध नहीं हो पाता । विपर्यय जागृतावस्था में होता है, जबकि स्वप्न निद्राविशेष में होता है ।[165]

स्वप्नज्ञान के मध्य में स्वप्नानुभूत पदार्थों का जो स्मरण रूप ज्ञान होता है, वह स्वप्न नहीं हो सकता क्योंकि स्वप्नज्ञान अनुभव रूप होता है । कणाद ने कारण बताते हुए कहा है कि “आत्मा तथा मन के संयोग विशेष तथा संस्कार से जैसे स्वप्नज्ञान होता है वैसे ही स्वप्नमध्य में स्वप्न स्मरणरूप ज्ञान (स्वप्नान्तिक) भी होता है ।[166] स्वप्नान्तिक स्वप्नज्ञान से भिन्न होता है । स्वप्नज्ञान पूर्व में अनुभव किये गये पदार्थ के अनुभवजन्य संस्कार से उत्पन्न प्रत्यक्ष जैसा ज्ञान होता है, किन्तु स्वप्नान्तिक स्मृतिज्ञान होता है जो केवल उस स्वप्नकाल के अनुभव से उत्पन्न संस्कार से ही उद्‌भूत होता है ।[167]

---

162 *न्या. क.*, पृ. ४४०-४१

163 *वै. सू. उप. भा.*, पृ. ५१४-१५

164 कुमार, शशिप्रभा, *वै. द. परि.*, पृ. ३१४

165 *किरणा.*, पृ. २७१ (कुमार, शशिप्रभा, *वै. द. प. नि.*, पृ. ३१५ पर उद्‌धृत)

166 स्वप्नान्तिकम् ।- *वै. सू.*, ९.२.८

167 (क) *प्र. पा. भा.*, पृ. ४४०-४४१; (ख) *वै. सू. उप. भा.*, पृ. ४१५-४१६

2.2.3.2.**विद्या अथवा प्रमाण-विचार-**

यथार्थज्ञान रूप विद्या वैशेषिक दर्शन के अनुसार चार प्रकार की होती है- प्रत्यक्ष, लैङ्गिक (अनुमान), स्मृति, आर्षज्ञान ।[168] इन चारों में प्रत्यक्ष सर्वप्रथम वर्णित है क्योंकि यह अन्य सभी ज्ञानों का कारण है । प्रत्यक्ष के बाद अनुमान का निरूपण किया गया है, क्योंकि वह सीधे प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है । प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा केवल ज्ञात अर्थों की ही स्मृति होती है, अतः इन दोनों के निरूपण के बाद स्मृति का निरूपण हुआ है । आर्षज्ञान तो केवल लोकोत्तर पुरुषों को ही होता है, अतः उसका वर्णन लौकिक प्रमाणों के बाद किया गया है ।[169]

न्यायकन्दलीकार ने विद्या के विषय में कहा है कि जो सन्देह से भिन्न है और निश्चयात्मक ज्ञान है तथा जिसके विषय बाधित न हों, वह विद्या है- "**निःसन्दिग्धाबाधिताध्यवसायात्मिका प्रतीतिर्विद्या**" ।[170] इससे स्पष्ट है कि श्रीधराचार्य को विद्या अथवा यथार्थ ज्ञान अर्थात् प्रमाण का अबाधितविषयात्मक स्वरूप अभिमत है अर्थात् जिसका विषय बाधित न हो तथा इसके साथ भी निश्चयात्मक भी हो वह प्रमाण है । प्रमाण का यह लक्षण धर्मकीर्ति के प्रमाण लक्षण से साम्य रखता हुआ प्रतीत हो रहा है ।

प्रशस्तपाद तथा शंकरमिश्र आदि ने यद्यपि विद्या के चार भेद स्वीकार किये हैं, किन्तु स्मृति व आर्षज्ञान को प्रत्यक्ष व अनुमान में ही अन्तर्भावित किया है । वृत्तिकार ने कहा है कि वह योगिप्रत्यक्ष के अन्तर्गत होने से दूसरी विद्या नहीं है ।[171] प्रशस्तपाद ने इस विषय में अपने मत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सिद्धदर्शन प्रमाणान्तर नही है क्योंकि यदि सिद्धों का गुटिका, अञ्जन इत्यादि सिद्ध होने के कारण उत्पन्न हुआ माना

---

168 विद्यापि चतुर्विधा-प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ४४१

169 कुमार, शशिप्रभा, *वै.द.प.नि.*, पृ. ३१६

170 *न्या.क.*, पृ. ४१४

171 तद्योगिप्रत्यक्षेऽन्तर्भावान्न विद्यान्तरमिति वृत्तिकृतः ।- *वै.सू.उप.भा.*, पृ. ५१९

जाये तथा दूर के विषयों का ज्ञान सिद्धदर्शन कहा जाये तो वह प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भूत होता है और यदि स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी पर रहने वालों को सूर्यादि ग्रह, अश्विनी आदि नक्षत्रों के भ्रमण इत्यादि निमितों से उत्पन्न सिद्धदर्शन माना जाये तो वह लैङ्गिक अथवा अनुमान ही होगा, क्योंकि साहचर्य के देखे जाने के कारण वह व्याप्तिज्ञान के अधीन ही होगा ।[172] कदाचित् ही साधारण जन को यह ज्ञान होता है, जैसे कि कोई बालिका कहती है "मेरा मन कहता है कि कल मेरा भाई आयेगा" ।[173]

न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट का मत है कि आर्ष ज्ञान भी प्रमाण है क्योंकि यह सद्वस्तु से जन्य होता है, सन्दिग्ध ज्ञान नहीं, बाधित भी नहीं तथा किसी दोष से इसके कारण भी दूषित नहीं है,[174] जबकि श्रीधराचार्य कहते हैं कि यह आर्षज्ञान न तो संशय है, न विपर्यय और न ही अप्रमाण है, यह तो एक प्रमाण ही है ।[175] । आर्षज्ञान को ही प्रातिभ भी कहा जाता है किन्तु प्रातिभ ज्ञान अनुमान में ही अन्तर्भावित है इसलिए प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त कोई प्रमाण पूर्व वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत नहीं है ।

2.2.3.3.प्रमाण-संख्या- वैशेषिक दर्शन में भी बौद्ध दर्शन की भाँति दो ही प्रमाण स्वीकार किये गये हैं । ये दो प्रमाण- प्रत्यक्ष और अनुमान हैं । यद्यपि विद्या को चार प्रकार की कहा है किन्तु वे चारों प्रमाण न होकर केवल प्रत्यक्ष एवं अनुमान ही प्रमाण हैं । विद्या के प्रकार-कथन के समय ही यह विदित है कि यहाँ विद्या के तृतीय भेद स्मृति को प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा ग्राह्य कहा है तथा आर्ष ज्ञान का परिगणन लोकोत्तर पुरुषों के ज्ञान के अन्तर्गत किया है[176] । अतः प्रमाण केवल दो ही हैं- १प्रत्यक्ष, २ अनुमान ।

---

172 *वै.सू.उप.भा.*, पृ. ५१९

173 *प्र.पा.भा.*, पृ. ६२७-२८

174 कुमार, शशिप्रभा, *वै.द.प.नि.*, पृ. ३२५

175न चेदं संशयः, उभयकोटिसंस्पर्शाभावात् । न च विपर्ययः, संवादादतः प्रमाणमेव ।- *न्या.क.*, पृ. ६२९

176 तदनन्तरं स्मृतेः प्रत्यक्षानुमितेष्वर्थेषु भावात्, लौकिकप्रमाणान्ते संकीर्तनमार्षस्य लोकोत्तराणां पुरुषाणां तद्भावात् ।- वही, पृ. ४४२

2.2.3.4.प्रामाण्य-विचार-

वैशेषिक दर्शन परतः प्रामाण्यवादी है । श्रीधराचार्य ने मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवाद का खण्डन किया है । इस विषय में इनका मानना है कि प्रामाण्य न स्वतः उत्पन्न होता है और न स्वतः ज्ञात ही होता है । मीमांसक स्वतः प्रामाण्य को मानते हैं, क्योंकि उत्पन्न होने के बाद ज्ञान अपने में यथार्थपरिच्छेदकत्व को उत्पन्न करता है । किन्तु श्रीधराचार्य प्रमाण की उत्पत्ति यथार्थपरिच्छेद-स्वरूप मानते हैं तथा उसके प्रामाण्य के लिए दूसरे कारणों की अपेक्षा करते हैं ।[177] इस प्रकार वैशेषिक परतः प्रामाण्यवादी हैं।

निष्कर्ष-

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बौद्ध दर्शन में, विशेष रूप से प्रमाणवार्त्तिक के अनुसार अविसंवादी और अज्ञातार्थप्रकाशक ज्ञान प्रमाण कहा गया है और वह प्रमाण प्रमेय द्विविधता के आधार पर दो प्रकार का है- प्रत्यक्ष तथा अनुमान और उनका विषय है क्रमशः- स्वलक्षण तथा सामान्यलक्षण । बौद्धन्याय के अनुसार जो विषय जिस प्रमाण का है उसका ग्रहण उसी से होगा, अन्य प्रमाण से नहीं । बौद्धों का यह विशेष नियम प्रमाण-व्यवस्था कहलाता है । इसके अतिरिक्त प्रमाण और प्रमाणफल अथवा प्रमा की एकता बौद्धों की एक स्वतन्त्र विचारधारा है, जिसके आधार पर वही ज्ञान प्रमाण और वही ज्ञान प्रमाण का फल कहलाता है ।

इसी प्रकार वैशेषिकों की अपनी स्वतन्त्र प्रमाण-मीमांसा पर विचार करने पर यह विदित होता है कि यहाँ भी प्रमाण का कथन प्रमेय प्रसंग-काल में ही किया गया है, क्योंकि प्रमुख रूप से तो वैशेषिक का प्रणयन पदार्थशास्त्र के रूप में ही हुआ है । किन्तु फिर भी श्रीधराचार्य ने वैशेषिक की स्वतन्त्र प्रमाण-परम्परा को एक सुदृढ आधार प्रदान किया है । यहाँ प्रमाण को विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान स्वरूप कहा गया है, क्योंकि विद्या ही प्रमिति की प्रापक है, अविद्या के द्वारा प्रमिति का ग्रहण नहीं हो सकता ।

---

[177] यथार्थावबोधस्वभावस्यैव तस्य कारणादुत्पत्तिं पश्यन्तः परापेक्षमेव तस्य प्रामाण्यं मन्यामहे ।- *न्या.क.*, पृ. ५२६

अध्याय- 3

बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष का स्वरूप

प्रमाण सामान्य की बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन के अनुसार विस्तृत चर्चा करने के पश्चात् प्रत्यक्ष प्रमाण पर चर्चा करना स्वभाविक है । क्योंकि अन्य सभी भारतीय दर्शनों के अनुसार ही बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में भी प्रत्यक्ष प्रमाण ही सर्वप्रथम आता है । अतः यहाँ पर अब प्रत्यक्ष प्रमाण की चर्चा की जा रही है-

प्रत्यक्ष प्रमाण की महत्ता को प्रत्येक चिन्तनशील प्राणी स्वीकार करता है क्योंकि प्रत्यक्ष के आधार पर ही जगत् की सत्ता है । जीवन का प्रत्येक व्यवहार प्रत्यक्ष के आधार पर ही चलता है । प्रत्यक्ष के बिना लोक-व्यवहार असम्भव है । यहाँ तक कि अनुमान आदि प्रमाणों की सिद्धि के लिए भी प्रत्यक्ष प्रमाण की आवश्यकता होती है । भारतीय दर्शन में समस्त संप्रदायों ने प्रत्यक्ष प्रमाण को एकमत से स्वीकार किया है । चार्वाक जैसे भौतिकवादी दर्शन ने भी, जो किसी भी अन्य प्रमाण को नहीं मानता, प्रत्यक्ष प्रमाण को स्वीकार किया है ।[1]

बौद्धन्याय में प्रमाणविवेचन के अन्तर्गत प्रमाणों की संख्या दो स्वीकार की है- प्रत्यक्ष और अनुमान ।[2] धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष प्रमाण पर विचार करते हुए इसके समस्त पक्षों का तार्किक दृष्टि से विवेचन किया है । प्रथमतः भूमिका के रूप में प्रत्यक्ष शब्द एवं प्रत्यक्ष प्रमाण का सामान्य परिचय प्रस्तुत करते हुए जिससे आगे के विवेचन का मार्ग प्रशस्त हो सके ।

---

[1] प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितया ।- *स.द.सं.*, पृ. ४

[2] (क) प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणम् ।– *प्र.समु.*, १.२; (ख) मानं द्विविधं मेयद्वैविध्यात् ।– *प्र.वा.*, २.१

प्रत्यक्ष का व्युत्पत्ति निमित्त है- इन्द्रियाश्रित ज्ञान तथा प्रवृत्ति-निमित्त है वस्तु-साक्षात्कार जिसका, वह प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष की दो विशेषताएँ हैं- वह कल्पनारहित और अभ्रान्त है। इन्हीं से प्रत्यक्ष का लक्षण घटित है। योगाचार और सौत्रान्तिक दोनों ही मतों में प्रत्यक्ष के इस स्वरूप को स्वीकार किया गया है। सम्यक् ज्ञान होने से ही प्रत्यक्ष में द्विचन्द्रादि-ज्ञान निवृत्त होता है, अतः अभ्रान्तता से अविसंवादकता समझनी चाहिए। कल्पनापोढ़ कहने से अनुमान की निवृत्ति होती है किन्तु धर्मोत्तर ने कल्पनापोढ का तात्पर्य अन्य दर्शनों मे अभिमत सविकल्पक प्रत्यक्ष के निराकरण से लिया है तथा अभ्रान्त पद का तात्पर्य व्यवहार-योग्य संवादि भ्रम की प्रत्यक्षता का खण्डन है। नाव से वृक्ष चलते हुए दिखाई देते हैं, किन्तु यह प्रत्यक्ष न होकर प्रत्यक्षाभास है। अनुमान में अवश्य इस प्रकार की अभ्रान्तता नहीं रहती जैसी प्रत्यक्ष में रहती है।

3.1.प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ-

शब्द के प्रकृतिप्रत्यय आदि के विभाग के आधार पर जिस अर्थ की प्राप्ति होती है वह उसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ कहलाता है[3], उसी को निर्वचनात्मक अर्थ भी कहते हैं। दर्शन में प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया जाता है- प्रत्यक्ष प्रमाण, प्रत्यक्ष प्रमा तथा प्रत्यक्ष का विषय अर्थात् प्रमेय।

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण के अर्थ में इसकी व्युत्पत्ति है- 'प्रतिगतम् अक्षम्' अर्थात् विषय से सन्निकृष्ट इन्द्रिय। यही प्राधान्येन प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है। वात्स्यायन के अनुसार इन्द्रिय का प्रतिविषय के साथ सन्निकर्ष ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।[4]

(ख) प्रत्यक्ष-प्रमा के अर्थ में प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया गया है-"इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमा कहलाता है"[5]

---

[3] प्रकृत्यादिविभागेन शब्दस्य निष्पत्तिः व्युत्पत्तिः।- *धर्मो. प्र.*, पृ. ३९.८

[4] अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षं।- *न्या. भा.*, १.१.३

न्यायप्रवेशसूत्र में दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष शब्द का निर्वचन- 'अक्षम् अक्षं प्रति वर्तते'[6] किया है, न्यायबिन्दू टीका में 'प्रतिगतम् आश्रितम् इति प्रत्यक्षम्' किया है ।[7] अर्थात् इन्द्रिय के आश्रय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है ।

(ग) प्रत्यक्ष के विषय के अर्थ में प्रत्यक्ष की व्युत्पत्ति- 'प्रत्यक्षम् अस्यास्तीति' होता है अर्थात् जिसका प्रत्यक्ष होता है, वह प्रत्यक्ष का विषय है ।

दिङ्नाग के न्यायमुख में प्रत्यक्ष शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया गया है-'अक्षम् अक्षं प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम्' अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय से सम्बद्ध होकर उत्पन्न होने के कारण इस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । न्यायप्रवेश में भी इसी प्रकार कहा गया है ।[8] दिङ्नाग ने न्यायमुख व प्रमाणसमुच्चय में एक प्रश्न उठाया है कि इसे प्रत्यक्ष ही क्यों कहा गया, प्रति-विषय क्यों नहीं कहा ।[9] इसका समाधान भी वहाँ दिया है कि इन्द्रिय इस ज्ञान का असाधारण हेतु है जबकि विषय प्रत्यक्ष और अनुमान सभी ज्ञानों में समान रूप से कारण होता है । अतः इसका नाम प्रत्यक्ष ही रखा गया है ।[10] न्यायप्रवेश में भी इस विषय में कहा गया है कि ज्ञान के प्रति इन्द्रिय के असाधारण हेतु होने के कारण व विषय के साधारण हेतु होने के कारण प्रत्यक्ष में 'अक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है, विषय का नहीं ।[11]

परन्तु प्रत्यक्ष शब्द के उपरोक्त विवेचित अर्थ के अनुसार मानस-प्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं आ सकते । इसलिए प्रत्यक्ष का एक अन्य अर्थ भी किया गया है, जो प्रवृत्तिमूलक अर्थ कहलाता है । अतः प्रवृत्तिमूलक अर्थ पर चर्चा करना भी आवश्यक है ।

---

[5] इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।- *न्या. सू.*, १.१४

[6] *न्या.प्र.सू.*, पृ. ८१

[7] *न्या.बि.टी.*, पृ. २८

[8] तदक्षमक्षं प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम् ।- *न्या. प्र. वृ*, पृ.७, पं. १३-१४

[9] अथ कस्माद् द्वयाधीनायामुत्पत्तौ प्रत्यक्षमुच्यते न प्रतिविषयम् ।- *प्र. समु.*, १.४

[10] असाधारणहेतुत्वादक्षैस्तद् व्यपदिश्यते । वही, १.४

[11] असाधारणत्वादिन्द्रियस्य साधारणत्वाच्चार्थस्येति ।- *न्या. प्र. वृ.*, पृ. ३५, पं. २०-२१

3.1.1.प्रवृत्तिमूलक अर्थ-

लोकप्रवृत्ति प्रयोग अथवा व्यवहार के निमित्त से प्राप्त हुआ शब्द का अर्थ प्रवृत्तिनिमितक अर्थ होता है । जैसे- गो शब्द का प्रवृत्तिनिमितक अर्थ गोत्व जाति से युक्त गो(पिण्ड) है । इसी प्रकार प्रत्यक्ष शब्द का भी उपरोक्त विवेचित निर्वचनात्मक अर्थ से भिन्न कोई प्रवृत्तिनिमितक अर्थ होना चाहिए । क्योंकि यदि इन्द्रिय के आश्रित होना ही इसका एक मात्र अर्थ स्वीकार किया जाए तो बौद्ध-न्याय में स्वीकृत मानस-प्रत्यक्ष, योगिप्रत्यक्ष और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष प्रमाण में अन्तर्भाव नहीं हो सकेगा[12] । क्योंकि ये तीनों ही प्रकार के ज्ञान इन्द्रियों के अधीन होकर उत्पन्न नहीं होते, अर्थ-साक्षात्कारात्मक होते हैं । इसलिए टीकाकार धर्मोत्तर ने प्रत्यक्ष का प्रवृत्तिनिमितक अर्थ भी दिया है और वह है- 'अर्थसाक्षात्कारित्वम्' । इस विषय में उन्होनें कहा है कि इन्द्रियाश्रित्व से सम्बद्ध एक अन्य अर्थ भी लक्षित होता है, वह अर्थ का साक्षात्कारित्व है वही प्रत्यक्ष का प्रवृत्तिनिमितक अर्थ है ।[13]

3.1.2.प्रत्यक्ष का सामान्य-स्वरूप-

प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा के विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद हैं । सांख्यकारिका में प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में कहा गया है कि प्रत्येक विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय के द्वारा होने वाला निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है ।[14] योग दर्शन के अनुसार भी इन्द्रियों की सहायता से चित्त का बाह्य विषय का सामान्य एवं विशेष स्वरूप से युक्त हो जाना ही प्रत्यक्ष प्रमाण है ।[15] न्यायदर्शन के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ ज्ञान जो अव्यपदेश्य (निर्विकल्पक), अव्यभिचारी (भ्रम से भिन्न) तथा

---

12 यदि त्वक्षाश्रितत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्याद् इन्द्रियविज्ञानमेव प्रत्यक्षमुच्यते, नमानसादि ।- *न्या. बि. टी.*, पृ. २८-२९

13 अक्षाश्रितत्वेनैकार्थसमवेतम् अर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते। तदेव शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् ।- वही, पृ. २८

14 प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम् ।- *सां. का.*, ५

15 इन्द्रियद्वारेण बाह्यवस्तुपरागाच्चितस्य तद्विषय-सामान्यविशेषणात्मनोऽर्थस्य विशेषाधारणप्रधानवृत्तिः प्रत्यक्षम् ।- *यो. सू. वृ.*, १.७

व्यवसायात्मक (सविकल्पक) हो, वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है ।[16] जैन दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में कहा गया है कि जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा के यथायोग्य बल से उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है ।[17] मीमांसा दर्शन में कुमारिल ने प्रत्यक्ष का लक्षण किया है- विद्यमान विषयों के साथ इन्द्रियों के उपयुक्त सन्निकर्ष से पुरुष में जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उस ज्ञान का साधन ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । यह प्रत्यक्ष प्रकृति-धर्मविषयक ज्ञान का उत्पादक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से वर्तमान काल में विद्यमान वस्तुओं का ग्रहण होता है ।[18] अद्वैतवेदान्त मत में प्रत्यक्ष प्रमा के कारण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं ।

इस प्रकार विभिन्न दर्शनों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण स्वीकार किया है । प्रत्यक्ष के सामान्य विवेचन के पश्चात् अब बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शनों के अनुसार प्रत्यक्ष का लक्षण करना आवश्यक है-

3.2.बौद्धन्याय में प्रत्यक्ष प्रमाण-

बौद्धन्याय में प्रमाण-मीमांसा के अन्तर्गत प्रत्यक्ष लक्षण पर पर्याप्त बल दिया गया है । सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से वसुबन्धु का प्रमाण-लक्षण प्राप्त होता है- 'ततोऽर्थाद् विज्ञानं प्रत्यक्षम्'[19] अर्थात् विषय मात्र से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष है ।

दिङ्नाग ने वसुबन्धु के इस प्रत्यक्ष-लक्षण का खण्डन किया है और अपना नया लक्षण दिया है- 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्'[20] अर्थात् कल्पनारहित ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है । दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है- "अक्षं अक्षम् प्रतिवर्तते इति

---

16 इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।- *न्या. सू.*, १.१.४

17 *तत्त्वार्थसूत्र*, १.१२

18 सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ।- *मी.श्लो.वा.*, १.१.४

19 श्रीनिवासशास्त्री, *वचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध दर्शन का विवेचन,* पृ.१००

20 *प्र.समु.*, प्र.परि., का.३

प्रत्यक्षम"[21] अर्थात् इन्द्रिय से सम्बद्ध होकर उत्पन्न होने के कारण इस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है। न्यायप्रवेशसूत्र में भी प्रत्यक्ष का लक्षण इसी प्रकार मिलता है।[22]

दिङ्नाग के प्रत्यक्ष-लक्षण का न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर आदि ने कई दोष दिखाते हुए खण्डन किया है। अतः धर्मकीर्ति ने उन दोषों का परिहार करते हुए दिङ्नाग के प्रत्यक्ष-लक्षण को परिमार्जित करके प्रस्तुत किया-

'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्'[23]

अर्थात् कल्पना से रहित निर्भ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। इस लक्षण में 'अभ्रान्त' पद के समायोजन से गच्छद्वृक्षादि का ज्ञान (भ्रान्तिपूर्ण होने के कारण) प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं आ सकेगा। धर्मकीर्ति के बाद के सभी बौद्ध आचार्यों जैसे- धर्मोत्तर, शान्तरक्षित, कमलशील, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नकीर्ति व मोक्षाकरगुप्त ने इन्हीं के प्रत्यक्ष-लक्षण को स्वीकार किया है। प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में प्रमाणवार्त्तिककार ने कहा है कि-

"संहृत्य सर्वतः चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः" ॥[24]

अर्थात् समस्त बाह्य विकल्पात्मक चिन्तन का परित्याग कर स्थिर चित्त के साथ चक्षु के द्वारा जो रूप का साक्षात्कार होता है, वह चाक्षुष प्रत्यक्ष है।

3.2.1.निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मात्र-

प्रमाणवार्त्तिक में और समस्त बौद्ध न्याय में भी केवल निर्विकल्पक को प्रत्यक्ष माना गया है, सविकल्पक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नहीं आता। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है और इस विषय में कहा गया है कि स्वलक्षण वस्तु में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति निर्विकल्पात्मक ही

---

[21] *ध.प्र.*, पृ.३८

[22] तदक्षमक्षं प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम्।- *न्या.प्र.सू.*, पृ.७

[23] *न्या.बि.*, १.४

[24] *प्र.वा.*, २.१२४

होती है ।[25] प्रत्यक्ष के लक्षण मात्र से ही यह विदित हो जाता है कि कल्पना रहित अर्थात् सविकल्पक से इतर निर्विकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष है- **"कल्पनापोढ़ं प्रत्यक्षम्"** । न्यायबिन्दु टीका में भी कल्पना के स्वभाव से रहित प्रत्यक्ष है,[26] इस प्रकार व्याख्या की गई है ।

चक्षु के द्वारा स्वलक्षण का प्रत्यक्ष हो जाने के पश्चात् जो वाचक शब्द की कल्पना होती है, यथा- 'अस्यायं वाचकः' इस प्रकार का वह शब्द प्रत्यक्षग्राह्य स्वलक्षण का वाचक न होकर बुद्धिकल्पित अन्य व्यवच्छेदरूप अर्थ का वाचक होता है । क्योंकि शब्दकल्पना-काल में स्वलक्षण का नाश हो जाता है, इसलिए स्वलक्षण का सम्बन्ध शब्द के साथ नहीं हो पाता है ।[27]

जब नेत्रादि इन्द्रिय के द्वारा नीलादि वस्तु का साक्षात्कार करते हैं तो यह ज्ञान साक्षात्कारी ज्ञान कहलाता है । इसमें नाम आदि कल्पनाओं का सम्बन्ध नहीं रहता । यहाँ नील का आभास तो होता है, किन्तु इस रूप में नहीं कि 'यह नील है', इसलिए इस ज्ञान को 'कल्पनापोढ' अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान कहा है । किन्तु इसके अनन्तर पश्चाद्वर्ती क्षण में विकल्पात्मक अथवा सविकल्पक अर्थात् 'यह नील है' इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान होता है ।

इनके प्रत्यक्ष-लक्षण में मुख्यतः दो पद आए हैं- 'कल्पनापोढम्' और 'अभ्रान्तम्' । 'कल्पनापोढम्' का अर्थ है- कल्पना से रहित और 'अभ्रान्तम्' का अर्थ है- भ्रान्ति से रहित । प्रत्यक्ष के लक्षण में आए इन दोनों पदों का अपना-अपना महत्त्व एवं प्रयोजनीयता है जिसका विशद विवेचन धर्मकीर्ति ने किया है । कल्पना के विषय में सामान्य स्वरूप के साथ-साथ धर्मकीर्ति द्वारा निर्दिष्ट विशिष्ट स्वरूप को जानना भी आवश्यक है-

---

[25] स्वलक्षणे च प्रत्यक्षमविकल्पतया विना ।- *प्र.वा.*, २.७५

[26] कल्पनास्वभावरहितमित्यर्थः ।- *न्या.बि.टी.*, पृ. ३४

[27] चक्षुषार्थावभासेऽपि यं परोऽस्येति शंसति । स एव योज्यते शब्दैर्न खल्विन्द्रियगोचरः ॥- *प्र.वा.*, २.१३१

3.2.1.1.कल्पना का स्वरूप-

कल्पना शब्द क्लृप् धातु से णिच्+युच्+टाप् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है । कल्पना शब्द के विभिन्न अर्थ हैं, जैसे- विचार, क्लृप्ति, विकल्प, उत्प्रेक्षा, रचना, मानसिक, एक वस्तु का दूसरी वस्तु में आरोप, युक्ति, अनुमिति, अर्थापत्ति आदि ।[28] इस प्रकार कल्पना का सामान्य अर्थ है- जिसके बारे में बुद्धि द्वारा विचार करके नाम, जाति, रूप आदि का संयोजन होता है, वह कल्पना है ।

3.2.2.बौद्धभिन्न सम्प्रदायों में कल्पना-स्वरूप-

बौद्धेतर दर्शनों में भी कल्पना के स्वरूप पर विचार किया गया है- सांख्य दर्शन में यद्यपि कल्पना का नामोल्लेख नहीं मिलता किन्तु उसमें विपर्यय और मिथ्याज्ञान के रूप में कल्पना संकेतित हुई है ।[29] योग दर्शन में भी कल्पना को विकल्प के रूप में स्वीकार किया गया है । योग में पञ्चवृत्तियों की चर्चा करते हुए विकल्प नामक एक चित्तवृत्ति मानी गयी है[30] अर्थात् जो ज्ञान वस्तुशून्य पदार्थविषयक होने पर भी शब्दजन्य ज्ञान के प्रभाव से प्रतीत होता है, वह विकल्पवृत्ति कहा जाता है । यह एक प्रकार का मिथ्याज्ञान है, जैसे- 'शशविषाण', 'वन्ध्यापुत्रः', 'राहोः शिरः' आदि ।

न्याय-वैशेषिक मत में प्रत्यक्ष-भेदों की चर्चा करते हुए निर्विकल्पक एवं सविकल्पक शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिसमें कल्पना शब्द संकेतित होता है ।[31] मीमांसा दर्शन में कुमारिल ने प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत निर्विकल्प एवं सविकल्प भेदों का निरूपण करते हुए कहा है कि निर्विकल्पक ज्ञान के बाद उसी वस्तु का नामादि के साथ जिस सविकल्प बुद्धि के द्वारा ग्रहण होता है, उस सविकल्पक ज्ञान को भी हम प्रत्यक्ष

---

[28] (i) वामन शिवराम आप्टे, *सं.हिं.को.*, पृ. २५८; (ii) Monier, Williams, *SED*, p. 263

[29] एषः प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धाख्यः ।- *सां. का.*, ४६

[30] शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।- *यो. सू.*, १.६

[31] *त. भा.*, पृ. ६

प्रमाण मानते हैं ।[32] इस प्रकार उन्होनें विकल्प के रूप में कल्पना को ही स्वीकार किया है ।

वैयाकरण मत में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में कल्पना की अवधारणा प्राप्त होती है । वाक्यपदीयम् में कहा है- "लोक में समग्र कार्यव्यवहार शब्द का आश्रय लेकर चलते हैं । यहाँ तक कि पूर्वजन्म में चित्त में डाले गए भावनात्मक संस्कार से सम्पन्न बालक भी इस जन्म में उसी संस्कार द्वारा इतिकर्त्तव्यता का निर्वाह करता है" ।[33] इस प्रकार शब्द व्यवहार के द्वारा शशविषाणादि असत् वस्तुएँ भी सद् वस्तु के समान प्रतीत होती हैं ।

3.2.3.पूर्व बौद्धनैयायिकों के अनुसार कल्पना-स्वरूप-

बौद्धन्याय में कल्पना को स्पष्टतः कहा गया है, किन्तु फिर भी यहाँ कल्पना के विषय में विविध मत हैं- वैभाषिकों के अनुसार वितर्क, विचार इत्यादि से युक्त इन्द्रियज्ञान ही कल्पना है । विज्ञानवाद के अनुसार कल्पनाज्ञान वह है जिसकी प्रवृत्ति ग्राह्य-ग्राहक भेद को मानकर होती है, यह ग्राह्य-ग्राहक-कल्पना मूल कल्पना है । सर्वप्रथम दिङ्नाग ने कल्पना का लक्षण किया है- नामजात्यादि-योजना कल्पना है[34] अर्थात् नाम, जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य आदि से युक्त किसी वस्तु का ज्ञान कल्पना है ।

न्यायप्रवेशवृत्ति में कल्पना के विषय में कहा है कि जैसे- नाम शब्द 'डित्थ', जाति शब्द 'गौ', क्रिया शब्द 'पाचक', द्रव्य शब्द 'दण्डी' इन सभी कल्पनाओं से रहित स्वलक्षण मात्र का ग्राहक ज्ञान प्रत्यक्ष है ।[35]

---

32 ततः परं...सम्मता ।- *श्लो. वा.*, प्रत्यक्ष परिच्छेद, का. १२०

33 इतिकर्त्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया ।
यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते ॥- *वाक्यपदीयम्,* १.११२

34 *प्र.समु.,* प्र.परि., का. ३

35 तत्र नामकल्पना यथा डित्थ आदि । जातिकल्पना तथा गौरिति । आदिशब्देन गुणक्रियाद्रव्यपरिग्रहः । गुणकल्पना शुक्ल इति क्रियाकल्पना पाचक इति । द्रव्यकल्पना दण्डीति । आभिः कल्पनाभिः रहितं शब्दरहितम् । स्वलक्षणहेतुत्वात् ।- *न्या.प्र.सू.*, का. ३५

3.2.4.धर्मकीर्ति के अनुसार कल्पना-स्वरूप-

धर्मकीर्ति ने ऐसे ज्ञान को कल्पना कहा है जिसमें ज्ञेय आकृति शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त की जा सके[36] अर्थात् वाचक शब्द से संसर्ग के योग्य आभास जिसमें हो, वह प्रतीति कल्पना कहलाती है- विशेषणादिसम्बन्धवस्तुप्रतिभासाप्रतीतिः कल्पना ।[37] इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार धर्मोत्तर कहते हैं कि "कोई प्रतीति तो वाचक शब्द से सम्पृक्त आकार वाली होती है और कोई प्रतीति वाचक शब्द से सम्पृक्त नहीं होती । ये दोनों ही प्रतीति कल्पना हैं । (i) प्रथम प्रकार की प्रतीति है, जैसे शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानने वाले व्यक्ति को जो घट वस्तु की कल्पना होती है, उसमें घट वस्तु का आकार वाचक शब्द के संसर्ग सहित होता है । (ii) द्वितीय प्रकार की प्रतीति है, जैसे- शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को न जानने वाले शिशु को अपने दूध की प्रतीति होती है, वह भी कल्पना ही है ।[38] यहाँ पर धर्मकीर्ति ने शंकरस्वामी आदि बौद्ध नैयायिकों के मत्त का खण्डन किया है, जो बालक को संकेत-ग्रहण में अक्षम मानते हुए उसके ज्ञान को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष मानते हैं । क्योंकि रोता हुआ बालक अपनी माता की गोद पाकर चुप हो जाता है, अतः उसे भी पूर्वापर परामर्श रूप विकल्प का ज्ञान रहता है । यदि ऐसा नहीं होता तो बाद में भी कभी विकल्प बोध नहीं होगा, क्योंकि विकल्प के वाच्य-वाचकभाव संकेत रूप का उसमें अभाव है । अर्थात् विकल्पतः ही संकेत-ग्रहण होता है, उसके बिना नहीं ।[39]

कल्पना के लिए आवश्यक है एक ज्ञान में आरूढ़ शब्द और अर्थ का संयोग । प्रतिभास अथवा आकृति के रूप में विद्यमान अर्थ का अन्तर्जल्प के रूप में विद्यमान शब्द के साथ वाच्य और वाचक के रूप में एकीभाव होता है । वाच्य और वाचक की यह एकाकारता

---

[36] अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीति कल्पना ।- *न्या.बि.*, १.५

[37] *प्र.वा.*, २.१२३

[38] *न्या.बि.टी.*, पृ.४२

[39] तेषां प्रत्यक्षमेव स्याद् बालानामविकल्पनात् । संकेतोपायविगमात् पश्चादपि भवेन्न सः ॥- *प्र.वा.*, २.१४२

ज्ञान को एक विशिष्ट संरचना अथवा योजना प्रदान करती है जिसके कारण ज्ञान को कल्पना कहा जाता है । यह ज्ञान मूलतः वस्तु को वाच्यार्थ में परिवर्तित करने की प्रक्रिया से सम्पन्न होता है । परमार्थभूत वस्तु में अनादि अविद्या के द्वारा ग्राह्य-ग्राहक भेद का समारोप, क्षणात्मक ग्राह्य वस्तु में इन्द्रिय-संवेदन के द्वारा "स्थौल्य" अथवा "देश" का आरोप, इन्द्रिय गृहीत देश-वितत क्षणिक वस्तु के प्रतिभासों पर सन्तानगत ऐक्य का आरोप, देश, काल और स्वभाव के आधार पर प्रत्यक्ष-प्राप्त वस्तुओं को नामांकित कर उन पर अन्यापोढ़ रूपों का अथवा वाच्यार्थों का आरोप । इस प्रकार से क्रमशः कल्पना का विकास होता है । धर्मकीर्ति ने यहाँ क्षण-प्रतिभासों की सन्तान के रूप में योजना को कल्पना का व्यापार माना है, जो कि सौत्रान्तिक मत के अनुकूल है, न कि विज्ञानवाद के ।[40]

3.2.4.1.**प्रत्यक्ष में शब्दकल्पना का निषेध-**

धर्मकीर्ति ने निर्विकल्पक विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान में जात्यादि कल्पनाओं के समान ही शब्द कल्पना का भी निषेध किया है-

"संकेतस्मरणोपायं दृष्टसंकलनात्मकम् ।

पूर्वापरपरामर्शशून्ये तच्चाक्षुषे कथम्" ॥

अर्थात् प्रत्यक्ष के विषयीभूत स्वलक्षण में वाचक शब्द की योजना नहीं रहती । इस विषय में यदि आक्षेप हो कि संकेतकरण के समय शब्द रहता है, ऐसा नहीं है क्योंकि सविकल्पवस्तु में "अस्यायं शब्दो वाचकः" इस प्रकार की कल्पना होती है, किन्तु निर्विकल्पक में नहीं, वह कल्पनारहित है ।[41]

प्रमाणवार्तिकालङ्कार में संकेतस्मरण इत्यादि से इस विषय में कहा गया है- जैसे- 'अयं गौः' इस संकेत का अर्थ होता है कि 'अयं गोशब्दवाच्य' है । वाचक शब्द का वाच्य अर्थ

---

40 *न्या.बि.ध.टी.*, प्रवेश, पृ. १६-१७ (गोविन्दचन्द्र पाण्डेयकृत हिन्दी अनुवाद, के.उ.ति.शि.सं. सारनाथ, वाराणसी, २०१०)

41 चक्षुषार्थावभासेऽपि यं परोऽस्येति शंसति । स एव योज्यते शब्दैर्नखल्विन्द्रियगोचरः ॥- *प्र.वा.*, २.१३१

के साथ सम्बन्ध स्थापित करना ही संकेत है । गोशब्द का वाच्यार्थ पूर्वापर परामर्श से युक्त होता है, तथा पूर्वापर की कल्पना स्वलक्षण में सम्भव नहीं है । अतः प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयीभूत स्वलक्षण तत्त्व में वाचक शब्द की कल्पना का होना सम्भव नहीं है । प्रमाणसमुच्चय में इसका कारण कहा है कि इन्द्रियों की वृत्ति केवल वर्तमान काल को ही विषय करती है अतीत और भविष्य को नहीं, इसलिए अक्षाश्रित प्रत्यक्षज्ञान अक्षव्यापार की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकता ।[42]

3.2.4.2.कल्पना के विषय में पूर्वपक्ष के आक्षेप एवं धर्मकीर्ति द्वारा उनका निराकरण-

बौद्धेतर दर्शनों में सविकल्पक ज्ञान अर्थात् कल्पनायुक्त ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहा गया है, इसलिए कुछ दार्शनिकों ने बौद्ध दर्शन के द्वारा केवल कल्पनारहित ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानने पर शंका व्यक्त की है-

प्रथम शंका- "नीलो घटः" इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञानों में नीलादि विकल्पों का भान अनुभवसिद्ध है, फिर प्रत्यक्ष कल्पना रहित कैसे हो सकता है?

दूसरी शंका- प्रत्यक्ष में यदि कल्पना का योग नहीं, तो फिर उसके पश्चात् होने वाले अनुमान में सामान्य कल्पना कैसे उत्पन्न होगी? तथा समस्त ज्ञान शब्दकल्पना युक्त ही प्रतीत होते है, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है- "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन भासते" ।[43]

तीसरी शंका है कि कुमारिल ने जो "अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्" आदि के द्वारा निर्विकल्पक के पश्चात् जो सविकल्पक का विधान किया है, उसमें अविकल्पकत्व कैसे सिद्ध हो सकेगा?

इन शंकाओं के समाधान रूप में कहा है कि प्रत्यक्ष में विकल्प रहितता स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होती है । विकल्प नाम अथवा वाचक शब्द को जन्म देता है, वह नाम भी

---

42 योग्यदेशस्थितेऽक्षाणां वृत्तिर्नातीतभाविनि । अक्षाश्रितश्च विज्ञानमक्षव्यापारगोचरम् ॥- *प्र.समु.*, प्र.परि., का. ३२१

43 *वाक्यपदीयम्*, १.१२३

एक विकल्प ही है । स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा ग्राह्य है । चक्षुरादि इन्द्रिय से दृश्य का विरुद्ध धर्माध्यासपूर्वक भेद ही विकल्प और निर्विकल्पक में परिलक्षित होता है ।[44]

समस्त ज्ञान शब्दकल्पना युक्त ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि निर्विकल्पता की प्रतीति ही नहीं होती, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि यदि इन्द्रिय विकल्पसामग्री से रहित होकर प्रवृत्त ही नहीं होती , तब निर्विकल्पक अवस्था में पदार्थ का ग्रहण करने के लिए इन्द्रिय का व्यापार ही नहीं होता । इसलिए यह निश्चित है कि निर्विकल्प अवस्था में समुद्भूत निर्विकल्पप्रत्यय प्रत्यक्षतः अनुभूत होता है ।

चतुर्थ शंका- मीमांसकों ने प्रश्न उठाया है कि निर्विकल्पक में विकल्प के पश्चात् ही "सविकल्पोऽयम्" ऐसा व्यवहार हो सकता है, अतः निर्विकल्प अवस्था में "विकल्प परम्परा आसीत्" इस तरह की कल्पना नहीं होती, अपितु विकल्प के आरोप के पश्चात् उक्त व्यवहार होता है, क्योंकि "निर्विकल्पकत्वं ममासीत्"- ऐसा व्यवहार नहीं होता । तो फिर निर्विकल्प अवस्था में जब विकल्प है ही नहीं तब उसका व्यवहार कैसे होगा?

इस पर प्रश्नान्तर किया जाता है कि यदि अविद्यमान का व्यवहार नहीं होता, तो मृत व्यक्ति के लिए 'मृतः' इस प्रकार का व्यवहार क्यों किया जाता है? अर्थात् जैसे मृत के न रहने पर भी "मृतः" ऐसा व्यवहार होता है, वैसे ही सविकल्प-व्यवहार बन जाएगा ।[45]

3.2.4.3.प्रत्यक्ष लक्षण में 'अभ्रान्त' पद की प्रयोजनीयता-

यद्यपि धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्त्तिक के प्रत्यक्ष-लक्षण में 'अभ्रान्त' पद का प्रयोग नहीं किया[46], तथापि 'सतैमिर' इत्यादि प्रत्यक्षाभास का विवेचन करते हुए अभ्रान्त पद की उपयोगिता अवश्य दिखलाई है ।

---

44 (क) प्रत्यक्षं कल्पनापोढ़ प्रत्यक्षेणैव सिध्यति । प्रत्यात्मवेद्याः सर्वेषां विकल्पो नाम संश्रयः ॥ *प्र.वा.*, २.१२३; (ख) विकल्परहितम्प्रत्यक्षं स्वसंवेदनादेव प्रतीयते । विकल्पो हि नाम जनयति नामापि विकल्प स नामसंश्रयो विकल्पः प्रत्यात्मवेद्यतयानुभूयते स्वसंवेदनेन विकल्पस्यानुभवात् । चक्षुरादिना दृश्यस्य ततो विरुद्धधर्माध्यासति भेद एव विकल्पकेतरप्रत्ययोः।– *प्र.वा.अलं.*, पृ. ५९४

45 वही, पृ. ५९५-९६

इसीलिए न्यायबिन्दु के प्रत्यक्ष-लक्षण में उन्होनें 'अभ्रान्त' पद को ग्रहण किया है । प्रमाणवार्त्तिक के टीकाकार मनोरथनन्दी ने कहा है कि 'सतैमिर' इत्यादि से जो प्रत्यक्षाभास का उदाहरण दिया गया है, वह प्रकट करता है कि 'अभ्रान्त' पद प्रत्यक्ष-लक्षण का अङ्ग है ।[47]

धर्मकीर्ति के मत में प्रत्यक्ष-लक्षण में 'अभ्रान्त' पद जोड़ने का प्रयोजन भ्रान्त ज्ञानों का निराकरण करना है । उनके अनुसार भ्रान्तज्ञान प्रमाण की कोटि में नहीं आते । अन्यथा प्रतिभास को धर्मकीर्ति ने भ्रम कहा है- "अन्यथा प्रतिभासो भ्रान्तत्वम्" ।[48] इस प्रकार कल्पना और भ्रान्ति दोनों से रहित ज्ञान प्रत्यक्ष है ।[49]

कमलशील 'अभ्रान्त' पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'अभ्रान्त' का अर्थ अविसंवादी अर्थात् जैसी वस्तु है वैसा ही ज्ञान होना नहीं है अपितु अर्थक्रियासमर्थ रूप परमार्थ सत्य का ज्ञान है, क्योंकि अवस्तुवादियों (योगाचार) के मत में बाह्य पदार्थ की कोई सत्ता नहीं होती ।[50] धर्मोत्तर ने भी 'अभ्रान्त' पद की व्याख्या करते हुए यही कहा है कि प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय अर्थक्रियाक्षम वस्तुरूप से विपरीत नहीं होना चाहिए, तभी वह ज्ञान 'अभ्रान्त' समझा जाएगा ।[51]

पूर्वपक्षी यहाँ पर शंका करते हैं कि यदि प्रत्यक्ष लक्षण में 'अभ्रान्त' पद के ग्रहण से ही समस्त भ्रान्त ज्ञानों का निराकरण हो जाता है तो फिर 'कल्पनापोढ़' पद की लक्षण में क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि प्रत्यक्ष का लक्षण अनुमान में न चला जाए, इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए 'कल्पनापोढ़' पद भी प्रत्यक्ष-लक्षण में आवश्यक है ।

---

46 प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति ।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः ॥- *प्र.वा.*, २.१२३

47 अभ्रान्तत्वस्य लक्षणैकदेशत्वोपलक्षकत्वमं च, न तु कल्पनापोढत्वनिराकृतस्योदाहरणमिदम् ।- *प्र.वा.मनो.*, पृ. १५८

48 *प्र.वा.*२.१२३

49 तेनोभयेन रहितं प्रत्यक्षम् ।- वही

50 अभ्रान्तमत्राविसंवादित्वेन द्रष्टव्यम्....प्रतिबन्धादिसम्भवात् ।- *तत्त्व.सं.पं.*, पृ. ३३४-३५

51 यद्येवम्, अभ्रान्तग्रहणमेवास्तु....प्रत्यक्षत्वप्रसंगात् ।- वही, ३-४, पृ. ३३५

3.2.4.4.भ्रान्तिविषयक आक्षेपों का निराकरण-

कणाद आदि आचार्यों ने द्विचन्द्रादि ज्ञान को मानस भ्रम कहा है, किन्तु धर्मकीर्ति के अनुसार भ्रान्ति केवल मानसिक नहीं होती अपितु इन्द्रियजन्य भी होती है ।[52] शान्तरक्षित ने भी 'भ्रान्तिविषयक' आक्षेपों के निराकरण में धर्मकीर्ति के मत का ही अनुसरण किया है ।[53]

'अभ्रान्त' पद का प्रत्यक्ष-लक्षण में ग्रहण बौद्धाचार्यों में विवाद का विषय रहा है । आचार्य दिङ्नाग ने 'अभ्रान्त' पद को प्रत्यक्ष के लक्षण में ग्रहण नहीं किया, उसी को इंगित करते हुए शान्तरक्षित ने कहा है कि- कुछ अन्य ऐसा घोषित करते हैं कि 'पीतशंखादि' का भ्रान्ति ज्ञान भी प्रामाणिक माना जा सकता है, क्योंकि वह अर्थक्रियासमर्थ रूप वस्तु को प्राप्त हुआ अविसंवादी होता है ।[54] इसकी व्याख्या करते हुए पञ्जिकाकार कहते हैं कि कुछ बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष-लक्षण में 'अभ्रान्त' पद को नहीं जोड़ना चाहते क्योंकि 'पीतशंखादि' से सम्बद्ध जो भ्रान्त ज्ञान होता है, वह भी प्रत्यक्ष होता है । क्योंकि वह अनुमान नहीं है, लिङ्गज न होने के कारण तथा यह अविसंवादी होने के कारण प्रमाण की कोटि में आ जाता है । इसीलिए आचार्य दिङ्नाग ने 'अभ्रान्त' पद को प्रत्यक्ष-लक्षण में नहीं जोड़ा ।[55]

---

52 मानसं तदपीत्येके तेषां ग्रन्थो विरुध्यते ।
नीलद्विचन्द्रादिधियां हेतुरक्षाण्यपीत्ययम्.... ॥- *प्र.वा.*, २.२९४-३००

53 मानसं तदपीत्येके नैतदिन्द्रियभावतः ।
भावात् तद्विकृतावस्य विकृतेश्चोपलम्भतः ॥
सर्पादिभ्रान्तिवच्चेदमनक्षेऽप्यविप्लवे ।
निवर्तेत मनो भ्रान्तेः स्पष्टम् च प्रतिभासनात् ॥- *तत्त्व.सं.*, का. १३१२-१३

54 पीतशंखादिबुद्धीनां विभ्रमेऽपि प्रमाणता ।
अर्थक्रियाऽविसंवादादपरे सम्प्रचक्षते ॥- वही, का. १३२३

55 केचित स्वयूथ्या एवाभ्रान्तग्रहणं नेच्छन्ति...न कृतमभ्रान्तग्रहणम् ।- *तत्त्व.सं.पं.*, पं. ३१-३३, पृ. ३३६

धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के इस मत का खण्डन किया है । वस्तुतः 'अभ्रान्त' पद के ग्रहण में धर्मकीर्ति का अभिप्राय- मानसिक भ्रान्ति और इन्द्रिय-जन्य भ्रान्ति में अन्तर करना है । उदाहरणार्थ जैसे- हमें रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होती है, तब 'यह रज्जु है, सर्प नहीं' इस प्रकार का बाध-ज्ञान होने पर भ्रान्ति दूर हो जाती है । किन्तु जब तिमिर रोग के कारण दो चन्द्रमा दिखलाई देते हैं, तब बुद्धि से यह स्वीकार करते हुए भी कि चन्द्रमा एक है दो नहीं, तिमिर रोगी को दो ही चन्द्रमा दिखलाई देते हैं । यह द्वितीय भ्रान्ति इन्द्रिय-जन्य है । यह निर्विकल्पक ज्ञान है और इससे चन्द्रमा की प्राप्ति भी होती है, अतः यह अविसंवादक भी है । इसलिए यदि प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद को न रखा जाये तो इस मिथ्या ज्ञान में भी प्रत्यक्ष-लक्षण चला जायेगा ।[56]

3.2.5.**प्रत्यक्ष-भेद-**

प्रत्यक्ष के भेदों के विषय में न्यायप्रवेशकार पूर्णतः मौन है । वृत्तिकार हरिभद्रसूरि ने प्रत्यक्ष की किसी स्पष्ट संख्या का निर्देश नहीं किया । उनके बाद पञ्जिकाकार पार्श्वदेवगणि ने मनोविज्ञानादि शब्द की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि इन्द्रियविज्ञान के साथ-साथ मनोविज्ञान, स्वसंवेदिविज्ञान और योगिज्ञान भी प्रत्यक्ष शब्द के वाच्य हैं ।[57]

इस प्रकार न्यायप्रवेशकार, वृत्तिकार और पञ्जिकाकार में से केवल पञ्जिकाकार से ही यह संकेत मिलता है कि बौद्ध न्याय में प्रत्यक्ष के उपरोक्त चार भेद माने गये हैं । दिङ्नाग की प्रमाणसमुच्चय-वृत्ति में स्पष्टतः तीन या चार की संख्या का निर्देश नहीं किया गया । यह बात धर्मकीर्ति के ग्रन्थों में अधिक स्पष्ट होती है । इस प्रकार बौद्धन्याय में प्रत्यक्ष के चार भेद ही अभीष्ट हैं, जो निम्न प्रकार से हैं-

---

56 तस्मात् तस्याविकल्पेऽपि प्रामाण्यं प्रतिषिध्यते । विसंवादात् तदर्थं च प्रत्यक्षाभं द्विधोदितम् ॥- *प्र.वा.,* २.३००

57 *न्या. प्र. पं.*, पृ. ७७

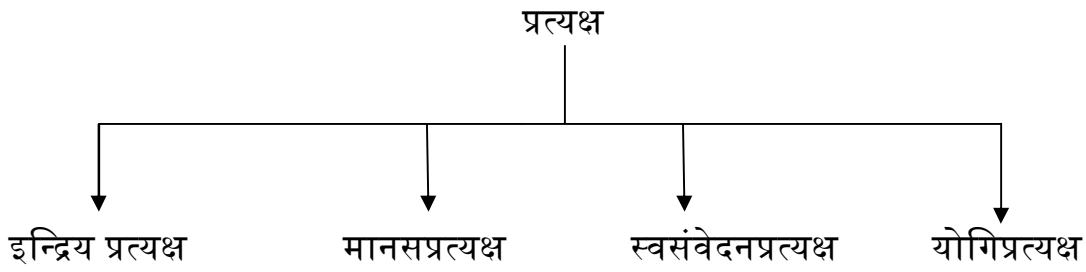

3.2.5.1.**इन्द्रिय-प्रत्यक्ष-**

इन्द्रिय पर आश्रित होने के कारण यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है ।[58] प्रमाणवार्त्तिक में इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को "साक्षाच्च ज्ञानजनने समर्थो विषयोऽक्षवत्"[59] के द्वारा कहा है कि साक्षात्कारात्मक ज्ञान के जनन में विषय वैसे ही समर्थ है, जैसे 'अक्ष' (इन्द्रिय) । इस विषय में प्रश्न उठता है कि इन्द्रिय-ज्ञान विषय और इन्द्रिय, इन दोनों से उत्पन्न होता है तो फिर "प्रत्यक्षं ज्ञानम्" इस प्रकार 'प्रत्यक्षम्' अर्थात् इन्द्रिय के द्वारा ही प्रत्यक्ष को क्यों व्यवहृत होता है? 'प्रतिविषयम्' इस प्रकार 'विषय' के द्वारा क्यो नहीं अभिहित होता?

उपर्युक्त प्रश्नों के प्रत्युत्तर में धर्मकीर्ति ने कहा है कि गमक पदार्थ की प्रधानता अर्थात् असाधारण कारणता को ध्यान में रखकर "प्रत्यक्षम्" इस प्रकार अभिहित किया जाता है क्योंकि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का असाधारण कारण इन्द्रिय ही होता है, विषय नहीं ।[60]

बौद्धन्याय में किसी भी ज्ञान की उत्पत्ति के चार प्रत्यय माने जाते हैं- (क). आलम्बनप्रत्यय, (ख). सहकारिप्रत्यय, (ग). अधिपतिप्रत्यय और (घ). समनन्तरप्रत्यय ।[61] जब नील का चाक्षुष ज्ञान होता है तब नील जो ज्ञान का विषय है, आलम्बन प्रत्यय कहलाता है । प्रकाश सहकारी प्रत्यय है क्योंकि प्रकाश होने पर ही चक्षु (नील) रूप को

---

58 इन्द्रियस्य ज्ञानम् इन्द्रियज्ञानम् । इन्द्रियाश्रितं यत् तत्प्रत्यक्षम् ।- *न्या. बि. टी.*, पृ. ५५

59 *प्र.वा.*, २.१९१

60 समीक्ष्य गमकत्वं हि व्यपदेशो नियुज्यते ।
तच्चाक्षव्यपदेशेऽस्ति तद्धर्मश्च नियोज्यताम् ॥- वही, २.१९२

61 *न्या. बि. टी.*, पृ. ५८ (हिन्दी व्याख्या)

देख सकता है । अधिपति प्रत्यय नेत्रादि इन्द्रियाँ होती हैं क्योंकि ज्ञान की सम्पूर्ण प्रक्रिया में वे ही मुख्य भूमिका निभाती हैं । समनन्तर प्रत्यय ज्ञान का पूर्वभावी क्षण अर्थात् विषय ज्ञान से पूर्व का ज्ञान क्षण समनन्तर प्रत्यय कहलाता है क्योंकि इसी के कारण प्रमाता को वस्तुलक्षण का ज्ञान होता है । चारों प्रत्ययों के परस्पर समवधान से एक नया ज्ञान उत्पन्न होता है ।[62] इसी को श्चेरबात्स्की ने विशुद्ध-इन्द्रिय ज्ञान की संज्ञा दी है ।[63] वस्तुतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष उस समय उत्पन्न होता है जब सभी ओर से अपने ध्यान को हटाकर कोई व्यक्ति निश्चल चित्त से किसी वस्तु को ग्रहण करता है ।

3.2.5.2.**मानस-प्रत्यक्ष-**

इन्द्रिय विषय के ठीक पश्चात् होने वाला विषय-क्षण तथा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है, जिसका सहकारी कारण है, उस समनन्तर प्रत्यय रूप इन्द्रिय ज्ञान से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष कहते हैं ।[64] मानस प्रत्यक्ष के विषय में यह शंका होती है कि "मानस प्रत्यक्ष यदि पूर्वतन इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण किये गये ज्ञान का ग्राहक है, तब वह अप्रमाण हो जाएगा क्योंकि अगृहीतार्थ का ग्राहक ज्ञान ही प्रमाण होता है और दूसरी शंका होती है कि यदि मानस ज्ञान को इन्द्रिय ज्ञान से अगृहीतार्थ का ज्ञापक माना जाए तो फिर अन्धे को भी रूपादि का ज्ञान होगा ।[65] अन्धादि के रूपादि दर्शनविषयक शंका को दूर करने के लिए धर्मकीर्ति ने कहा है कि मानस प्रत्यक्ष को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा गृहीतार्थ का ग्राहक ज्ञान माना जाना सम्भव नहीं है क्योंकि क्षणभङ्गवाद में ऐन्द्रियकार्थ द्वितीय क्षण में रहता ही नहीं, इसलिए इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत ज्ञान का ज्ञापक न होकर मानस-प्रत्यक्ष एक भिन्न ज्ञान है ।[66]

---

62 (क) *न्या.बि.टी.*, पृ. ११८; (ख) Shastri, D. N., *CIR*, p.451

[63] It is sensation and even pure sensation, the sensational core of perception, Stcherbatski, *BL.*, vol.1, p. 149

64 स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम् ।- *न्या. बि.*, १.९

65 पूर्वानुभूतग्रहणे मानसस्याप्रमाणता । अदृष्टग्रहणेऽन्धादेरपि स्यादर्थदर्शनम्॥- *प्र.वा.*, २.२३९

66 क्षणिकत्वादतीतस्य दर्शनस्य न सम्भवः । वाच्यमक्षणिकत्वे स्याल्लक्षणं सविशेषणम् ॥- वही, २.२४०

प्रमाणवार्त्तिककार ने इस विषय में यह भी कहा है कि इन्द्रिय-ज्ञानरूप समनन्तर प्रत्यय से जनित मानस प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय विषय से भिन्न विषय का ही ग्राहक होता है । अतः वह विषय अन्य ज्ञान के द्वारा गृहीत नहीं होता ।[67]

मानस-प्रत्यक्ष के विषय में एक काल-विषयक प्रश्न भी उत्पन्न होता है कि मानस ज्ञान द्वितीय क्षण में है और उसकी विषय-वस्तु प्रथम क्षण में, अतः मानस ज्ञान अपने से भिन्न काल में विद्यमान वस्तु का ग्राहक कैसे होगा ? क्योंकि उसकी विद्यमानता उस काल में नहीं रहती ।

इस प्रश्न के समाधान रूप में धर्मकीर्ति ने कहा है कि हेतु सदैव कार्य के पूर्वक्षण में होता है । विषयवस्तु मानसज्ञान का जनक है, अतः उसका पूर्व में रहना उचित है । ज्ञान अपने पूर्ववर्ती विषय के आकार का ग्रहण करता है अर्थात् पूर्वक्षण में विद्यमान विषयवस्तु ही अपने उत्तर क्षण में विद्यमान ज्ञान में अपने आकार को समाहित कर सकता है । विषयनिष्ठ विज्ञानगत आकार-समर्पण की हेतुता ही यहाँ ज्ञान की ग्राह्यता कही गयी है[68] तथा एक कार्य के हेतु अनेक होते है, किन्तु ज्ञान जिस विषय के आकार का अनुकरण करता हुआ उत्पन्न होता है, उसी विषय को उस ज्ञान का ग्राह्य कहा जाता है ।[69]

आशय यह है कि एक ही विज्ञान-प्रवाह में दो उत्तरोत्तर क्षणों में से पूर्वभावी क्षण इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है । दोनों में कार्यकारणभाव होता है । पूर्वभावी 'इन्द्रियज्ञान' उत्तरभावी मानस ज्ञान के लिए समनन्तर प्रत्यय का कार्य करता है क्योंकि उसके होने पर ही मानस ज्ञान सम्भव है ।[70] किन्तु दोनों ज्ञानों का विषय भिन्न होता है । इन्द्रिय

---

67 तस्मादिन्द्रियविज्ञानानन्तरप्रत्ययोद्भवम् ।
मनोऽन्यमेव गृह्णाति विषयं नान्यदृक् ततः॥- *प्र.वा.*, २.२४३

68 भिन्नकालं कथं ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यतां विदुः ।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारोऽर्पणक्षमम् ॥- वही, २.२४७

69 कार्यं ह्यनेकहेतुत्वेऽप्यनुकुर्वदुदेति यत् ।
तत् तेनाप्यत्र तद्रूपं गृहीतमिति चोच्यते॥- वही, २.२४८

70 Stcherbatski, *BL*, vol. 1, p. 162

ज्ञान का विषय यदि घट का प्रथम क्षण था तो मानस ज्ञान का विषय उसी घट का द्वितीय क्षण है । घट के द्वितीय क्षण का समवधान जब इन्द्रिय ज्ञान रूप समनन्तर प्रत्यय से होता है तब मानस प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है ।

3.2.5.3.स्वसंवेदनप्रत्यक्ष-

समस्त चित्त और चैतसिकों का आत्मसंवेदन स्वसंवेदन है ।[71] चित्त वस्तु मात्र का ग्रहण करने वाला ज्ञान है तथा चित्त में उत्पन्न होने वाले धर्म चैतसिक हैं । वे वस्तुओं के विशेष रूप ग्रहण करने वाले सुख, दुःख और अपेक्षा रूप हैं । उन समस्त चित्त-चैतसिकों के वास्तविक स्वरूप का जिस रूप से ज्ञान होता है, वह रूप अपने स्वरूप का साक्षात्कारी होने के कारण स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, कल्पनापोढ़ तथा अभ्रान्त ज्ञान है ।[72]

दिङ्नाग के स्वसंवेदन प्रत्यक्ष-लक्षण[73] का ही धर्मकीर्ति ने समर्थन किया है[74] अर्थात् राग, द्वेष, सुखदुःखादि समस्त चित्त और चैतसिक धर्मों का ज्ञान स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है । रागादि का स्वरूप अन्य ज्ञान से गृहीत न होकर स्व-ज्ञान से ही गृहीत है, क्योंकि उसके साथ वाच्य-वाचक का संकेत सम्भव नहीं । अतः ज्ञान का ज्ञान, जिस ज्ञान के द्वारा होता है वह स्वसंवेदन है ।

निर्विकल्पक ज्ञान स्वसंवेदन रूप है । इन्द्रिय के द्वारा गृहीत रूप का ज्ञान मानस ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तब उस विषय के प्रति इच्छा, क्रोध, मोह, सुख, दुःख आदि का जो अनुभव होता है वही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है ।[75] न्यायबिन्दु में भी धर्मकीर्ति ने कहा है कि- सभी चित्त और चैत (रागद्वेषादि) पदार्थों का आत्मसंवेदन प्रत्यक्ष होता

---

[71] सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं स्वसंवेदनम् ।- *बौ.त.भा.*, पृ. २६

[72] वही

[73] स्वसंवित्ति अकल्पिका ।- *प्र. समु.*, १.६

[74] अशक्यसमयो ह्यात्मा रागादीनामनन्यभाक् ।
तेषामतः स्वसंवित्तिर्नाभिजल्पानुषङ्गिणी ॥- *प्र.वा.*, २.२४९

[75] चित्तमपिरूपादीनुपलब्ध्वा यदनुभवाकारेणवर्ततेतन्निर्विकल्पकमेव, इच्छाक्रोधमोहसुखदुःखादिकं हि इन्द्रियमनपेक्ष्य भवतीति स्वसंवेदन प्रत्यक्षम् ।- *प्र. समु. वृत्ति*, १.६

है ।[76] सुख-दुःखादि की अनुभूति अन्य किसी प्रकार से घटित नहीं हो सकती इसीलिए स्वप्रकाशी सुखादि विषयों का आत्मसंवेदन प्रत्यक्ष ही होता है ।[77]

स्वसंवेदन की निर्विकल्पकता के विषय में शंका उत्पन्न होती है कि यदि सुखादि का स्वसंवेदन मानस प्रत्यक्ष माना जाए तो विकल्प-स्वरूप की प्रत्यक्षता माननी पड़ेगी ।

उपर्युक्त शंका समाधान के लिए विकल्पक और निर्विकल्पक को स्पष्ट करते हुए वार्त्तिकालङ्कार में कहा गया है कि साक्षात्कार न होने पर भी जहाँ अन्यान्य कल्पनाओं के होने पर लोकव्यवहार होता है, वही लोक में विकल्प माना जाता है ।[78] जबकि जहाँ 'दृष्टं मया' इस प्रकार का दर्शनाभिमान होता है, वह ज्ञान निर्विकल्पक है, क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे ही प्रत्यक्ष कहा जाता है ।[79] परमार्थतः समस्त वस्तुओं का ज्ञान निर्विकल्पक होता है, क्योंकि अपने ग्राह्य विषय में सभी ज्ञानों की वृत्ति होती है ।[80]

दूसरा समाधान दिया है कि अनादि संस्कारों अथवा वासनाओं के बल पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सविकल्पक कहालाता है[81] तथा वह ज्ञान जो अपने में अर्थप्रतन्त्रता का आधान करता हुआ प्रवृत्त होता है, वह निर्विकल्पक कहलाता है ।[82] अतः सुखादि के स्वरूप का स्वसंवेदन निर्विकल्पात्मक होता है, इसलिए इस प्रकार के सभी ज्ञानों में निर्विकल्पकता ही स्वीकार्य है ।[83]

---

[76] सर्वचित्त-चैतानामात्मसंवेदनम् ।- *न्या. बि.*, १.१०

[77] तस्मात् सुखादयोऽर्थानां स्वसंक्रान्तावभासिनाम् ।
वेदकाः स्वात्मनश्चैषामर्थेभ्यो जन्म केवलम् ॥- *प्र. वा.*, २.२६६

[78] असाक्षात्करणाकारे यत्र स्यात् कल्पनान्तरैः । व्यवहारः स एवात्र विकल्पो लोकसम्मतः ॥- *प्र.वा.अलं.*, पृ. ७५०

[79] दर्शनाभिमतिर्यत्र तज्ज्ञानमविकल्पकम् । साक्षात्कृत्यधिमोक्षाच्च प्रत्यक्षमिति गीयते ॥- वही

[80] परमार्थस्तु विज्ञानं सर्वमेवाविकल्पकम् । स्वग्राह्यविषये सर्वस्याविकल्पनवृत्तितः ॥- वही

[81] वासनाबलतः पूर्वसंविद्भेदानुसारतः । यत् ज्ञानं जायते क्वापि तदुक्तं सविकल्पकम् ॥- वही, पृ. ७५०

[82] तत्त्वर्थपरतन्त्रत्वमादधानं प्रवर्त्तते । निर्विकल्पकमित्युक्तन्तज्ज्ञानव्यवहारतः ॥- वही, पृ. ७५०

[83] सुखादीनान्तु रूपस्य स्वसंवित्याऽविकल्पनात् ।
अविकल्पता तत्र सर्वेषामेव सम्मता ॥- वही

स्वसंवेदन को एक चित्ताकार कहा गया है । ग्राह्य-ग्राहक का जो भेद किया गया है वह व्यवहारतः बाह्यार्थ का आश्रय लेकर किया गया है । परमार्थतः समस्त विज्ञान स्वसंवेदनात्मक है । इन्द्रियादि प्रत्ययों का विभाग स्वसंवेदन में नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय-व्यापार समानकालिक होने के कारण रूप आदि के समान वेद्य ही है ।[84]

बाह्य रूपादि पदार्थ केवल सुखादि के उपाधायक मात्र हैं, सुखादि स्वरूप नहीं, सुखादि तो आन्तरिक ज्ञान स्वरूप ही हैं । सुखादि को संवेद्य होने के कारण चेतनात्मक कहा गया है ।[85] अपने स्वरूप में सभी ज्ञान अभ्रान्त हैं, पररूप में ही विपर्यय कहलाता है । इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य प्रकार से ज्ञान की प्रकाशता की सिद्धि नहीं हो सकती और यदि ये ज्ञान प्रकाशित होते हैं तो प्रकाशस्वभाव वाले अपने कारण से उत्पन्न होकर ही प्रकाशित होते हैं ।

3.2.5.4.**योगि-प्रत्यक्ष-**

बौद्धन्याय में समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता से सम्पन्न होने वाला ज्ञान योगि-प्रत्यक्ष कहलाता है । इसे अज्ञातार्थ- ज्ञापक (अज्ञात अर्थ को प्रकाशित करने वाला) होने के अतिरिक्त अविसंवादि होना भी नितान्त आवश्यक है, अर्थात् समाधि से उत्पन्न ज्ञान तभी प्रत्यक्ष कोटि में आएगा जब उसमें किसी प्रकार की कल्पना न हो तथा वह अर्थक्रिया समर्थ स्वलक्षण को विषय बनाता हो ।[86] इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि- सद्भूत अर्थ (चार आर्यसत्य), असद्भूत अर्थ (अशुभादि) विषयों का भावना की निष्पत्ति से जो स्पष्ट तथा विकल्परहित और अविसंवादि ज्ञान उत्पन्न होता है वह

---

84 अर्थरूपे सुखादौ च यदेदमिति वर्त्तते ।
स्वरूपग्रहसाक्षात्त्वे सर्वन्तन्मानसम्मतम् ।- प्र.वा.अलं., पृ. ७५१

85 तस्मात् ते आन्तरा एव संवेद्यत्वाच्च चेतनाः ।- *प्र.वा.*, २.२७४

86 प्रागुक्तं योगिनां ज्ञानं तेषां तद्भावनामयम् ।
विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते ॥- वही, २.२८१

योगि-प्रत्यक्ष कहलाता है[87] क्योंकि भावना-जन्य ज्ञान बौद्ध मत में निर्विकल्पक ज्ञान होता है ।

काम, शोक, मोह, भयादि और चौरदुःखस्वप्नादि से उत्पन्न भय से आक्रान्त चित्त के द्वारा अपने सम्मुख उपस्थित पदार्थों को जब पुरुष देखता है तो उसके अनुरूप चेष्टा करता है, अतः वह भावना स्पष्टार्थ अथवा निर्विकल्पक है ।[88]

बौद्ध-तर्कभाषा में भूतार्थ की भावना के प्रकर्षपर्यन्त उत्पन्न ज्ञान को योगि-प्रत्यक्ष कहा गया है ।[89]

3.2.6.प्रत्यक्षाभास-विचार-

इस शब्द की संरचना से ही अभिव्यक्त होता है कि जो ज्ञान वस्तुतः प्रत्यक्ष न हो किन्तु प्रत्यक्ष के समान आभासित होता हो वह प्रत्यक्षाभास है अर्थात् जो ज्ञान स्वलक्षणविषयक नहीं है, वह प्रत्यक्षाभास है । न्यायप्रवेशकसूत्र में "कल्पनाज्ञानमर्थान्तरे प्रत्यक्षाभासम्"[90] द्वारा प्रत्यक्षाभास का कथन करते हुए कहा गया है कि घट-पटादि रूपेण विकल्पवृत्ति के पश्चात् जो शब्दारोपित ज्ञान उत्पन्न होता है वह 'सामान्यलक्षण' रूप अर्थ में प्रत्यक्षाभास कहलाता है क्योंकि वह स्वलक्षण को विषय नहीं करता, अपितु सामान्य लक्षण उसका विषय है । यहाँ 'अर्थान्तर' शब्द विशेष रूप से विचारणीय है । हरिभद्रसूरि ने इसे 'सामान्य लक्षण' का पर्याय माना है ।[91] बौद्धन्याय में दो ही प्रकार के विषय माने हैं- स्वलक्षण और सामान्यलक्षण, जिनमें

---

87 (क) तस्माद् भूतमभूतं वा यद् यदेवातिभाव्यते । भावनापरिनिष्पतौ तत् स्फुटाकल्पधीफलम् ॥
तत्र प्रमाणं संवादि यत् प्राङ्निर्णितवस्तुवत् । तद् भावनाजं प्रत्यक्षमिष्टं शेषा उपप्लवाः ॥ प्र.वा., २.२८५-२८६;
(ख) भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति।– *न्या. बि.*, १.११

88 कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुताः ।
अभूतानामपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥
स्पष्टाभं निर्विकल्पकं च भावनाबलनिर्मितम् ।- *प्र.वा.*, २.२८२,२८४

89 भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति ।- *बौ.त.भा.*, पृ. ३१

90 *न्या.प्र.सू.*, पृ. ८५

91 अर्थान्तरे सामान्यलक्षणे ।- *न्या.प्र.वृ.*, पं. २३, पृ. ३६

से स्वलक्षण को वस्तुसत् अथवा 'परमार्थसत्' स्वीकार किया गया है और सामान्यलक्षण को उससे भिन्न 'संवृति सत्' (विषय का यथाभूत रूप न होकर आरोपित रूप होता है)।

यह निश्चयात्मक ज्ञान यद्यपि निर्विकल्पक ज्ञान के ठीक बाद की अवस्था है, परन्तु यह मानसिक कल्पना है । स्वलक्षण जिसे परमार्थ सत् कहा गया है, सविकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है अपितु उसका विषय सामान्यलक्षण अर्थात् 'संवृत्ति सत् ही हो' है । इसीलिए यहाँ इस ज्ञान को प्रत्यक्ष न कहकर प्रत्यक्षाभास कहा गया है ।

प्रमाणवार्त्तिक में प्रत्यक्षाभास को सबसे पहले विकल्प अर्थात् सविकल्पक और अविकल्पक भेद से दो प्रकार का कहा है तथा तीन प्रकार का कल्पना-ज्ञान कहा गया है-

(१).भ्रान्ति प्रत्यक्षाभास (जैसे- मरुमरीचिका में जलादि विषयक भ्रान्ति ज्ञान),

(२).संवृतिसत् ज्ञान (जैसे- 'यह एक बड़ा काला घड़ा है'),

(३).अनुमानानुमानिक[92] अर्थात् अनुमान तथा अनुमानजन्य ज्ञान ('धूम होने से यहाँ अग्नि है' इस प्रकार का अनुमान)

इसके बाद अविकल्पक प्रत्यक्षाभास को "आश्रयीभूत इन्द्रिय की सदोषता के कारण तिमिरादि जनित द्विचन्द्रादि का ज्ञान" अर्थात् जब नेत्र तिमिर (रतौंधी) रोग से ग्रस्त हो जाते हैं तो 'दो चन्द्रमा हैं' इस प्रकार के ज्ञान को प्रत्यक्षाभास कहते हुए प्रत्यक्षाभास को चार प्रकार का कहा है[93] अर्थात् तीन प्रकार का कल्पना ज्ञान तथा एक 'निर्विकल्पक प्रत्यक्षाभास' मिलाकर चतुर्विध प्रत्यक्षाभास हैं-

---

92 त्रिविधं कल्पनाज्ञानमाश्रयोपप्लवोद्भवम् ।- *प्र.वा.*, २.२८८

93 अविकल्पकमेकञ्च प्रत्यक्षाभं चतुर्विधम् ॥- वही, २.२८८

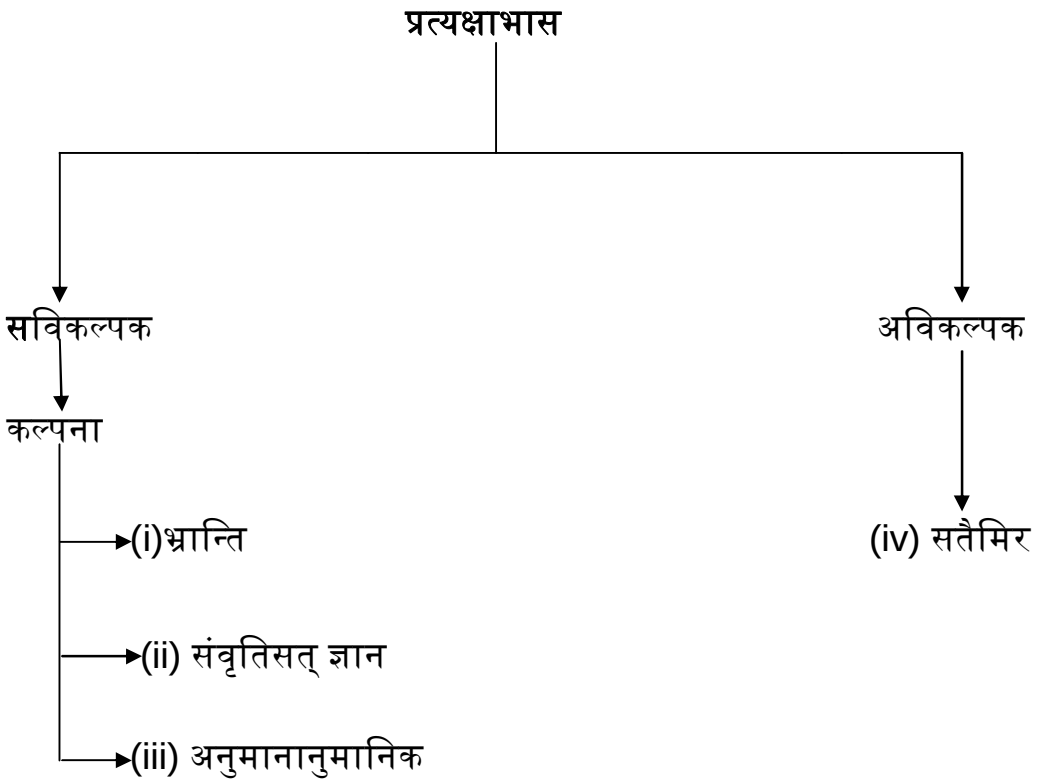

प्रत्यक्षाभास का कथन इस शंका के समाधान के लिए किया गया है कि जो योगि-प्रत्यक्ष में भावना के बल पर उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष माना गया है तो स्वप्न ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानना होगा, उसमें भी अविसंवादकत्व रहता है, क्योंकि स्वप्न में भी गमन और प्राप्ति आदि क्रियाएँ होती हैं ।[94]

इसके समाधानस्वरूप कहा है कि भ्रान्तिज्ञान, संवृतिज्ञान, अनुमान ज्ञान, स्मार्त और आभिलाषिक ज्ञान तथा द्विचन्द्रादि का ज्ञान प्रत्यक्षाभास के अन्तर्गत आते हैं क्योंकि इनमें अर्थान्तर की कल्पना की जाती है ।[95] तीन प्रकार का कल्पना ज्ञान तथा निर्विकल्पक प्रत्यक्षाभास के भेद से प्रत्यक्षाभास चतुर्विध है अर्थात् जितने भी संवृति-

---

[94] न विकल्पानुबद्धस्यास्ति स्फुटार्थावभासिता ।
स्वप्नेऽपि स्मर्यते स्मार्तं न च तत् तादृगर्थवत् ॥- *प्र.वा.*, २.२८३

[95](क) भ्रान्तिसंवृत्तिसंज्ञानमनुमानानुमानिकम् ।
स्मार्त्ताभिलाषिकञ्चेति प्रत्यक्षाभं सतैमिरम् ॥- *प्र.समु.*, का. ५८८
(ख) अनक्षजत्वसिद्ध्यर्थमुक्ते भ्रान्तिदर्शनात् ।
सिद्धानुमादिवचनं साधनायैव पूर्वयोः ॥- *प्र.वा.*, २.२८९

सज्ज्ञान हैं सभी को अर्थ में अर्थान्तर का अध्यारोप करने से, तथा उसी कल्पित रूप की तद्रूप कल्पना करने के कारण प्रत्यक्षाभास कहा गया है । भ्रान्तिज्ञान, कल्पना ज्ञान, स्मृतिज्ञान, तिमिरदोष के कारण नील में पीत का ज्ञान, अभिलाषा या कल्पना-परक ज्ञान, ये सभी वस्तु में अवस्तुबोधक होने के कारण प्रत्यक्षाभास के अन्तर्गत आते हैं ।

3.2.7.**प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय-**

दिङ्नाग ने वस्तुओं के दो स्वरूप बतलाये हैं- १. सामान्य और २. विशेष । यहाँ इन्ही को सामान्यलक्षण तथा स्वलक्षण शब्दों के द्वारा अभिहित किया गया है । प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय अर्थात् जिसका प्रत्यक्ष द्वारा बोध कराया जाता है, वह स्वलक्षण है ।[96] धर्मोत्तर ने स्वलक्षण की व्युत्पत्ति की है- "स्वम् असाधारणं लक्षण तत्त्व स्वलक्षणम्"[97] अर्थात् वस्तु का अपना आत्मीय या निजी अर्थात् असाधारण (अन्यतोव्यावृत्त) स्वरूप ही स्वलक्षण कहलाता है । वस्तु का यह असाधरण स्वरूप ही प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय है ।

प्रमाण का विषय दो प्रकार का होता है- १. ग्राह्य और २. प्राप्य (अध्यवसेय) । ग्राह्य-विषय वह है जिसके प्रतिभास अथवा आकृति के साथ ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् जिस विषय के आकार वाला ज्ञान उत्पन्न होता है वह विषय-ग्राह्य है, जबकि प्राप्य या अध्यवसेय-विषय वह है जिसका निश्चय (अध्यवसाय) होता है ।[98] ये दोनों भिन्न विषय हैं अर्थात् एक प्रमाण के ग्राह्य विषय और अध्यवसेय अलग-अलग हैं ।[99] ग्राह्य-विषय भी दो प्रकार का है- परमार्थसत् और आरोपित वस्तु । प्रत्यक्ष का ग्राह्य-विषय परमार्थसत् है और अनुमान का आरोपित वस्तु । दोनों प्रकार के ग्राह्य-विषय का अपने ज्ञान में प्रकाशन होता है । बौद्ध-न्याय में विषयगत ज्ञान-हेतुता ही ग्राह्यता है, ज्ञान की

---

96 तस्य विषयः स्वलक्षणम् ।- *न्या.बि.*, १.१२

97 *न्या.बि.टी.*, पृ. ६९

98 द्विविधो हि विषयः प्रमाणस्य-ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते, प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति ।- वही, पृ. १४९

99 अन्यो हि ग्राह्योऽन्यश्चाध्यवसेयः ।- वही

हेतुता इन्द्रियों में भी रहती है, किन्तु ग्राह्यता नहीं रहती । हेतुओं में बुद्धि यदाकारा होती है, वह ग्राह्य होता है, बुद्धि घटाद्याकारा होती है अतः घटादि ही ग्राह्य हैं ।[100] अध्यवसेय-विषय वह है जिसका ज्ञान में प्रतिभास तो नहीं होता, किन्तु वह प्रवृत्ति का विषय है, इसीलिए उसे प्रापणीय विषय भी कहा जाता है क्योंकि ज्ञान द्वारा जिस वस्तु में व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है, वही वस्तु उस ज्ञान का प्रापणीय विषय कहलाती है ।

प्रत्यक्ष का ग्राह्य क्षण है, किन्तु प्रत्यक्ष के बल से उत्पन्न निश्चय के द्वारा उसका अध्यवसेय सन्तान होता है । सन्तान ही प्रत्यक्ष का प्रापणीय है क्योंकि क्षण को प्राप्त नहीं कराया जा सकता ।[101] परमार्थसत् वस्तु अर्थात् स्वलक्षण क्षण मात्र है क्योंकि यह देशाननुगत है और काल में स्थिरता नहीं रखती । बौद्ध-न्याय में कारण-कार्य भाव से व्यवस्थित जो क्षणों का प्रवाह, जिसे क्षण-सन्तान कहते हैं उसका प्रत्यक्ष के पृष्ठभावी विकल्प के द्वारा अध्यवसाय (निश्चय) किया जाता है । यद्यपि क्षण-सन्तान प्रत्यक्ष में भासित नहीं होता, किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के बाद होने वाले निश्चयात्मक ज्ञान द्वारा उसको प्रवृत्ति का विषय बनाया जाता है । इसीलिए क्षण-सन्तान प्रत्यक्ष का अध्यवसेय विषय है तथा वही प्रापणीय भी है ।

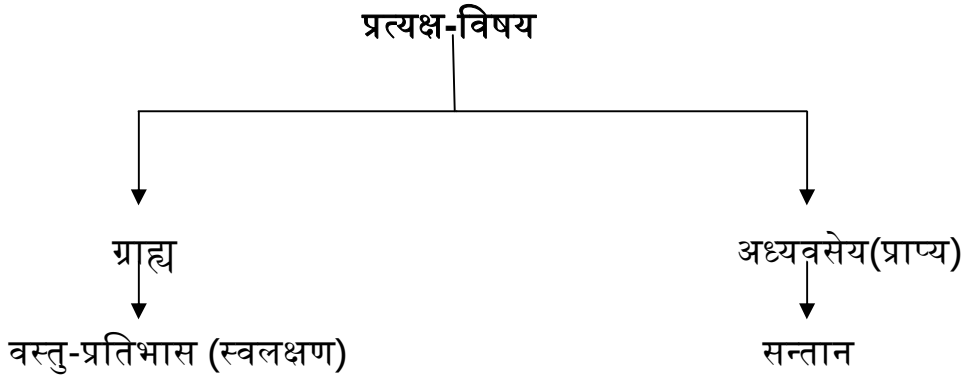

---

100 हेतुभावादृते नान्या ग्राह्यता नाम काचन।
तत्र बुद्धिर्यदाकारा तस्यास्तद् ग्राह्यमुच्यते ॥- *प्र.वा.*, २.२२४

101 प्रत्यक्षस्य हि क्षण एको ग्राह्यः । अध्यवसेयस्तु प्रत्यक्षबलोत्पन्नेन निश्चयेन सन्तान एव । सन्तान एव च प्रत्यक्षस्य प्रापणीयः । क्षणस्य प्रापयितुम् अशक्यत्वात् ।- *न्या.बि.टी.*, पृ. ७०-७१

उस स्वलक्षण (जो प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय है) के विषय में कहा है कि जो सामान्यलक्षण के विपरीत है, वह स्वलक्षण है[102] अर्थात् स्वलक्षण में सामान्यलक्षण का वैधर्म्य-अनभिधेयत्व, अवाच्यत्व, असाधारणत्व, अर्थक्रियाकारित्वादि है । स्वलक्षण में अर्थक्रियाकारित्व है, तथा जो वस्तु स्वरूपेण प्रतिभासित हो एवं अर्थक्रियाकारी हो, उसे परमार्थ सत् कहा जाता है, क्योंकि अर्थक्रिया में सामर्थ्य ही परमार्थसत् वस्तु का स्वरूप है ।

अतः वह स्वलक्षण परमार्थ सत् है ।[103] अर्थात् अग्न्यादि पदार्थों का का अपनी दाह-पाकादि रूप अर्थक्रिया में समर्थ होना बौद्ध मत में पारमार्थिक सत् है तथा वह पारमार्थिक सत् ही स्वलक्षण कहलाता है, उससे भिन्न जो सांवृतिक सत् है वह सामान्यलक्षण है । स्वलक्षण में ही प्रमेयत्व है ।[104] क्योंकि लोक में जो अग्न्यादि पदार्थ समझे जाते हैं, वे वस्तु के साधारण रूप हैं । उनके जिस रूप का अनुभव होता है, वह मानसिक कल्पनाओं के आधार पर उत्पन्न होता है । वस्तुतः उनका परमार्थसत् स्वरूप अर्थक्रियासमर्थ रूप ही है, अर्थात् जो अग्नि-क्षण दहन-पाचन में समर्थ है वही यथार्थ अथवा वस्तुसत् है । जब नेत्र के द्वारा विज्ञान-क्षण का उस यथार्थ वस्तु-क्षण के साथ समवधान होता है, तब उसका स्फुटाभास अथवा प्रतिभास होता है, वस्तु-क्षण की अनुपस्थिति में प्रतिभास नहीं होता ।[105]

यह भी उल्लेखनीय है कि उस स्वलक्षण में ज्ञानप्रतिभास अर्थात् ज्ञान का स्पष्ट रूप से ग्राह्याकार होना भी अर्थक्रियासमर्थता का एक रूप है । अर्थात् जो वस्तु ज्ञान में अपना आकार समर्पित करती है, उसमें स्फुटाकार उत्पन्न करती है वही अर्थक्रियासमर्थ है और

---

102 यथोक्तविपरीतं यत् तत् स्वलक्षणमिष्यते ।
सामान्यं त्रिविधं तच्च भावाभावोभयाश्रयात् ॥- *प्र.वा.*, २.५१

103 (क) अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत् ।
अन्यत् संवृत्तिसत् प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे ॥- वही, २.३
(ख) तदेव परमार्थसत्, अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः ।- *न्या.बि.*, १.१४-१५

104 मेयन्त्वेकं स्वलक्षणम् ।- *प्र.वा.*, २.५३

105 *न्या.बि.टी.*, पृ. ७५

वही परमार्थसत् है ।[106] यहाँ पर प्रतिभास में भेद किया गया है अर्थात् वस्तु के दूर स्थित होने से कम स्फुट ग्राह्याकारता होती है और समीप होने पर अधिक स्फुट ग्राह्याकारता होती है । अतः जिस वस्तु के निकट अथवा दूर स्थित होने से ज्ञान की ग्राह्याकारता में स्फुटता या अस्फुटता का भेद होता है, वह वस्तु स्वलक्षण है ।[107]

जिस पदार्थ के साथ अन्वय-व्यतिरेक रखती हुई बुद्धि उत्पन्न होती है । बुद्धि के साक्षात् जनक उस पदार्थ को स्वलक्षण कहा है, उस पदार्थ का स्वरूपतः अर्थात् साक्षात् ग्रहण होता है जबकि उससे भिन्न सामान्यलक्षण अतीन्द्रिय है ।[108] उस स्वलक्षण विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति निर्विकल्पतः होती है, वह केवल प्रत्यक्ष का ही विषय है ।[109]

इस प्रकार धर्मकीर्ति ने स्वलक्षण को (i) सत्तामात्र, जिसमें ज्ञान और ज्ञेय रूप से भेद नहीं किया जा सकता, जो योगाचार की परमार्थसत् वस्तु है । (ii) विशेष, जो 'किञ्चिद् इदम्' इस प्रत्यक्ष का विषय है, देश-काल में नियत है तथा नाम-जाति आदि की कल्पना से रहित है । यह अर्थक्रियासमर्थ वस्तु का एक क्षण है जो ज्ञान में स्फुटाभास उत्पन्न करने में समर्थ है । (iii) औपचारिक, प्रत्येक मूर्तिमान् व्यक्ति के लिए है क्योंकि उसका आधारभूत तत्त्व उसका अपना निजी स्वरूप स्वलक्षण ही होता है, इत्यादि अर्थों में प्रयुक्त किया है । तथा वस्तुतः वह प्रत्यक्ष का ग्राह्य-विषय और विज्ञानवाद का परमार्थसत् मात्र है ।

3.2.8.प्रत्यक्ष-फल (प्रमा)-

बौद्धन्याय में प्रमाण और उसके फल में अभेद स्वीकार किया गया है, यह पिछले अध्याय में अवगत करवाया गया है । इसी प्रकार प्रत्यक्ष के फल अथवा प्रमा और

---

106 अन्त्या हीयं भावनामर्थक्रिया यदुत स्वज्ञानजननम् ।- *प्र.वा.मनो. वृ.*, पृ. ९८

107 यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम् ।- *न्या.बि.*, १.१३

108 बुद्धिर्यत्रार्थसामर्थ्यादन्वयव्यतिरेकिणौ । तस्य स्वतन्त्रं ग्रहणमतोऽन्यद्वस्त्वतीन्द्रियम् ॥- *प्र.वा.*, २.५९

109 स्वलक्षणे च प्रत्यक्षमविकल्पतया बिना ।- वही, २.७५

प्रत्यक्ष-प्रमाण में भी धर्मकीर्ति ने अभेद का विधान किया गया है ।[110] उसका कारण अर्थप्रतीति रूप को कहा है[111] अर्थात् वह प्रत्यक्ष ज्ञान ही अर्थप्रतीति (बोध) रूप में प्रत्यक्ष का फल है । प्रमेयाधिगति (प्रमेय का अवबोध) को प्रमाण का फल कहने पर शंका उत्पन्न की गई है कि प्रमेयाधिगति ज्ञानात्मक ही होती है, यदि उसे प्रमाण का फल कहा जाएगा तो फिर प्रमाण किसे कहेंगे ?

इसके समाधान रूप में कहा गया है कि अर्थसारूप्य प्रमाण है अर्थात् ज्ञान का अर्थ के साथ जो सारूप्य है, वह प्रमाण है ।[112]

अन्य शंका भी यहाँ व्यक्त हुई है कि यदि प्रमाण और प्रमा में भेद नहीं है तो फिर ज्ञान में 'नीलस्येदम्', 'पीतस्येदम्' इस प्रकार का व्यवहार क्यों होता है? इसका उत्तर दिया गया है कि जो ज्ञान जिस विषय के सदृश होता है, वह उसका ज्ञान कहा जाता है, अतः ज्ञानगत विषय-सदृशता प्रमाण है और उस ज्ञान की विषय-प्रकाशता प्रमारूप है ।[113]

इस प्रकार इन्द्रिय आदि से अर्थ के विषय में जो साक्षात्कारात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, वही अर्थ-प्रतीति है और वही प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है । क्योंकि वह ज्ञान अर्थप्रतीतिरूप है अर्थात् अर्थ का प्रदर्शक है इसलिए वही प्रमाण का फल है । अर्थप्रतीतिरूप प्रमा की उत्पत्ति प्रत्यक्ष पृष्ठभावी विकल्प के द्वारा अध्यवसाय (निश्चय) हो जाने पर ही होती है ।[114]

विज्ञानवाद में बाह्यार्थ प्रतीति भ्रान्त मात्र कही गयी है, इसलिए अन्यार्थ का ग्रहण तो हो ही नहीं सकता केवल स्वसंवेदन ही अवशिष्ट रहता है वही प्रमारूप फल है । विज्ञान

---

110 तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलम् ।- *न्या.बि.*, १.१८

111 अर्थप्रतीतिरूपत्वात् ।- वही, १.१९

112 (क) सा च तस्यात्मभूतैव तेन नार्थान्तरं फलम् । दधानं तच्च तामात्मन्यर्थाधिगमनात्मना ॥- *प्र.वा.*, २.३०७
(ख) अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम् ।- *न्या.बि.*, १.२०

113 तत्रानुभवमात्रेण ज्ञानस्य सदृशात्मनः । भाव्यं तेनात्मना येन प्रतिकर्म विभज्यते ॥- *प्र.वा.*, २.३०२

114 अधिगतिरेव फलमिति तदनुरूपनिश्चयानुगतव्यापारमनुरूपनिश्चयानुगताविति द्रष्टव्यम् । एवं यत्रोच्यते प्रत्यक्षं वस्तुप्रदर्शकं वस्तुग्राहकमित्यादिना शब्देन तत्र सर्वत्रानुरूपनिश्चयानुगतव्यापारमेव बोद्धव्यम् ।- *धर्मो.प्र.*, पृ. २०

उत्पन्न होकर स्वरूप को ही अवभासित करता है, बाह्यार्थ को नहीं ।[115] यदि यहाँ पर यह कहा जाये कि ज्ञान अर्थाकार है तो वह अर्थ बाह्य है या आन्तरिक । इस विषय में धर्मकीर्ति का कहना है कि दर्शन या ज्ञानरूप उपाधि से रहित नीलादि अर्थों का ग्रहण नहीं हो सकता इसलिए दर्शन का आकार होता है, जैसे- 'नीलोऽयं अर्थो भाति' ।[116] इसको इस प्रकार कहा जा सकता है कि बाह्यार्थवाद में ज्ञान का वेदन ही बाह्य अर्थ होता है, ज्ञानाकारता होने के कारण बाह्यार्थ में ज्ञान की विषयता अनुभूत होती है ।[117] बाह्यार्थ के विषय में बौद्धों के प्रति प्रश्न उठाया जाता है कि बाह्य अर्थ को नहीं मानने पर ग्राह्य-ग्राहक और फल का भेद नहीं किस प्रकार होगा ? इस विषय में धर्मकीर्ति का उत्तर है कि परमार्थतः कोई भेद नहीं है, अतत्त्वदर्शी पुरुष के द्वारा पूर्वोत्पन्न संस्कारों के आधार पर ग्राह्य-ग्राहक का भेद होता है ।[118]

इस प्रकार यह विदित होता है कि बाह्यार्थ की सत्ता अविद्या के प्रभाव से एक ही ज्ञान बोध एवं बोध्यार्थ- इन दोनों रूपों में अवभासित होती है तथा कालान्तर स्मृत होती है, वही फल है अर्थात् ग्राह्याकार रूप से प्रमेय, ग्राहकाकार रूप से प्रमाण और स्वसंवेदन रूप में फल है ।[119]

इस प्रकार बौद्धन्याय में प्रमाण और प्रमा का स्वरूप जैसा न्याय-वैशेषिकादि दर्शनों में भिन्न-भिन्न परिलक्षित होता है, वैसा नहीं है । धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष प्रमाण और उसके फल अथवा प्रमा की अभेदता को स्वीकार किया है क्योंकि विज्ञानमात्र से भिन्न कोई दूसरा तत्त्व ही नहीं है ।

---

115 तदान्यसंविदोऽभावात् स्वसंवित् फलमिष्यते ।- *प्र.वा.*, २.३३२

116 दर्शनोपाधिरहितस्याग्रहात् तद् ग्रहे ग्रहाद्
।दर्शनं नीलभासिम्, नार्थो बाह्योऽस्ति केवलम् ॥- वही, २.३३५

117 यदीष्टाकार आत्मा स्यादन्यथा वानुभूयते ।
इष्टोऽनिष्टोऽपि वा तेन भवत्यर्थः प्रवेदितः ॥- वही, २.२४०

118 अविभागोऽपि बुद्ध्यात्माविपर्यासितदर्शनैः ।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥- वही, २.३५४

119 तस्माद् द्विरूपमस्त्येकं यदेवनुभूयते ।
स्मर्यते चोभयाकारस्यास्य संवेदनं फलम् ॥- वही, २.३३७

3.3.वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण-

यथार्थ ज्ञान रूप विद्या वैशेषिक दर्शन के अनुसार चार प्रकार की होती है- प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति एवं आर्षज्ञान । इन चारों में प्रत्यक्ष सर्वप्रथम वर्णित है, क्योंकि वह अन्य सभी ज्ञानों का कारण है ।[120] वैशेषिक मत में सूत्रकार के अनुसार आत्मा, इन्द्रिय और मन का विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर जो ज्ञान निष्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है[121] तथा इन्द्रिय को प्रत्यक्ष प्रमाण पद-वाच्य कहा है ।[122]

इसके पश्चात् वैशेषिक दर्शन में प्रशस्तपाद भाष्य और उसकी टीकाओं में प्रत्यक्ष के विषय में विवेचन प्राप्त होता है । प्रशस्तपाद ने आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ इन चारों के तीन सन्निकर्ष से जिस किसी भी वस्तुविषयक शब्दाजन्य यथार्थ ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है ।[123]

वैशेषिक सूत्र में स्पष्टतः प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण नहीं किया गया । किन्तु प्रशस्तपाद ने प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किया है- "अक्षमक्षप्रतीत्योत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं प्रमाणम्"[124] अर्थात् इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष है । इन्द्रियाँ अथवा अक्ष छः हैं- घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत एवं मन ।[125] न्यायकन्दलीकार ने प्रशस्तपाद के इस लक्षण की व्याख्या करते हुए "अक्षमक्षं प्रतीत्य प्राप्य यदुत्पद्यते, तत् प्रत्यक्षं प्रमाणम्"[126] से इन्द्रियों की प्राप्ति (सम्बन्ध) से जितने भी ज्ञान उत्पन्न होते हैं उन सभी को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है ।

इस विषय में यहाँ पर शंका उत्पन्न होती है कि सुख, दुःख और संस्कार ये सभी भी इन्द्रियों से उत्पन्न होते हैं अतः इन सभी में प्रत्यक्षलक्षण की आपत्ति होगी । इसके

---

120 आदौ प्रत्यक्षस्य निर्देशः कारणत्वात् ।- *न्या.क.*, पृ. ४४२

121 आऽऽत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षाद्यनिष्पद्यते तदन्यत् ।- *वै.सू.*, ३.१.१८

122 एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं व्याख्यातम् ।- वही, ४.१.१३

123 सर्वेषु पदार्थेषु चतुष्टयसन्निकर्षादवितथमव्यपदेश्यं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत् प्रत्यक्षं प्रमाणम् । *प्र.पा.भा.*, पृ. ४७५

124 वही, पृ. ४४२

125 घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्छोत्रमनांसि षट् ।- वही

126 *न्या.क.*, पृ. ४४३

समाधान रूप में कहा गया है कि यह आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष का लक्षण बुद्धि-निरूपण को आरम्भ करने के बाद कहा गया है । इसलिए प्रत्यक्ष का यहाँ यह लक्षण निष्पन्न होता है कि इन्द्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न जो ज्ञान है, वही प्रत्यक्ष प्रमाण है तथा प्रमिति के कारण होने से इन्द्रियसम्बन्ध का प्रमाण होना अभीष्ट है । विद्या के अन्तर्गत प्रत्यक्ष प्रमाण की गणना होने के कारण विद्या से बहिर्भूत संशय और विपर्यय में प्रामाण्य स्वतः खण्डित हो जाता है । केवल बहिरिन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है, इस भ्रान्ति की सम्भावना को हटाने के लिए 'अक्षम् अक्षम' वीप्सा से युक्त इस व्युत्पत्ति का आश्रय लिया गया है ।[127]

अतः षड्विध इन्द्रिय के आधार पर प्रत्यक्ष भी षड्विध है, जिन्हे अन्तरिन्द्रिय तथा बाह्येन्द्रिय के आधार पर बाह्य-प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष के रूप में दो भागों में बांटा गया है-

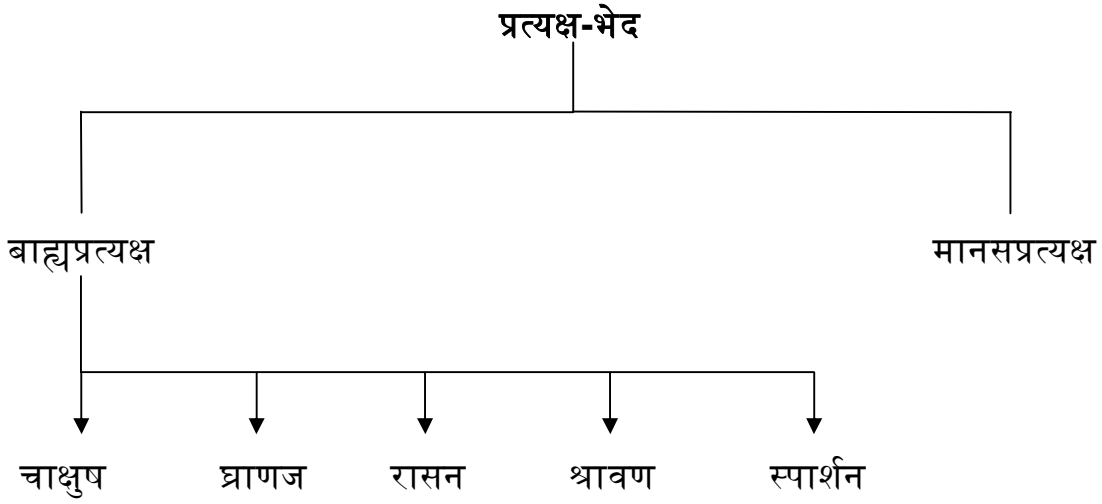

इन्द्रिय पर आश्रित इस सूक्ष्म भेद के पश्चात् प्रत्यक्ष के अवान्तर भेद भी वैशेषिक दर्शन में प्राप्त होते हैं । यह पदार्थवादी दर्शन होने के कारण पदार्थों के आधार पर भी प्रत्यक्ष के भेद कहे गये हैं ।

---

127 *न्या. क.*, पृ. ४४३ (हिन्दी व्याख्या)

न्यायकन्दली में द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य इन चार पदार्थों का ही प्रत्यक्ष कहा गया है, विशेष और समवाय का प्रत्यक्ष नहीं होता अर्थात् ये चार पदार्थ ही प्रत्यक्ष के विषय हैं ।[128] सूक्ष्म अन्वेषण के पश्चात् यह विदित होता है कि वैशेषिक दर्शन की प्रमाण व्यवस्था को लौकिक और अलौकिक भेद से दो भागों में बांटा गया है-

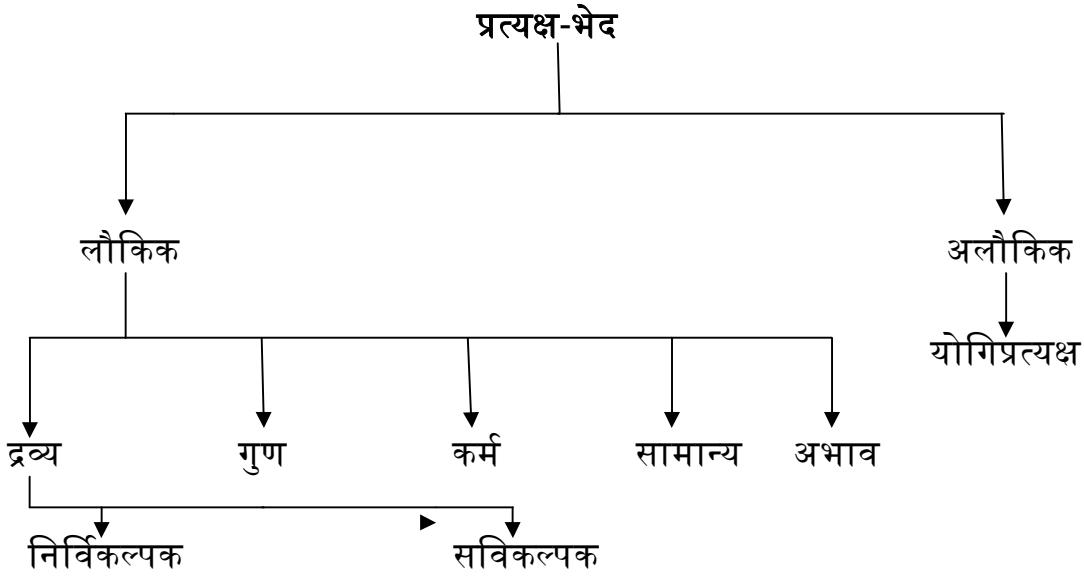

3.3.1.**प्रत्यक्ष-भेद-**

न्यायकन्दली में प्रत्यक्ष के ये भेद निम्न रूप में प्राप्त होते हैं-

3.3.1.1.**लौकिक-प्रत्यक्ष-**

लौकिक प्रत्यक्ष इहलौक के जीवों का ही होता है, अतः उसे द्रव्यादि विषयों का प्रत्यक्ष कहा गया है, यह द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव के रूप में प्राप्त होता है । अतः इस प्रत्यक्ष परम्परा के अन्तर्गत सर्वप्रथम द्रव्य के प्रत्यक्ष पर ही विचार करना चाहिए क्योंकि वही सब में प्रथम है-

---

128 तत् प्रत्यक्षं द्रव्यादिष्वेव द्रव्यगुणकर्मसामान्येष्वेवोत्पद्यते, न विशेषसमवाययोरित्यर्थः ।- *न्या. क.*, पृ. ४४४

3.3.1.1.1.द्रव्य-प्रत्यक्ष-

प्रशस्तपाद ने स्पष्टतः नहीं कहा कि कौन द्रव्य प्रत्यक्षगम्य हैं, केवल उनका सविकल्पक और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहा है । किन्तु न्यायकन्दली में श्रीधराचार्य ने महत् परिमाण से युक्त पृथ्वी, जल और तेज का ही प्रत्यक्ष कहा है, अन्य का नहीं ।[129] इसके पश्चात् उन द्रव्यों का निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद से दो प्रकार का प्रत्यक्ष कहा है-

3.3.1.1.1.1.निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष-

प्रशस्तपाद ने "**सामान्यविशेषेषु स्वरूपलोचनमात्रं प्रत्यक्षं प्रमाणम्**"[130] से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का लक्षण किया है अर्थात् सत्तारूप सामान्य एवं द्रव्यत्वादिरूप विशेष इन विषयों का स्वरूप आलोचनमात्र निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है । अनेक द्रव्यवत्त्व अर्थात् अनेक द्रव्यों में आश्रित होना, उद्भूत् रूप प्रकाश एवं आत्मा, मन, चक्षुरादि इन्द्रिय और घटादि अर्थ, इन चार वस्तुओं के तीन सन्निकर्ष- इन सबके द्वारा धर्मादि साधारण सामग्रियों के रहते हुए जब द्रव्य के स्वरूप का केवल आलोचन मात्र होता है उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं ।[131] शिवादित्य ने सप्तपदार्थी में केवल वस्तु के स्वरूप के ग्रहण के ग्रहण को निर्विकल्पक ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष कहा है ।[132]

न्यायकन्दलीकार ने प्रशस्तपाद के निर्विकल्पक लक्षण को आगे बढ़ाते हुए पूर्वपक्ष के इस आक्षेप का कि "प्रत्यक्ष में यदि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को कारण मानते हैं तो फिर अर्थगत सामान्य की तरह रूप विशेषों अर्थात् अर्थ के असाधारण धर्म का भी प्रत्यक्ष में भान मानना पडेगा जिससे संशय और विपर्यय की स्थिति उत्पन्न होगी" का उत्तर देते हुए कहा है कि ऐसी शंका उचित नहीं है, क्योंकि यह नियम नहीं है कि सामान्य की तरह विशेष का भी प्रत्यक्ष में अवश्य ही भान हो । सामान्य का प्रत्यक्ष में

---

129 महति द्रव्ये पृथिव्यप्तेजोलक्षणे प्रत्यक्षं भवति ।- *न्या.क.*, पृ. ४४४

130 *प्र.पा.भा.*, पृ. ४७१

131 वही, पृ. ४४३

132 वस्तुस्वरूपमात्रग्रहणं निर्विकल्पकम् ।- *स.प.*, पृ. १२६, (कुमार, शशिप्रभा, *वै.द.प.नि.*, पृ. ३१७ पर उद्धृत)

अवश्य भासित होने के पीछे कारण है क्योंकि सामान्य बहुत से विषयों के साथ सम्बद्ध रहता है, अतः उनमें से किसी विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर उसकी भी उपलब्धि हो जाती है। किन्तु विशेष जो असाधारण धर्म है वह अल्प देश में रहने वाला है, अतः विशेष के प्रत्यक्ष के लिए उसके आश्रय एवं आश्रय के अवयवों के साथ चक्षुरिन्द्रिय रूप अवयवी और उसके अवयवों का भी सन्निकर्ष आवश्यक है। इस प्रकार सामान्य और विशेष दोनों के 'सहोपलम्भनियम' अर्थात् दोनों साथ ही उपलब्ध हों यह नियम नहीं है, क्योंकि दोनों के प्रत्यक्ष के कारण भिन्न हैं। यही कारण है कि दूर से वस्तुओं का अस्फुट ग्रहण होता है।[133] इसलिए इस शंका का कि "सामान्य के ग्रहण से विशेष का भी ग्रहण होगा" निरास होता है।

प्रत्यक्ष के लक्षण में आये "स्वरूपालोचनमात्रम्" पद का ग्रहण करते हुए न्यायकन्दलीकार ने पूर्वपक्षी (जैन) पर आक्षेप करते हुए कहा है कि कुछ के मत में प्रत्यक्ष केवल सविकल्पक ही होता है, क्योंकि वही निश्चयात्मक होने के कारण सभी तरह के व्यवहार की योग्यता रखता है। इसका सिद्धान्तपक्ष के रूप में समाधान करते हुए न्यायकन्दलीकार ने कहा है कि 'स्वरूपालोचन' शब्द का अर्थ ग्रहणमात्र अर्थात् विकल्प रहित केवल प्रत्यक्ष अर्थ है।[134] और प्रत्यक्ष में निर्विकल्पक की प्रयोजनियता बताते हुए कहा है कि यदि निर्विकल्पक ज्ञान से वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नहीं माना जायेगा तो फिर उस वस्तु स्वरूप के वाचक शब्द की स्मृति नहीं हो पाएगी। तथा स्मृति के न होने से सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अतः सविकल्पक ज्ञान के लिए निर्विकल्पक ज्ञान भी मानना ही पड़ेगा।[135]

इस निर्विकल्पक ज्ञान को स्पष्ट करते हुए कन्दलीकार ने कहा है कि निर्विकल्पक की स्थिति में जाति, व्यक्ति एवं स्वलक्षण (असाधारण धर्म) ये सभी ज्ञान में भासित होने

---

133 *न्या.क.*, पृ. ४४५-४६

134 स्वरूपालोचनमात्रं ग्रहणमात्रं विकल्परहितं प्रत्यक्षमात्रमिति। वही, पृ. ४४६

135 वही

पर भी 'विशेष्यविशेषणभावापन्न' होकर भासित नहीं होते । क्योंकि जिस समय निर्विकल्पक ज्ञान होता है उस समय दूसरे व्यक्ति का अनुसन्धान नहीं रहता । अतः सामान्य की अनुवृत्ति और विशेष की व्यावृत्ति इनमें से किसी का भी ज्ञान सम्भव नहीं, इसलिए अनुवृत्ति और व्यावृत्ति दोनों के अज्ञान के कारण सामान्य और विशेष के विवेक का ज्ञान नहीं हो पाता है केवल विषय के स्वरूप मात्र का ग्रहण होता है । क्योंकि स्वरूप ग्रहण में दूसरे की अपेक्षा नहीं रहती ।[136] अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में विषय के विशेष्य-विशेषण भाव से रहित 'इदं किञ्चिद्' इस प्रकार से स्वरूप मात्र का ग्रहण होता है ।

3.3.1.1.1.2.सविकल्पक-प्रत्यक्ष-

सविकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में भाष्य में कहा गया है कि उक्त कारणों अर्थात् (अनेकद्रव्यवत्त्व, उद्भूत रूप, प्रकाश एवं आत्मा, मन, चक्षुरादि इन्द्रियाँ और घटादि अर्थ इन चार वस्तुओं के तीन सन्निकर्ष) के रहते हुए आत्मा एवं मन के संयोग से ही सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है । किन्तु आत्ममनसन्निकर्ष को इस कार्य अर्थात् सविकल्पक प्रत्यक्ष में द्रव्य के सामान्य धर्म, विशेष धर्म तथा द्रव्य, गुण, कर्म आदि विशेषणों की भी अपेक्षा होती है[137] क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्ष में वाचक शब्द की अपेक्षा होती है । जैसे- 'यह द्रव्य सत् है, यह पृथ्वी है, गाय सींग वाली है, गाय शुक्ल है, गाय जाती है' इस प्रकार का व्यवहार जहाँ होता है, वह सविकल्पक ज्ञान है ।

न्यायकन्दलीकार ने सविकल्पक प्रत्यक्ष की व्याख्या इस प्रकार की है- "**परं सविकल्पकं सामान्यविशेषरूपतां प्रत्येति पिण्डान्तरमनुसन्दधानस्यात्मनोऽनुवृत्तिव्यावृत्ति धर्मौ प्रतिपद्यमानस्येन्द्रियद्वारेण तथाभूतप्रतीत्युपपत्तेः**" अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान के बाद 'यह इसका विशेषण है' तथा 'यह इसका विशेष्य है' इस प्रकार का बोध सविकल्पक् प्रत्यक्ष

---

136 *न्या. क.*, पृ. ४४७

137 सामान्यविशेषद्रव्यगुणकर्मविशेषणापेक्षादात्ममनः सन्निकर्षात् प्रत्यक्षमुत्पद्यते ।- *प्र. पा. भा.*, पृ. ४४७

है । क्योंकि विशेष्य-विशेषणभाव की प्रतीति इन्द्रिय के द्वारा उसी पुरुष को हो सकती है, जिसको निर्विकल्पक ज्ञान में भासित होने वाले उसके सजातीय पिण्डों का ज्ञान हो । इस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और उक्त पिण्डादि विषयक अनुसन्धान इन दोनों में अनुवृत्ति प्रत्यय के कारणीभूत सामान्य और व्यावृत्ति प्रत्यय के कारणीभूत विशेष का ज्ञान भी हो । इस प्रकार कन्दलीकार का मत सविकल्पक के विषय में भाष्यकार के समान ही प्रतीत होता है ।

न्यायकन्दलीकार ने बौद्धों द्वारा सविकल्पक-प्रत्यक्ष को न मानने के विषय पर बौद्धों को पूर्वपक्ष बनाते हुए कहा है कि बौद्ध जो यह कहते हैं कि- "सविकल्पक ज्ञान नहीं है क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान के साथ विषय के स्वलक्ष अर्थात् असाधरण धर्म का अन्वय-व्यतिरेक है, अतः वही अपने विषय में अभ्रान्त है । क्योंकि सविकल्पक ज्ञान वासना के अधीन है, वह अपनी उत्पत्ति के लिए विषयवस्तु का अनुरोध नहीं रखता । अतः केशराशि के ज्ञान की तरह सविकल्पक ज्ञान अपनी विषयवस्तु में भ्रान्त है" इस मत का खण्डन करने के लिए ही सविकल्पक ज्ञान की भी प्रमाणता प्रत्यक्ष के रूप में सिद्ध की गई है[138] तथा इस विषय में न्यायकन्दलीकार ने कहा है कि "सविकल्पक ज्ञान कल्पना रूप होने के कारण प्रमाण नहीं है" इस बौद्ध आक्षेप का जवाब है कि निर्विकल्पक ज्ञान की तरह जितने भी अपरोक्ष विषयों के भासक ज्ञान हैं, वे सभी प्रत्यक्ष होते हैं ।

अतः सविकल्पक ज्ञान भी अपरोक्षावभासि होने के कारण प्रत्यक्ष ही है । यदि कल्पना को अतिसंयोजनरूप विशिष्टविषयक ज्ञान से अभिन्न माने तो भी सविकल्पक ज्ञान इस प्रकार की कल्पना रूप होने पर भी प्रमाण है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान में विशेष्य-विशेषण और दोनों का व्यवच्छेद्य-व्यवच्छेदकभाव सम्बन्ध, ये तीनों वस्तुएँ वास्तविक हैं, आरोपित नहीं । अतः सविकल्पक ज्ञान केवल विशिष्ट विषयक होने से ही अप्रमाण नहीं

---

138 सौगताः पुनरेवमाहुः- स्वलक्षणान्वयव्यतिरेकानुविधायिप्रतिभासं निर्विकल्पकं वस्तुन्यभ्रान्तम्, अतस्तदेव प्रत्यक्षं न सविकल्पकम्, तस्य वासनाधीनजन्मनो वस्त्वननुरोधिप्रतिभासस्य केशादिज्ञानवद् वस्तुनि भ्रान्तत्वादिति । तेषां मतं निराकर्तुं सविकल्पकस्यापि प्रत्यक्षतामाह ।- *न्या.क.*, पृ. ४४८

हो सकता ।[139] उपस्कारभाष्य में शङ्करमिश्र भी बौद्धों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि शब्द के सम्बन्ध से प्रकाशित होने की योग्यता रखता हुआ भी इन्द्रिय तथा अर्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न होने से सविकल्पक भी प्रमाण है ।[140]

श्रीधराचार्य ने बौद्धों के सविकल्पकप्रत्यक्ष को अप्रमाण मानने के विषय में कहा है कि बौद्ध जन किस युक्ति के आधार पर यह कहते हैं कि सविकल्पक ज्ञान अपने विषय का ज्ञापक प्रमाण नहीं है ? क्योंकि 'घटोऽयम्' इस प्रकार के सविकल्पक ज्ञान में पटादि अन्य सभी पदार्थों से भिन्न कम्बुग्रीवादि स्वरूप से युक्त एक विलक्षण वस्तु भासित होती है, अतः यह प्रमाण है ।[141]

सविकल्पक के विषय में एक अन्य शंका बौद्धों द्वारा व्यक्त की गई है कि प्रत्यक्षात्मक सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा गृहीत विषय का ही ज्ञापक है, इसलिए वह प्रमाण नहीं है । किन्तु लिङ्ग (हेतु) जनित सविकल्पक ज्ञान (अनुमान के रूप में) प्रमाण है, क्योंकि वह किसी दूसरे प्रमाण से सर्वथा अज्ञात असाधरण विषय का बोधक है ।

उपर्युक्त शंका का खण्डन कन्दलीकार ने बौद्धों के अपने ही मत से करते हुए कहा है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष काल में रहने वाले विषय सविकल्पक प्रत्यक्ष काल तक (आपके मत से) रह नहीं सकते । अतः आपके मत से 'निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक ज्ञान दोनों एक-विषयक हैं' इसका आपके स्वमत से ही खण्डन हो जाता है । और यदि यह मान भी लिया जाये कि दोनों प्रत्यक्षों का एक ही कोई अनिर्वचनिय विषय है, तब भी सविकल्पक प्रत्यक्ष के प्रमाणत्व का बाध नहीं होगा, क्योंकि धारावाहिक बुद्धि की तरह इसमें विषय के निर्धारण के लिए पूर्ववर्ती किसी ज्ञान की अपेक्षा नहीं है एवं अपने द्वारा निश्चित विषय को प्राप्त कराने की योग्यता भी है ।[142] सविकल्पक प्रत्यक्ष में निर्विकल्पक की भांति इन्द्रिय का विषय के साथ सम्बन्ध होते ही सविकल्पक ज्ञान न

---

139 *न्या. क.,* पृ. ४४८-५७

140 अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासश्च भवेत् प्रमाणञ्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं स्यादिति ।- *वै. सू. उप. भा.*, पृ. ४५२

141 *न्या. क.,* पृ. ४४९

142 वही, पृ. ४५१

होने का कारण यह है कि विषय के वाचक शब्द का स्मरण उससे पहले नहीं रहता, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान के उत्पादन में वाचक शब्द का स्मरण भी इन्द्रिय और अर्थात् का सहकारी है अर्थात् वह वाचक शब्द का स्मरण भी सविकल्पक में सहकारिता निभाता है।[143]

यहाँ पुनः पूर्वपक्षी बौद्धों का आक्षेप होता है कि "फिर तो स्मृति के बाद उत्पन्न होने वाला यह सविकल्पक स्मृति द्वारा ही जन्य है, इन्द्रिय और अर्थ से नहीं क्योंकि इन्द्रिय, अर्थ और सविकल्पक ज्ञान इनके मध्य में स्मृति आ जाती है" इस आक्षेप का उत्तर देते हुए न्यायकन्दलीकार ने कहा है कि क्या सहकारी कारण मुख्य कारण में जो कार्य करने की शक्ति है उसको रोक देता है? अगर ऐसा है तो फिर बीज भी अङ्कुर का कारण नहीं होगा क्योंकि बीज और अङ्कुर के बीच में मिट्टी, जल, खाद आदि आ जाते हैं जिससे बीज की कारणता कुण्ठित हो जाएगी।[144]

पुनः आक्षेप होता है कि सहकारी कारण तो मुख्य कारण के कार्य के उत्पादन में सहायक होता है, तो वाचक शब्द का स्मरण इन्द्रिय और अर्थ का क्या उपकार करता है जिससे उसको सविकल्पक प्रत्यक्ष का सहकारी कारण माना जाये? इसका उत्तर देते हुए कन्दलीकार ने कहा है कि जिस प्रकार सविकल्पक ज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिए इन्द्रिय और अर्थ का अनुगम करता है, उसी प्रकार वह स्मृति के अन्वय और व्यतिरेक के अनुगमन की भी अपेक्षा रखता है। इन्द्रिय और अर्थ को वाचक शब्द के स्मरण से यही उपकार होता है कि इसके बिना वे दोनों सविकल्पक प्रत्यक्ष रूप कार्य को उत्पन्न नहीं कर पाते।[145]

और वाचक शब्द की स्मृति हो जाने से वाच्य अर्थ के स्वरूप में ऐसी कोई विच्युति नहीं आती कि इन्द्रियसंयोग के रहने पर भी उसका प्रत्यक्ष न हो सके क्योंकि संज्ञा की स्मृति

---

143 *न्या.क.*, पृ. ४५१

144 वही, पृ. ४५२

145 वही

होने पर भी वह अपने वाच्य अर्थ के प्रत्यक्ष में कोई बाधा उत्पन्न नहीं कर सकती क्योंकि अपने अर्थ के विषय में उदासीन होने के कारण उसके अर्थ में प्रत्यक्ष होने की जो योग्यता है उसे तिरोहित करने का सामर्थ्य उस संज्ञास्मृति में नहीं है।[146]

पुनः कल्पना विषयक आक्षेप होता हैं कि सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि वह कल्पना रूप, प्रत्यक्ष तो कल्पना भिन्न ज्ञान है तथा वह कल्पना अर्थ को शब्द के साथ सम्बद्ध करने वाली प्रतीति है। इस प्रसङ्ग में सिद्धान्तवादियों का मत है कि बौद्धों के मत में सामान्य अथवा जाति नामक कोई भाव पदार्थ नहीं है तथा सामान्य से युक्त अर्थ का ग्राहक होने के कारण ही सविकल्पक ज्ञान कल्पना है तो फिर यह कहना चाहिए कि असत् अर्थ को ग्रहण करने के कारण सविकल्पक ज्ञान कल्पना है, न कि शब्द से सम्बद्ध अर्थ का ग्राहक होने के कारण। इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान असत् अर्थ का प्रकाशक होने के कारण कल्पना है, इसलिए नहीं कि वह शब्द से सम्बद्ध अर्थ का प्रकाशक है।

श्रीधराचार्य ने कहा है कि ऐसी स्थिति में यदि प्रमाण के द्वारा सामान्य नामक भाव पदार्थ की सत्ता का प्रतिपादन कर सकते हैं और यदि सविकल्पक ज्ञान शब्द से सम्बद्ध अर्थ का प्रकाशक भी हो तो भी इन्द्रियार्थजत्व रूप हेतु से उसमें प्रत्यक्षत्व की सिद्धि की जा सकती है क्योंकि निर्विकल्पकज्ञान की तरह जितने भी अपरोक्ष की तरह विषयों के भासक ज्ञान हैं, वे सभी प्रत्यक्ष होते हैं। अतः सविकल्पक ज्ञान भी अपरोक्षावभासि होने के कारण प्रत्यक्ष है।[147]

इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान में प्रमाणत्व की सिद्धि हो जाने पर यही होगा कि वह प्रत्यक्ष प्रमाण ही होगा क्योंकि अनुमान प्रमाण में सहायक लिङ्गादि वहाँ नहीं हैं, किन्तु प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक इन्द्रिय का अन्वय और व्यतिरेक वहाँ हैं।[148]

---

146 संज्ञा हि स्मर्यमाणापि प्रत्यक्षत्वं न बाधते। संज्ञिनः सा तटस्था हि न रूपाच्छादनक्षमा॥- *न्या.क.*, पृ. ४५४

147 वही, पृ. ४५६

148 प्रमाणत्वे चावस्थिते प्रत्यक्षमेव स्याल्लिङ्गाद्यभावादर्थेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाच्च।- वही, पृ. ४५१

3.3.1.1.2.गुण-प्रत्यक्ष-

कणाद के द्वारा १७ गुण ही अभिमत थे । उन्होनें अनेक द्रव्यों में आश्रित द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध होने से रूप की उद्भूतता तथा अनभिभूतता एवं रूपत्व जाति इन विशेषों से रूप गुण का प्रत्यक्ष कहा है ।[149] न्यायकन्दलीकार ने "अनेकेष्ववयवेषु समवेतं द्रव्यमनेकद्रव्यं तत्र समवायात्" के द्वारा अनेक अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला द्रव्य ही 'अनेकद्रव्य' शब्द का अर्थ कहा है ।[150] उसमें रूपादि का समवाय रूपादि के प्रत्यक्ष का कारण है अर्थात् कथित 'अनेकद्रव्य' में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले रूपादि का ही प्रत्यक्ष होता है, अन्य रूपादि का नहीं । जैसे रूप गुण का प्रत्यक्ष होता है वैसे ही रस, गन्ध एवं स्पर्श के क्रमशः रसत्व, गन्धत्व एवं गन्धत्व- तीनों अनभिभूतत्व तथा उद्भूतत्व रूप के विशेष क्रमशः रस का रासन से प्रत्यक्ष, गन्ध का घ्राण से तथा स्पर्श का त्वक् से प्रत्यक्ष होता है ।[151]

श्रोत्र रूप आकाश में रहने वाले शब्द का श्रोत्र रूप इन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होता है, इसमें आत्मा मन व श्रोत्र इन तीनों के सन्निकर्ष की भी अपेक्षा होती है । जबकि रूपादि में तीन सन्निकर्षों से प्रत्यक्ष होता है- प्रथम- आत्मा का मन से, दूसरा- मन का इन्दिय से और तीसरा- इन्द्रिय का वस्तु से ।[152]

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, स्नेह, द्रवत्व, वेग व क्रिया इन ११ वस्तुओं का चक्षु तथा इन दो इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है ।[153] प्रशस्तपाद ने बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न व संस्कार ये ७ नये गुण जोड़कर इनका प्रत्यक्ष

---

149 अनेकद्रव्यसमवायात् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ।- *वै.सू.*, ४.१.८

150 *न्या.क.*, पृ. ४५९

151(क) तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ।- *वै.सू.*, ४.१.९

(ख) स्वगतो विशेषो रूपे रूपत्वं.....त्वगिन्द्रियनिमित्तं स्पर्शे ज्ञानमुत्पद्यते ।- *न्या.क.*, पृ. ४५९

152 (क) शब्दस्य त्रयसन्निकर्षाच्छ्रोत्रसमवेतस्य तेनैवोपलब्धिः ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ४६०

(ख) त्रयसन्निकर्षादिति आत्ममन-इन्द्रियाणां सन्निकर्षो दर्शितः ।- *न्या.क.*, पृ. ४६०

153 (क) संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वस्नेहद्रवत्ववेगकर्मणां प्रत्यक्षद्रव्यसमवायाच्चक्षुःस्पर्शनाभ्यां ग्रहणम् ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ४६३

(ख) संख्यादीनां कर्मान्तानां प्रत्यक्षद्रव्यसमवेतानामाश्रयवच्चक्षुःस्पर्शनाभ्यां ग्रहणम् ।- *न्या.क.*, पृ. ४६०

आत्मा व मन के संयोग से कहा है ।[154] न्यायकन्दली में इस विषय में कहा है कि आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वालो का संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से प्रत्यक्ष होता है ।[155]

3.3.1.1.3.कर्म-प्रत्यक्ष-

प्रशस्तपाद ने गुणों के साथ ही क्रिया के चक्षु व त्वक् इन दो इन्द्रियों से प्रत्यक्ष को कहा है । न्यायकन्दलीकार ने पूर्वपक्ष द्वारा कर्म का प्रत्यक्ष न मानकर संयोग और विभाग हेतुओं से अनुमान मानने विषयक आक्षेप का खण्डन करते हुए कहा है कि उक्त आक्षेप सारहीन है क्योंकि यदि कर्म का प्रत्यक्ष नहीं होता एवं संयोग और विभाग हेतु से उसका अनुमान ही होता है तो संयोग और विभाग तो उभयाश्रयी हैं ।

अतः उनके दूसरे आश्रयों अर्थात् पूर्वदेश और उत्तरदेश में भी कर्म की अनुमिति होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता । परन्तु वृक्ष में जिस समय मूलभाग से अग्रभाग की तरफ और अग्रभाग से मूलभाग की तरफ बन्दर दौड़ लगाता रहता है उस समय संयोग और विभाग के दूसरे आश्रय वृक्ष में 'चलति' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती, अतः वृक्ष में क्रिया का अनुमान नहीं हो सकता ।[156] इस प्रकार कर्म प्रत्यक्ष-गम्य ही है अनुमानगम्य नहीं ।

3.3.1.1.4.सामान्य-प्रत्यक्ष-

सामान्य का प्रत्यक्ष सामान्यवान् पदार्थ के प्रत्यक्ष पर निर्भर है । गुणादि का जब चक्षु आदि समस्त इन्द्रियों से ग्रहण होता है तब उनमें वर्तमान गुणत्व तथा सत्ता इन दोनों जातियों का भी समस्त इन्द्रियों से ग्रहण होता है ।[157] न्यायकन्दलीकार ने कहा है कि

---

[154] बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नानां द्वयोरात्ममनसोः संयोगादुपलब्धिः । *प्र. पा. भा.*, पृ. ४६३

[155] आत्मसमवेतानां संयुक्तसमवायाद् ग्रहणम् । *न्या. क.*, पृ. ४६२

[156] वही, पृ. ४६१

[157](क) एतेन गुनत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं व्याख्यातम् । *वै. सू.*, ४.१.१३; (ख) *प्र. पा. भा.*, पृ. ४६४

सत्ता, द्रव्यत्व प्रभृति सामान्यों का प्रत्यक्ष उसी इन्द्रिय से होता है, जिससे उनके आश्रयों का प्रत्यक्ष होता है ।[158]

3.3.1.1.5.अभाव-प्रत्यक्ष-

कणाद ने सूत्र में अभाव को पृथक्शः पदार्थरूप में स्वीकार नहीं किया है, किन्तु अभाव के विषय में चर्चा अवश्य की है । उसी के आधार पर शिवादित्य ने अभाव को पृथक् रूप से सातवें पदार्थ के रूप में माना है । पूर्व वैशेषिक दर्शन में पदार्थरूप में स्वीकृत नहीं होने से ही उसका प्रत्यक्ष सूत्र और भाष्य में नहीं कहा गया, किन्तु न्यायकन्दलीकार ने अभाव का प्रत्यक्ष स्वीकार किया है ।

वह अभाव चार प्रकार का है- प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव । सूत्रकार ने अभाव के प्रत्यक्ष के विषय में कहा है कि जिस प्रकार ध्वंस के विरोधी घटादि का स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है और ध्वंस का भी प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार उत्पन्न होकर घटादि का प्रत्यक्ष नहीं होने से एवं भूतकालिक घटादि रूप प्रतियोगी के स्मरण से भी घट असत् है, घट नष्ट हो गया, इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ।[159]

जिस प्रकार ध्वंस नामक अभाव का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार रचे जाने वाले वीरण आदि भाव पदार्थों के प्रत्यक्ष से विषय होने के कारण प्रागभाव रूप अभाव का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ।[160] 'यह घट भिन्न है गौ से' इस प्रकार के अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में भी प्रतियोगीका स्मरण, अधिकरण का ज्ञान तथा पूर्व प्रदर्शित तर्क एवं प्रत्यक्षयोग्य की अनुपलब्धि ये सब कारण हैं ।[161] अत्यन्ताभाव के प्रत्यक्ष के विषय में कहा है कि त्रैकालिक अभाव रूप अत्यन्ताभाव का 'यह नहीं है' इस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है ।[162]

---

158 सत्ताद्रव्यत्वादीनां सामान्यानामाश्रयो येनेन्द्रियेण गृह्यते तेनैव तानि गृह्यन्ते ।- *न्या.क.*, पृ. ४६३

159 असदिति भूतप्रत्यक्षाभावात् भूतस्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत् ।- *वै.सू.*, ९.१.६

160 तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ।- वही, ९.१.७

161 एतेनाघटोऽगौरधर्मश्च व्याख्यातः ।- वही, ९.१.८

162 अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ।- वही, ९.१.९

यहाँ तक लौकिक प्रत्यक्ष का वर्णन करने के पश्चात् उस लौकिक प्रत्यक्ष के षड़विध सन्निकर्ष कहे गये हैं, इन्द्रियों के ये छः सन्निकर्ष प्रत्यक्ष के सम्पादक हैं-

3.3.1.1.6.षड्विध सन्निककर्ष-

१ संयोग-सन्निकर्ष:- इस सन्निकर्ष में संयोग के द्वारा द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है ।

२ संयुक्त-समवाय-सन्निकर्ष:- इस सम्बंध से द्रव्य समवेत गुणादि का प्रत्यक्ष होता है ।

३ संयुक्तसमवेतसमवाय-सन्निकर्ष:- गुणों में रहने वाली गुणत्वादि जातियों का प्रत्यक्ष इस संबंध के द्वारा होता है ।

४ समवाय-सन्निकर्ष:- इस सन्निकर्ष से शब्द का प्रत्यक्ष होता है ।

५ समवेतसमवाय-सन्निकर्ष:- शब्द में रहने वाली शब्दत्व जाति का प्रत्यक्ष इस सन्निकर्ष से होता है ।

६ विशेषणता-सन्निकर्ष:- इस संबंध से अभाव का प्रत्यक्ष होता है ।[163]

3.3.1.2.अलौकिक प्रत्यक्ष-

अलौकिक प्रत्यक्ष- ज्ञान लक्षण प्रत्यक्ष, सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष तथा योगज प्रत्यक्ष भेद से तीन प्रकार का होता है । प्राचीन वैशेषिक दर्शन में इन भेदों की स्वीकृति होते हुए भी इन पर कोई विशेष चर्चा नहीं मिलती, केवल योगज प्रत्यक्ष पर ही चर्चा प्राप्त होती है । किन्तु परवर्ती ग्रन्थों- भाषापरिच्छेद एवं न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में इनका विवरण मिलता है ।[164] न्यायकन्दली में केवल योगजप्रत्यक्ष का ही विवेचन मिलता है-

---

163 तत्र संयोगाद् द्रव्यग्रहणम्, संयुक्तसमवायाद् गुणादिप्रतीतिः, संयुक्तसमवेतसमवायाद् गुणत्वादिज्ञानम्, समवायाच्छब्दग्रहणम्, समवेतसमवायाच्छब्दत्वग्रहणम्, सम्बद्धविशेषणतया चाभावग्रहणमिति षोढा सन्निकर्षः ।- *न्या. क.*, पृ. ४६३

164 अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः ।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा ॥- *कारि.*, ६३

3.3.1.2.1.**योगज-प्रत्यक्ष-**

'अस्मदादि' जीवों से भिन्न योगियों का प्रत्यक्ष योगज प्रत्यक्ष है । कणाद ने कहा है कि लौकिक आत्मप्रत्यक्ष के समान आत्मा तथा मन के योगज धर्मजन्य सन्निकर्ष विशेष से योगियों को आत्मा का साक्षात्कार कराने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ।[165] प्रशस्तपाद ने युक्त तथा वियुक्त भेद से दो प्रकार के योगी कहे हैं[166] । उपस्कारकार ने भी यही दो भेद स्वीकार किये हैं तथा उनमें से 'एकाग्र अन्तःकरण' वाले को युक्त तथा व्युत्थान (असमाहित) अन्तःकरण वाले को वियुक्त योगी कहा है ।[167]

योगज प्रत्यक्ष के निरूपण में प्रशस्तपाद ने कहा है- योगाभ्यास द्वारा विशेष बलशाली मन से, योगी अपनी आत्मा का, आकाश, काल, दिक्, परमाणु, वायु और मन एवं इन सभी में रहने वाले गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय के यथार्थ स्वरूप का जो ज्ञान कराता है वही ज्ञान योगज प्रत्यक्ष कहलाता है । युक्त योगियों को होने वाले प्रत्यक्ष से विशिष्ट वियुक्त योगियों का प्रत्यक्ष होता है । वियुक्त योगी को आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ इन चारों के संयोग से ही योगजनित धर्म विशेष बल के कारण सूक्ष्म, व्यवहित और बहुत दूर की वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष होता है । यह प्रत्यक्ष साधारण जनों को नहीं होता । इसी कारण वैशेषिक मत में इस प्रत्यक्ष को अलौकिक प्रत्यक्ष कहा गया है ।[168]

न्यायकन्दलीकार ने योगि-प्रत्यक्ष का विवेचन करते हुए सर्वप्रथम योग शब्द का अर्थ समाधि किया है तथा उस योग को दो भागों में बांटा है- (१) सम्प्रज्ञात और (२)

---

165 आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् ।- *वै.सू.*, ९.१.११

166 अस्मद्विशाष्टानां तु योगिनां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते । वियुक्तानां पुनश्चतुष्टयसन्निकर्षाद् योगजधर्मानुग्रहसामर्थ्यात् सूक्ष्मव्यवहित विप्रकृष्टेषु प्रत्यक्षमुत्पद्यते ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ४६५

167 द्विविधास्तावद्योगिनः समाहितान्तःकरणा ये युक्ता इत्यभिधीयन्ते, असमाहितान्तःकरणाश्च ये वियुक्ता इत्यभिधीयन्ते ।- *वै.सू.उप.भा.*, पृ. ४८०

168 *प्र. पा. भा.*, पृ. ४६४

असम्प्रज्ञात ।[169] सम्प्रज्ञातयोग के विषय में कहा है कि धारक प्रयत्न के द्वारा आत्मा के किसी प्रदेश में नियोजित मन का और तत्त्वज्ञान की इच्छा से युक्त आत्मा का संयोग ही 'सम्प्रज्ञातयोग' है[170] तथा वश में किए हुए मन का बिना किसी विशेष अभिलाषा के पहले ही बिना विचारे हुए किसी द्रव्य के साथ संयोग ही असम्प्रज्ञातयोग है ।[171] इन दोनों में असम्प्रज्ञात को उत्कृष्ट योग कहा है तथा उससे संस्कार सहित अविद्या का नाश कहा है । आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप का ज्ञान योगी जनों को इस प्रत्यक्ष से होता है ।

अभ्यास के द्वारा योगीजन दूसरों की आत्मा को जानने का सामर्थ्य भी रखता है । अभ्यस्त योगी जन के उत्कृष्ट धर्म के बल से अन्तःकरण उनके शरीर से बाहर होकर दूसरी की आत्मा प्रभृति वस्तुओं के साथ सम्बद्ध होता है । यह सम्बन्ध- दूसरों की आत्मा में अन्तःकरण के संयोग से दूसरी आत्मा का एवं उसी संयोग से युक्त संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से उस आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुणादि का, तथा संयुक्त-समवेतसमवाय सम्बन्ध से उन गुणादि में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुणत्वादि धर्मों का एवं परात्मसम्बद्ध विशेषणतासम्बन्ध से उस आत्मा में रहने वाले समवाय और अभाव का प्रत्यक्ष योगियों को होता है ।[172] अतः जिस प्रकार विशेष प्रकार के अभ्यास से योगियों को विद्या-शिल्पादि का ज्ञान होता है, उसी प्रकार विशेष प्रकार के अभ्यास के कारण ही उनको आकाश एवं दूसरे की आत्मा प्रभृति अतीन्द्रिय विषयों का भी प्रत्यक्ष होता है ।

वादिवागीश्वर ने योगि-प्रत्यक्ष की सिद्धि के लिए अनुमान दिया है- "विवादपदं प्रत्यक्षं, वस्तुत्वात्, प्रमेयत्वात्, घटवत्" ।[173] वादिवागीश्वर ने कहा है कि दूर या सूक्ष्म वस्तुओं के प्रत्यक्ष स्थल पर उसकी सामग्री का भाव भी अवश्य रहता है, क्योंकि इन्द्रियों के

---

169 योगः समाधिः, स द्विविधः- सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च ।- *न्या.क.*, पृ. ४६४

170 सम्प्रज्ञातो धारकेण प्रयत्नेन क्वचिदात्मप्रदेशे वशीकृतस्य मनसस्तत्वबुभुत्साविशिष्टेनात्मना संयोगः । वही, पृ. ४६४-६५

171 असम्प्रज्ञातश्च वशीकृतस्य मनसो निरभिसन्धिर्निरभ्युत्थानात् क्वचिदात्मप्रदेशे संयोगः ।- वही, पृ. ४६५

172 वही, पृ. ४६७

173 *मा. मनो.*, पृ. ७९

सहाय्य के बिना ही योगियों को दूर या भविष्य की वस्तुओं का ज्ञान होते देखा जाता है । अतः उनका सिद्धान्त यह है कि जिस प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष स्थल पर प्रत्यक्ष ज्ञान सामग्री (इन्द्रियादि संयोग) का भाव माना जाता है । उसी प्रकार दूर या सूक्ष्म वस्तु के प्रत्यक्ष स्थल पर भी प्रत्यक्ष ज्ञान सामग्री का भाव मानना चाहिए ।[174]

3.3.2.प्रत्यक्ष का विषय-

प्रशस्तपाद ने द्रव्यादि पदार्थों को प्रमेय कहा है ।[175] न्यायकन्दली में भाष्य के 'द्रव्यादि' पद का ग्रहण करते हुए द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य को ही प्रत्यक्ष का विषय कहा है ।[176] द्रव्यादि को ही प्रत्यक्ष का विषय माना है अर्थात् यह प्रत्यक्ष ज्ञान द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य इन चार पदार्थों का ही होता है । विशेष और समवाय का प्रत्यक्ष नहीं होता ।[177] अतः द्रव्यादि चार भाव तथा एक अभाव इन पांच पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है । अभाव भावभिन्न होने से सम्भवतः अवान्तररूप से अन्तर्भावित किया गया है ।

3.3.3.प्रत्यक्ष-फल (प्रमिति)-

द्रव्यादि विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान को ही प्रशस्तपाद ने प्रत्यक्ष प्रमाण का फल कहा है ।[178] अर्थात् जिस समय सामान्य और विशेष का निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण है, उस समय द्रव्यादि विषयक विशिष्ट ज्ञान अथवा सविकल्पक ज्ञान ही फलरूप प्रमिति है ।[179]

3.3.4.प्रमाता- आत्मा प्रमाता है, क्योंकि आत्मा ही प्रमा ज्ञान का आश्रय है ।[180]

---

174 प्रत्यक्षसामग्र्यासद्भाव उपाधिरिति कस्चित्, तन्न, तस्यापि साधनात्। अनुपपन्नमेतद्, बाधितविषयत्वाद्, बाह्येन्द्रियासम्बद्धविषयत्वात्, मनसो बाह्येऽर्थेस्वातन्त्र्यात् । अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति चेत्, न, अतिप्रसङ्गो हि बाधकः स्यात्, तन्नियामकमुखेन साधकोऽपि भविष्यति ।- *मा.मनो.*, पृ. ७९-७०

175 प्रमेया द्रव्यादयः पदार्थाः ।- *प्र.पा.भा.,* पृ. ४७१

176 द्रव्यादयश्चत्वारः पदार्थाः प्रमेयाः प्रमितिविषयाः ।- *न्या.क.*, पृ. ४७२

177 तत् प्रत्यक्षं द्रव्यादिष्वेव द्रव्यगुणकर्मसामान्येष्वेवोत्पद्यते, न विशेषसमवाययोरित्यर्थः ।- वही, पृ. ४४४

178 प्रमितिर्द्रव्यादिविषयं ज्ञानम् ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ४७१

179 यदा निर्विकल्पकं सामान्यविशेषज्ञानं प्रमाणम्, तदा द्रव्यादिविषयं विशिष्टं ज्ञानं प्रमितिरित्यर्थः ।- *न्या.क.*, पृ. ४७२

3.3.5.प्रत्यक्ष के कारण-

प्रत्यक्ष के विषय में प्रश्न उठता है कि महत् परिमाण से युक्त पृथ्वी, जल और तेज का ही प्रत्यक्ष क्यो होता है? इसका समाधान करते हुए प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में तीन कारण बताये हैं-

(i).अनेकद्रव्यवत्त्व अर्थात् अनेक द्रव्यों में आश्रित होना ।

(ii).'रूप का प्रकाश' रूप में रहने वाला उद्भूतत्व नामक एक विशेष प्रकार का धर्म, जिसके न रहने से जल में तेज के रहते हुए भी तेज का प्रत्यक्ष नहीं होता ।

(iii).'चतुष्टयसन्निकर्ष' से अर्थात् आत्मा का मन के साथ संयोग, मन का इन्द्रिय के साथ और इन्द्रिय का अर्थ के साथ संयोग इन तीन संयोग रूप कारणों के द्वारा धर्मादि सामग्रियों के रहने पर अर्थात् धर्म, अधर्म और दिशा, काल प्रभृति सामान्य कारणों के रहने पर प्रत्यक्ष होता है ।[181]

महत् शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है क्योंकि परमाणु और द्व्यणुक इन दोनों का प्रत्यक्ष नहीं होता । प्रत्यक्ष के प्रति अनेकद्रव्यवत्त्व को इसलिए कारण मानते हैं क्योंकि अवयवों के न्यूनाधिक भाव से अवयवियों में स्फुटत्व रूप विशेष और अस्फुटत्व रूप अविशेष दोनों ही देखे जाते हैं । अनेकद्रव्यवत्त्व और महत्त्व के रहते हुए भी वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता है, इसलिए रूपप्रकाश को भी प्रत्यक्ष का कारण माना गया है । सभी ज्ञान सुख या दुःख के कारण हैं एवं सभी ज्ञान किसी नियमित देश और नियमित काल में ही उत्पन्न होते हैं । अतः धर्म, अधर्म, दिशा और काल इन सब को भी प्रत्यक्ष कारण माना गया है ।

---

180 प्रमाता आत्मा, बोधाश्रयत्वात् ।- *न्या.क.*, पृ. ४७२

181 वही, पृ. ४४५

आत्मा और मन के संयोग के न रहने पर मन और इन्द्रिय के संयोग एवं इन्द्रिय और अर्थ के संयोग के रहने पर भी प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए यह चतुर्विध सन्निकर्ष भी प्रत्यक्ष का कारण है ।

निष्कर्ष-

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह दृष्टिगत होता है कि बौद्ध और वैशेषिक दोनों ही दर्शनों में प्रत्यक्ष के विषय में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । बौद्ध केवल निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानते हैं जबकि वैशेषिकों ने निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों प्रकार के ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है ।

धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष के लक्षण में अपने पूर्ववर्ती बौद्ध आचार्यों से नवीन मत को प्रस्तुत किया है । दिङ्नाग, धर्मोत्तर आदि से कुछ बिन्दुओं पर भिन्न मत होते हुए भी प्रत्यक्ष के स्वरूप में इन आचार्यों से धर्मकीर्ति की सहमति दिखाई देती है । प्रत्यक्ष के इन्द्रिय, मानस, स्वसंवेदन और योगि के भेद से चार प्रकार बतायें हैं । प्रत्यक्ष के विषय के रूप में स्वलक्षण की व्याख्या है ।

इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में भी प्रत्यक्ष पर विस्तृत चर्चा की गई है । प्रत्यक्ष को प्रथमतः बाह्य और मानस भेद से दो प्रकार का कहा है, तदनन्तर बाह्य के पाँच भेद- चाक्षुष्, घ्राणज, रासन, श्रावण और स्पार्शन किये हैं । पुनः प्रत्यक्ष को लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार का कहकर उनके अन्दर अवान्तर भेद किये हैं । निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद से द्रव्यों के दो प्रत्यक्ष कहे हैं । प्रत्यक्ष का विषय द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य को कहा है । आत्मा को प्रमाता तथा द्रव्यादि का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमिति कहा गया है ।

इस प्रकार पूर्व वैशेषिक दर्शन की प्रमाण-मीमांसा में प्रत्यक्ष का स्वरूप उसके समानतन्त्र न्याय से भिन्न रूप में परिलक्षित होती है । इसलिए यह कहा जा सकता है कि पूर्व वैशेषिक प्रमाण के विषय में बौद्ध दर्शन से समानता रखते थे, किन्तु परवर्ती

काल में वैशेषिक आचार्यों के द्वारा न्याय के समान प्रमाणों की चर्चा किये जाने वह स्वतन्त्र प्रमाण-परम्परा दर्शन जगत् में नगण्य हो गयी।

अध्याय- 4

बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में अनुमानका स्वरूप

भारतीय दर्शन परम्परा में प्रत्यक्ष के बाद अनुमान का स्थान आता है । प्रत्यक्ष का विशद विवेचन किया जा चुका है अतः अब अनुमान के विषय में चर्चा करना स्वाभाविक है । भारतीय दार्शनिक संप्रदायों में चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी दार्शनिकों ने अनुमान को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है । अनुमान की उपयोगिता इसके व्यापक क्षेत्र से सिद्ध होती है । हमारा प्रातः काल से लेकर सांयकाल तक का कार्यकलाप बहुत कुछ इसी ज्ञान के आश्रय से चलता है । नव्यन्याय का प्रासाद बहुत कुछ इसी की ईंटों पर खड़ा है ।

यद्यपि चार्वाक ने विविध युक्तियों से अनुमान के प्रामाण्य का खण्डन किया है तथापि अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा उन युक्तियों का निराकरण करते हुए अनुमान की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है । सर्वदर्शनसंग्रह आदि में उनका संकलित रूप उपलब्ध होता है । अनुमान प्रमाण को मानने के लिए प्रबल युक्ति यह है कि यदि अनुमान को प्रमाण नहीं माना जाएगा तो जगत् का समस्त व्यवहार ही नष्ट हो जाएगा । अनुमान के बिना प्रत्यक्ष का भी प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकेगा । प्रत्यक्षाश्रित जो लोकव्यवहार है, वह भी भली भाँति नहीं हो सकेगा । अनुमान प्रमाण न्यायशास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है । तर्क विद्या या आन्वीक्षिकी विद्या अनुमान के पूर्व रूप में है । अतः अनुमान प्रमाण का महत्त्व सर्वविदित है ।

4.1.व्युत्पत्ति एवं निर्वचनात्मक अर्थ-

'अनुमान' शब्द 'अनु' उपसर्ग पूर्वक 'मा' धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है ।[1] 'अनु' का अर्थ है पश्चात् तथा 'मान' का अर्थ है ज्ञान या प्रमाण। यह प्रमाण प्रत्यक्ष या आगम के पश्चात् प्रवृत्त होता है इसलिए इसका नाम 'अनुमान' है ।[2] अनुमान शब्द की निरुक्ति है- 'अनुमीयतेऽनेनेति' अथवा 'येन हि अनुमीयते तद् अनुमानम्' अर्थात् जिससे अनुमिति की जाती है वह अनुमान प्रमाण कहलाता है। अतः अनुमान प्रमाण का फल अनुमिति (प्रमा) है।

किन्तु यह निर्वचनात्मक अर्थ न्याय-वैशेषिक आचार्यों के अनुसार है। बौद्ध आचार्यों का अनुमान-विवेचन प्रस्तुत निर्वचन से भिन्न है। धर्मोत्तर के अनुसार किसी प्रमाण (प्रत्यक्ष या आगम) के पश्चात् होने वाला ज्ञान अनुमान नहीं है, अपितु लिङ्ग (धूमादि) के ग्रहण तथा प्रतिबन्ध (अविनाभावी सम्बन्ध या व्याप्ति) के स्मरण के पश्चात होने वाला ज्ञान अनुमान प्रमाण है[3] अर्थात् पक्ष धर्म (पर्वत पर धूमादि) का ग्रहण हो जाने पर तथा साध्य (अग्नि आदि) और साधन (धूमादि) के सम्बन्ध का स्मरण होने पर अनुमान की प्रवृत्ति होती है, इसलिए इसे पश्चत् काल में होने वाला कहा जाता है।

4.2.अनुमान-लक्षण-

अनुमान प्रमाण के लक्षण के विषय में भी विभिन्न दार्शनिक आचार्यों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं। जैन न्याय ग्रन्थों में अनुमान का स्पष्ट लक्षण 'न्यायावतार' में उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार साध्य के अभाव में न होने वाले अविनाभावी लिङ्ग द्वारा साध्य का जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है उसे अनुमान कहा जाता है ।[4] अकलंकदेव ने

---

[1] आप्टे, शिवरामा वामन, *सं.हि.को.*, पृ. १०३

[2] प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम् । *न्या. भा.*, १.१.१

[3] लिङ्ग्रहणसम्बन्धस्मरणस्य पश्चात् मानम् अनुमानम् ।- *न्या. बि. टी.*, पृ.३०

[4] *न्यायावतार*, का. ५

साधन के द्वारा साध्य का ज्ञान अनुमान है ।[5] सांख्य दर्शन में लिङ्गलिङ्गिपूर्वक ज्ञान ज्ञान को ही अनुमान माना है ।[6] योग दर्शन में भोजवृत्तिकार के अनुसार लिङ्ग द्वारा लिङ्गि के सम्बन्ध-ग्रहण से जो सामान्यरूप से निश्चय होता है वही अनुमान है ।[7]

न्याय दर्शन में केशवमिश्र ने लिङ्गपरामर्श को अनुमान कहा है ।[8] तर्कसंग्रह में भी परामर्श से उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति कहा गया है और उसके करण को अनुमान ।[9] भाट्टमीमांसा में व्याप्य के दर्शन से असन्निकृष्ट अर्थ विषयक ज्ञान होना ही अनुमान है । जैसे पर्वत में धूम के दर्शन से अग्नि का ज्ञान होता है ।[10] प्रभाकर मत में अवगत सम्बन्ध नियम के द्वारा एकदेश के दर्शन से अन्य एकदेश रूप इन्द्रिय-सम्बद्ध अर्थ में होने वाला अबाधित ज्ञान ही अनुमान है ।[11] वेदान्तपरिभाषाकार ने अनुमान के लक्षण के विषय में कहा है कि व्याप्तिज्ञानत्व धर्म से अवच्छिन्न व्याप्तिज्ञान द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमिति है ।[12]

इस प्रकार अनुमान प्रमाण के इन लक्षणों पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि सभी दार्शनिकों ने 'अनुमिति' के असाधारण कारण को ही अनुमान कहा है ।

4.3.बौद्धन्याय में अनुमान-प्रमाण-

बौद्धन्याय की प्रमाण मीमांसा विशेषतः अनुमान के निरूपण से भरी पड़ी है । न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों के साथ बौद्ध दर्शन की प्रतियोगी भावना ने अनुमान प्रमाण के स्वरूप को अत्यधिक विकसित किया है । जिस प्रकार न्याय-वैशेषिक प्रतिपक्ष को ध्यान

---

5 साध्नात् साध्यविज्ञानम् अनुमानम् ।- *न्यायविनिश्चय,* पृ. १७०

6 लिङ्गलिङ्गिपूर्वकं ज्ञानम् अनुमानम् ।- *सां. का.*, का. ५

7 *योगसूत्र, भोजवृत्ति*, पृ. २०

8 लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् ।- *त. भा.*, पृ. ७१

9 परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः ।- *त. सं.*, पृ. ३४

10 *मा.मेयो.*, पृ. २५

11 *प्रकरणपञ्जिका*, पृ. १०५

12 अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या ।- *वे. परि.*, पृ. १६१

में रखकर अपनी व्याख्याओं को नवीन रूप प्रदान करते रहे उसी प्रकार बौद्ध दर्शन ने भी खुद को इस विचार से अछूता नहीं रखा । यथासमय बौद्धों के अनुमान प्रमाण की व्याख्या में निखार आता रहा । न्यायसूत्रों की व्याख्या करते हुए एवं उन सूत्रों को सत्य सिद्ध करते हुए उद्योतकर आदि नैयायिकों ने बौद्ध सम्मत अनुमान प्रमाण के लक्षणों को प्रस्तुत किया है एवं उनका खण्डन किया है ।

सर्वप्रथम बौद्धन्याय परम्परा में वसुबन्धु ने अनुमान के विषय में कहा है कि "नान्तरीयकार्थदर्शन तद्विदोऽनुमानम्" अर्थात् जो पदार्थ किसी दूसरे के बिना नहीं होता, उसका दर्शन उसको जानने वाले के लिए अनुमान होता है ।[13] धूम अग्नि के बिना नहीं होता, अतः धूम अग्नि का नान्तरीयक या अविनाभावी है । इस अविनाभाव सम्बन्ध का ज्ञाता जब कहीं धूम देखता है तो उससे अग्नि की अनुमिति होती है, यही अनुमान प्रमाण है ।[14]

बौद्धन्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य दिङ्नाग ने अपने 'न्यायप्रवेशसूत्र' में अनुमान का ही वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, इस ग्रन्थ में प्रत्यक्ष पर विचार ही नहीं किया गया । ग्रन्थ की प्रथम कारिका का तात्पर्य है- साधन और दूषण अपने आभासों सहित दूसरों को ज्ञान कराने में सहायक हैं, किन्तु प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों अपने आभासों सहित स्वयं अनुमाता के ज्ञान में सहायक हैं ।[15] दिङ्नाग ने अनुमान का लक्षण करते हुए कहा है कि- तीन विशेषताओं से युक्त लिङ्ग के द्वारा विषय का ज्ञान अनुमान कहलाता है ।[16] त्रैरूप्य से तात्पर्य है कि "सद् हेतु वही है जो पक्ष में विद्यमान हो, सपक्ष में विद्यमान हो तथा विपक्ष में विद्यमान न हो । जैसे- पर्वत अग्नि वाला है धूम होने से । यहाँ धूम अग्नि का नान्तरीयक या अविनाभावी है, यह धूम पर्वत रूप पक्ष में विद्यमान है, सपक्ष

---

13 मोर, लक्ष्मी, *बौद्धन्याय: न्यायप्रवेशसूत्र*, पृ. ७७

14 श्रीनिवासशास्त्री, *वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध-दर्शन का विवेचन,* पृ. १५२

15 साधनं दूषणं चैव साभासं परसंविदे ।
प्रत्यक्षमनुमानं च साभासं त्वात्मसंविदे ॥- *न्या.प्र.सू.,* पृ. १

16 अनुमानं द्विधा स्वार्थं त्रिरूपाल्लिंगतोऽर्थदृक् ।
परार्थं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशकम् ।।- *प्र. समु.,* २.१

पाकशाला में भी है, तथा विपक्ष में नहीं है । न्यायप्रवेशकार ने भी दिङ्नाग के ही मत का समर्थन किया है[17] तथा उस लिङ्ग को तीन रूपों से युक्त कहा है ।[18]

बौद्धन्याय में अनुमान प्रमाण के इस संक्षिप्त विवेचन के पश्चात धर्मकीर्ति की प्रमाणवार्त्तिक के अनुसार अनुमानविषयक चर्चा की जा रही है-

धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्त्तिक में अनुमान का लक्षण इस प्रकार किया है- किसी सम्बन्धी के धर्म से धर्मी के विषय में जो परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे अनुमान कहा जाता है ।[19] धर्मकीर्ति ने अनुमान तथा अनुमेय अर्थ की व्यवस्था के विषय में कहा है कि यह बुद्धिकल्पित भेद का आश्रय लेकर की जाती है ।[20] अनुमान परोक्ष विषयों का ज्ञापक प्रमाण है क्योंकि परोक्ष ज्ञानों में अनुमान को छोड़कर अन्य किसी प्रमाण का लक्षण सम्भव नहीं ।

अनुमान विकल्पात्मक ज्ञान है क्योंकि इसमें शब्द की योजना रहती है और उस शब्द का सम्बन्ध सामान्यलक्षण से है, जो अनुमान का ग्राह्य-विषय है । स्वलक्षण वस्तु में प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति निर्विकल्पत्वेन होती है, किन्तु सामान्यलक्षण का ग्रहण विकल्प के बिना नहीं हो सकता, अतः सामान्यलक्षण में अनुमान की ही प्रवृत्ति मानी जाती है । तथा सामान्य की अवधारणा व्यवहार रूप से है, पारमार्थिक रूप से केवल स्वलक्षण मात्र ही सत् है ।[21]

धर्मकीर्ति ने अभाव का ग्रहण अनुमान प्रमाण से ही माना है, इस विषय में नैयायिकों के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि प्रत्यक्ष की निवृत्ति से अभाव का निश्चय प्रत्यक्ष का निश्चय है- ऐसा कहना वैसा ही नितान्त विरुद्ध है जैसे कि आँख बन्द करके आँख से

---

[17] अनुमानं लिङ्गादर्थदर्शनम् । *न्या. प्र.पं.*, पं. १४, पृ. ७

[18] लिङ्गं पुनस्त्रिरूपमुक्तम् । वही

[19] या च सम्बन्धिनो धर्माद् गतिर्धर्मिणि जायते ।
सानुमानं परोक्षाणामेकान्तेनैव साधनम् ॥- *प्र. वा.*, २.६२

[20] अनुमानानुमेयार्थव्यवहारस्थितिस्त्वयम् ।
भेदं प्रत्ययसंसिद्धमवलम्ब्य च कल्प्यते ॥- वही, ४.१८३

[21] विकल्पेन न सामान्यग्रहस्तस्मिंस्ततोऽनुमा ।- वही, २.७५

देखना । यदि अनुपलब्धि के अन्वय-व्यतिरेक से युक्त प्रत्यक्ष की अप्रवृत्ति को अभाव में गमक माना जाता है, तो वह अनुमान ही है ।[22] तथा यह भी कहा है कि अभाव निश्चय की प्रत्यक्षता का उपपादन परकीय मत (न्यायमत) के अनुसार किया गया है, बौद्धमत के अनुसार वह परार्थानुमान के अन्तर्गत ही होता है ।[23]

अनुमान को भी प्रत्यक्ष के समान ही अपने विषय में अविसंवादी होने के कारण प्रमाण कहा गया है । अनुमान के विषय में यदि यह शंका उत्पन्न हो कि कही-कही धूलिपटल में धूम दर्शनादि में व्यभिचार देखकर अनुमान पर विश्वास नहीं किया जा सकता, तो इस प्रकार कहना उचित नहीं क्योंकि अलिङ्ग में लिङ्ग की भ्रान्ति के कारण विसंवाद होता है, सद् हेतु जहाँ पर होता है वहाँ विसंवाद कभी नहीं होता ।[24] धूमादि के दर्शन से अग्न्यादि वस्तुओं की सिद्धि जहाँ अवश्य होती है, वहाँ धूमादि अपने कारणीभूत अग्न्यादि से उत्पन्न हुए होते हैं । कार्य या स्वभाव हेतु के द्वारा अपने व्यापक पदार्थ का अनुमान सर्वथा विश्वसनीय ही होता है, इसलिए अनुमान प्रमाण भी प्रत्यक्ष की भाँति अविसंवादी ज्ञान है ।[25]

अनुमान ज्ञान की प्रमाणता में अविसंवादकता ही कारण है क्योंकि जो वह्न्यादिरूप भाव पदार्थ धूमादि का कारणत्व रूप से व्यापक होता है, उसका ही लिङ्गादि के द्वारा समुद्भावित अनुमान ज्ञान अविसंवादी होने के कारण प्रमाण माना जाता है ।[26] इस प्रकार लिङ्ग धूमादि और लिङ्गी वह्न्यादि का व्याप्तिज्ञान हो जाने पर वह्न्यादि वस्तु

---

22 अभावे विनिवृत्तिश्चेत् प्रत्यक्षस्यैव निश्चयः ।
विरुद्धं सैव वा लिङ्गमन्वयव्यतिरेकिणी ॥- *प्र.वा.*, २.६७

23 पराभ्युपगमेनैतदुच्यते। तेनाऽदोषः । न पराभ्युपगतस्य परार्थानुमान एवावतारात् ।- *प्र.वा.अलं.*, पृ. ५४२

24 नाश्वास इति चेल्लिङ्गं दुर्दृष्टिरतदीदृशम् । *प्र.वा.*, २.६९

25 यतः कदाचित् सिद्धाऽस्य प्रतीतिर्वस्तुनः क्वचित् ।
तदवश्यं ततो जातं तत्स्वभावोऽपि वा भवेत् ॥- वही, २.७०

26 यो हि भावो यथाभूतो स तादृग्लिङ्गचेतसः ।
हेतुस्तज्ज्ञा तथाभूते तस्माद् वस्तुनि लिङ्गिधीः ॥- वही, २.८१

का परम्परया अर्थात् वह्नि-व्याप्य धूम के ज्ञान से जनित ज्ञान अनुमान है, किन्तु वह लिङ्ग ज्ञान हेत्वाभास से रहित होना चाहिए तभी प्रमाण माना जाता है ।[27]

अनुमानरूप प्रतीति व्याप्ति रूप सम्बन्ध से प्रतिबद्ध सद् हेतु के द्वारा जनित होती है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है-

4.3.1.व्याप्ति अथवा अविनाभाव-

अनुमिति ज्ञान में साध्य के साथ साधन अर्थात् लिङ्ग का नित्य सम्बन्ध होना आवश्यक है । यह नित्य सम्बन्ध ही अविनाभाव या व्याप्ति कहलाता है । धर्मकीर्ति के अनुसार अविनाभाव दो सम्बन्धों पर आधारित है- तदुत्पत्ति और तादात्म्य । जिन दो वस्तुओं में कार्य-कारण भाव होता है, उनमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है । जैसे- धूम और वह्नि का सम्बन्ध । तादात्म्य सम्बन्ध के विषय में कहा गया है कि, जैसे- शिंशपात्व और वृक्षत्व का सम्बन्ध, क्योंकि शिंशपात्व और वृक्षत्व दोनों एक ही सामग्री के अधीन हैं अर्थात् तज्जनक-जन्यत्व सम्बन्ध है । इस प्रकार तदुत्पत्ति कार्य है और तादात्म्य स्वभाव है ।[28] इन दो सम्बन्धों को छोड़कर अन्य कोई सम्बन्ध या प्रमाण अविनाभाव का नियामक नहीं है ।

इस सम्बन्ध में श्चेरबात्सकी ने अपनी पुस्तक बौद्धन्याय में नैयायिकों का मत प्रस्तुत किया है कि- अनेक ऐसे उदाहरण हैं, जहाँ व्याप्ति तो होती है, किन्तु तादात्म्य और तदुत्पत्ति में से कोई भी निमित्त नहीं होता । जैसे- चन्द्रोदय को देखकर समुद्र की वृद्धि तथा कुमुद विकास का अनुमान किया जाता है और शरद ऋतु में निर्मल जल को देखकर अगस्त्य नक्षत्र के उदय का अनुमान किया जाता है । इसी प्रकार के अनेक उदाहरण लोक और शास्त्र में विद्यमान है, अतः नियतसाहचर्य मात्र से व्याप्ति मानना उचित है, केवल तादात्म्य और तदुत्पत्ति से नहीं ।

---

27 लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि ।
प्रतिबन्धात् तदाभासशून्योरप्यवञ्चनम् ॥- *प्र.वा.*, २.८२

28 स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य वस्तुतस्तादात्म्यात्साध्यार्थादुत्पत्तेश्चय ।- *न्या.बि.*, २.२१-२२

नैयायिकों के उपर्युक्त आक्षेप का निराकरण करते हुए धर्मकीर्ति ने कहा है कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति से ही अविनाभाव सम्बन्ध होता है, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। अन्यथा कोई पदार्थ किसी का भी साधक अथवा लिङ्ग होने लगेगा। नैयायिकों द्वारा प्रदर्शित उदाहरणों में जहाँ कहीं साक्षात् या परम्परा से तादात्म्य या तदुत्पत्ति, इन दोनों में से कोई निमित्त विद्यमान है वहाँ इसी आधार पर अविनाभाव सम्बन्ध माना जा सकता है, जैसे- जल की निर्मलता यह तो अगस्तोदय का कार्य ही है।

यद्यपि समुद्रवृद्धि या कुमुदविकास चन्द्रोदय का साक्षात् कार्य नहीं है तथापि उन दोनों की उत्पत्ति एक सामग्री के अधीन है। एक ही महाभूत विशेष से उन दोनों की उत्पत्ति होती है। इसलिए यहाँ भी परम्परा से तदुत्पत्ति निमित्त है। इसी प्रकार से किसी आम्रफल आदि के रूप को देखकर जो उसके मधुर रस का अनुमान किया जाता है, वहाँ भी एक सामग्री के अधीन होने के कारण तदुत्पत्ति नामक निमित्त होता है।[29]

इसके विपरीत जहाँ इन दोनों निमित्तों में से कोई भी नहीं रहता, वहाँ अविनाभाव सम्बन्ध ही नहीं होता। जैसे- उमड़े मेघों को देखकर भारी वर्षा का अनुमान करना युक्तिसंगत नहीं क्योंकि यह भी सम्भव है कि किसी कारण से वर्षा न हो।[30] अनुमान प्रमाण के तीन मूल आधार हैं- पक्ष, हेतु और साध्य। इसलिए इन पर विचार किया जाना आवश्यक है, सर्वप्रथम पक्षवचन को स्पष्ट किया जा रहा है-

4.3.2.पक्ष-

धर्म से युक्त धर्मी पक्ष कहलाता है[31] अर्थात् जिस पदार्थ की अभिव्यक्ति धर्मी के रूप में की जाती है, वह पर्वतादि पदार्थ पक्ष कहलाता है। पर्वत 'पर्वतत्वेन' सिद्ध होने पर ही 'वह्निमत्त्वेन' साध्य माना जाता है। अतः पर्वतादि को 'साध्यधर्मी' कहा जाता है,

---

29 एक सामग्रयधीनस्य रूपादे रसतो गतिः।
हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत्।।- *प्र.वा.*, ३.९

30 *बौ.न्या.* भाग-२, पृ. ७६

31 पक्षो धर्मिधर्मसमुदायोऽनुमेयः।- *प्र.वा.मनो.वृ.*, पृ. २१६

क्योंकि वह वह्निरूप साध्यधर्म से विशिष्ट होता है । धर्मी में यदि धर्म है तब यह निश्चित है कि उसमें साध्य भी है, किन्तु वह दृष्टिगोचर नहीं होता इसलिए उसकी पक्ष में स्थिति सन्दिग्ध है । साधन के अविनाभावी सम्बन्ध के आधार पर अनुमाता साध्य का पक्ष में अनुमान करता है । प्रमाणवार्त्तिक में पक्ष का निरास किया गया है । धर्मकीर्ति का कहना है कि अर्थ की अवगति अर्थ से होती है, पक्ष और हेतु का अभिधान करने से साध्य का बोध नहीं होता । पक्ष का कथन करने से केवल पक्ष का बोध होगा न कि साध्य का, वैसे ही हेतु का कथन करने से हेतु का बोध होगा न कि साध्य का । इस प्रकार पक्ष तथा हेतु साक्षात् साध्य के प्रतिपादक नहीं हैं ।[32]

पक्षवचन से साध्य अर्थ में संशय होने के कारण अनिश्चय से स्पष्ट है कि पक्षवचन साध्य का साधन नहीं है ।[33] मनोरथनन्दीवृत्तिकार का मानना है कि पक्षवचन साक्षात् अर्थ में प्रमाण नहीं है चूंकि वक्ता का अभिप्राय होता है दूसरे को बोध कराना और इसी दृष्टि से वह पक्ष का कथन करता है । इसलिए पक्षवचन साध्य का साक्षात् साधन नहीं है ।[34]

4.3.3.त्रिरूपलिङ्ग अथवा हेतु-

पक्ष के विवेचन के पश्चात् हेतु कथन किया जा रहा है । अनुमान के उपर्युक्त तीनों आधारों में हेतु प्रधान है । बौद्ध दर्शन में हेतु के लिए प्रायः लिङ्ग का प्रयोग है, किन्तु उसका सीधा अर्थ हेतु से ही लगाया जाता है । बौद्धों का अनुमान लिङ्ग की त्रिरूपता पर आधारित है तथा इस त्रिरूपता का आधार पक्ष, सपक्ष और विपक्ष है । त्रिरूप लिङ्ग में लिङ्ग शब्द का अर्थ है- गमक या निश्चायक । जिसके द्वारा परोक्ष अर्थ का ज्ञान होता है वह लिङ्ग या हेतु है ।[35] यह तर्कशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है । धूम को

---

[32] अर्थादर्थगतेः शक्तिः पक्षहेत्वभिधानयोः । नार्थे तेन तयोर्नास्ति स्वतः साधनसंस्थितिः ॥- *प्र.वा.,* ४.१५

[33] तत् पक्षवचनं वक्तुरभिप्रायनिवेदने । प्रमाणं संशयोत्वत्तेश्ततः साक्षान्न साधनम् ॥- वही, ४.१६

[34] यतश्च पक्षवचनं साक्षादर्थे न प्रमाणम्, तत् तस्मात् पक्षवचनं वक्तुरभिप्रायनिवेदने प्रमाणं शब्दप्रामाण्यमाचार्यस्य वदतोऽभिमतमिति बोद्धव्यम् ।- *प्र.वा.मनो.वृ.*, पृ. ३१४

[35](क) लिङ्ग्यते गम्यतेऽनेनार्थं इति लिङ्गम् ।- *न्या. बि. टी.*, २.२, पृ. ९८; (ख) लीनमर्थं गमयति इति वा लिङ्गम् ।- *न्या. प्र.पं.*, पं. १०, पृ. ७८,

देखकर परोक्ष अग्नि का अनुमान होता है अतः धूम ही अग्नि का लिङ्ग कहलाता है । बौद्धन्याय में अनुमान की प्रवृत्ति के लिए लिङ्ग का त्रिरूप होना आवश्यक माना है ।[36]

आचार्य धर्मकीर्ति ने हेतु के विषय में कहा है कि जो पक्ष का धर्म हो और उसके एक देश से व्याप्त रहे, उसे हेतु कहते हैं तथा वह तीन प्रकार का होता है ।[37] मनोरथनन्दी ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि- यद्यपि धर्मी और धर्म के समुदाय को पक्ष कहा गया है, किन्तु यहाँ पक्ष के एकदेश धर्मी को उपचार से पक्ष कहा गया है ।

पक्ष के दो अंश होते हैं- धर्म और धर्मी । जिस गुण या लक्षण को प्रदर्शित करके अनुमेय वस्तु की सिद्धि की जाती है, उसे धर्म कहते हैं तथा जिस अनुमेय वस्तु में वह धर्म रहता है, वह धर्मी कहलाता है । इस दृष्टि से 'पर्वतोऽयं वह्निमान' इस अनुमान में पर्वत पक्ष अर्थात् धर्मी है तथा वह्नि धर्म है । हेतु का पक्ष में रहना ही पर्याप्त नहीं है अपितु पक्ष के अंश साध्य के साथ उसे व्याप्त भी रहना चाहिए । धर्मकीर्ति ने भी पूर्व बौद्धाचार्यों की भांति ही हेतु की त्रिरूपता को माना है, ये तीन रूप- पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व हैं । इनमें से किसी एक अथवा दो का अभाव होने से हेतु सद् हेतु न रहकर, असिद्ध, विरुद्ध अथवा अनैकान्तिक हेत्वाभास हो जाता है ।[38]

लिङ्ग के तीन रूप इस प्रकार हैं-

१ लिङ्ग का पक्ष में अवश्य होना- पक्षसत्त्व ।

२ सपक्ष में होना- सपक्षसत्त्व ।

३ विपक्ष में कभी भी नहीं होना- विपक्षासत्त्व ।

जैसे- प्रसिद्ध अनुमान पर्वत में अग्नि है, धूम होने से, पाकशाला के समान । यहाँ धूम ही अग्नि का लिङ्ग (बोधक या गमक) है । वह पर्वत (पक्ष) में विद्यमान है, पाकशाला रूप

---

[36] (क) *प्र. समु.*, पृ. २; (ख) *न्या. प्र.*, पृ. १

[37] पक्षधर्मस्तदंशेनव्याप्तो हेतुः त्रिधैव सः ।अविनाभाव नियमात् हेत्वाभासास्ततोऽपरे ॥- *प्र.वा.*, ३.१

[38] हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निश्चयस्तेन वर्णितः । असिद्धविपरीतार्थ व्यभिचारिविपक्षतः ॥- वही, ३.१५

सपक्ष में भी विद्यमान है, किन्तु सरोवर आदि जो विपक्ष हैं उनमें कभी नहीं रहती । अतः धूम में हेतु के तीनों रूप विद्यमान हैं, इसलिए यह सद् हेतु है, जिसके कारण इसे त्रिरूप-लिङ्ग की संज्ञा दी गई है । हेतु की इस त्रिरूपता को निम्न रूप से कहा गया है-

4.3.3.1.पक्षधर्मता (पक्षसत्त्व)-

धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग तथा नैयायिकों की भांति पक्षधर्मता को अनुमान का आवश्यक अंग माना है । पक्षधर्मता का अर्थ हेतु का पक्ष में रहना है प्रमाणवार्त्तिक में कहा गया है- "पक्षे तदंशेन हेतुः व्याप्तो भवति" । मनोरथनन्दी ने वृत्ति में इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि अनुमेय धर्म का समुदाय पक्ष है तथा दोनों एक देशीय होने के कारण उपचार से पक्ष कहा जाता है, अतः पक्ष के धर्म को पक्षधर्मता कहा है ।[39] धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्त्तिक में त्रिलक्षण हेतु को उस प्रकार व्याख्यायित नहीं किया है जिस प्रकार न्यायबिन्दु में किया है वे हेतु के तीन रूपों में पक्षधर्मता को एक रूप मानते हैं ।

4.3.3.2.सपक्षधर्मत्व (सपक्षसत्त्व)-

सपक्षधर्मत्व हेतु का दूसरा रूप है ।

जिस प्रकार हेतु पक्ष में रहता है उसी प्रकार सपक्ष में उसकी विद्यमानता अनिवार्य है ।[40] सपक्षसत्व विरुद्ध हेत्वाभास का निराकरण करता है । न्यायबिन्दु मे 'सपक्षे एव सत्वम्' के द्वारा साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास का निराकरण कहा है, यह हेत्वाभास न केवल सपक्ष में रहता है अपितु सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में रहता है । जैसे- 'कोई व्यक्ति सर्वज्ञ है क्योंकि वक्ता ह', इस अनुमान वाक्य में सपक्ष में वक्तृत्व हेतु सन्दिग्ध है । इस विषय में धर्मोत्तर का कहना है कि 'सपक्षवृत्तित्व' के लक्षण में निश्चित शब्द का प्रयोग करने से सन्दिग्ध अन्वय वाले अनैकान्तिक हेत्वाभास का निराकरण होता है ।

---

39 तदेकदेशत्वादुपचारेण धर्मी पक्ष उक्तः; तस्य धर्मः अनेन पक्षधर्मत्वमुक्तम् ।- *प्र.वा.मनो.वृ.*, पृ. २१६

40 साध्यधर्मसामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः ।- *न्या.बि.*, २.७

4.3.3.3.विपक्षासत्त्व (विपक्ष व्यावृत्ति)-

धर्मकीर्ति ने विपक्षासत्व का लक्षण "असपक्षे असत्वमेव निश्चितम्" किया है[41] अर्थात् जिसमें हेतु का अभाव निश्चित हो वह विपक्ष है । जैसे- 'शब्द प्रयत्नानन्तरीयक है, अनित्य होने से', यह साधारण अनैकान्तिकहेत्वाभास है क्योंकि इस अनुमान वाक्य में अनित्यत्व हेतु विपक्ष के एक भाग विद्युत में है और आकाश में नहीं है ।[42] अतः विपक्ष की एक इकाई में रहने से यह सद् हेतु न होकर साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है ।

आचार्य उद्योत्तकर ने दिङ्नाग के अनुमान लक्षण में जो त्रुटि बताते हुए उसका खण्डन किया, धर्मकीर्ति ने उस त्रुटि को दूर करके लक्षण को परिष्कृत बनाया । उद्योत्तकर ने आक्षेप किया है कि 'अनुमेये तत्तुल्ये' इत्यादि अनुमान लक्षण 'एव' पद के बिना पूर्ण नहीं हो सकता । धर्मकीर्ति ने 'एव' पद के प्रयोग द्वारा परिष्कृत शब्दावली का परिचय दिया । उन्होंने हेतु के त्रिरूप कथन में प्रत्येक पद के साथ 'एव' पद का प्रयोग किया है ।[43] 'लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव' यहाँ पर 'एव' पद का प्रयोग करने से अनुमेय में लिङ्ग की अनुपस्थिति की सम्भावना का निराकरण होता है । 'सपक्ष एव सत्त्वम्' में 'एव' पद के प्रयोग से सपक्ष में ही लिङ्ग की सत्ता है, अन्य में नहीं इसकी पुष्टि होती है । 'असपक्षे चासत्त्वमेव' में 'एव' पद से विपक्ष में लिङ्ग की व्यावृत्ति का निश्चय होता है । इस प्रकार लक्षण में हेतु के तीनों रूपों में 'एव' पद का प्रयोग करके दिङ्नाग के त्रैरूप्यसम्पन्न हेतु को परिष्कृत रूप प्रदान किया है ।

4.3.4.लिङ्ग के तीन भेद-

धर्मकीर्ति ने त्रैरूप्य से सम्पन्न हेतु को तीन प्रकार का माना है-

(१).कार्य,

---

41 *न्या.बि.*, २.६

42 शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकः अनित्यत्वात् ।- वही

43 लिङ्गस्यानुमेये सत्त्वमेव, सपक्षे एव सत्त्वम्, असपक्षे चासत्त्वमेव निश्चितम् ।- वही, २.५

(२).स्वभाव और

(३).अनुपलब्धि ।[44]

अविनाभाव व्याप्ति में ये तीनों हेतु कारण होते हैं ।[45] मनोरथनन्दी ने त्रिविध हेतु को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है-

१).कार्य- यहाँ पर अग्नि है क्योंकि यहाँ धूम है । धूम अग्नि का कार्य है ।

२).स्वभाव- उस स्वसत्तामात्रभावी साध्यधर्म में जो हेतु है, वह स्वभाव हेतु है । जैसे- यह वृक्ष है, क्योंकि यह शीशम है, यही शिंशपात्व वृक्ष का स्वभाव हेतु है ।

३).अनुपलब्धि- किसी विशेष स्थान में घट नहीं क्योंकि घट के उपलब्धि लक्षण प्राप्त होने पर भी उसकी वहाँ अनुपलब्धि है । घट स्वभाव से ही विद्यमान है अर्थात् घट के अस्तित्त्व में स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कारण नहीं है । अतएव घट उपलब्धि लक्षण वाला है । घट की उपलब्धिलक्षणप्राप्तपना उसकी उपलब्धि लक्षणप्राप्ति है तथा अनुपलब्धि उसका न मिलना है ।[46]

धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में इस विषय में कहा है कि इन तीन हेतुओं में से कार्य और स्वभाव वस्तु की विधि को बतलाते हैं और अनुपलब्धि नामक तीसरा हेतु प्रतिषेध को बतलाता है ।[47] धर्मोत्तर ने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि- कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि, इन तीन हेतुओं में दो हेतु वस्तु के साधन हैं अर्थात् विधि रूप वस्तु का निश्चय कराते हैं जबकि अनुपलब्धि प्रतिषेध अथवा अभाव का निश्चय कराता है ।

---

44 त्रिधैव सः ।- *प्र.वा.*, ३.१

45 कार्यं स्वभावैयावद्धिरविनाभावि कारणे ।
हेतुः स्वभावे भावोऽपि भावमात्रानुरोधिनि ॥
अप्रवृत्ति प्रमाणानाम्; अप्रवृत्तिफलाऽसति ।
असज्ज्ञानफला, काचिद् हेतुभेदव्यपेक्षया ॥ वही, ३.२-३

46 त्रिधैव त्रिप्रकार एव कार्य-स्वभाव-अनुपलम्भभेदेन स हेतुः । यथा- १. अग्निरत्र धूमात्; २. वृक्षव्यवहारयोग्योऽयं शिंशपात्वात्; ३. नेह प्रदेशे घट उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः । इति संख्या नियम उक्तः ।- *प्र.वा. मनो.वृ.*, पृ. २१६

47अत्र द्वौ वस्तु साधनौ, एकः प्रतिषेध हेतुः ।- *न्या.बि.*, २.१८

आश्य यह है कि हेतु साध्य की सिद्धि के लिए होता है, इसलिए वह साध्य का अंग है और साध्य प्रधान है ।

इस प्रकार साध्य का साधन होने वाले हेतु का प्रधानभूत साध्य के भेद से भेद हो जाता है, अपने रूप से भेद नहीं होता । तथा वह साध्य कोई विधि रूप है और कोई प्रतिषेध रूप है क्योंकि भाव और अभाव एक दूसरे से पृथक् रहते हैं, इसलिए दोनों के हेतु भिन्न-भिन्न होते हैं । भावरूप साध्य में भी कोई तो हेतु से भिन्न होता है और कोई हेतु से अभिन्न अथवा तद्रूप होता है । भेद और अभेद का भी एक दूसरे से पृथक् अपना स्वरूप होता है, इसलिए उनके भी भिन्न-भिन्न हेतु होते हैं । इस प्रकार साध्य के परस्पर भेद से हेतु भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हो जाते हैं, स्वरूप से नहीं ।[48]

धर्मकीर्ति के मत में स्वभावप्रतिबन्ध होने पर ही साधन अर्थ साध्य अर्थ का ज्ञापक है[49] क्योंकि जो जहाँ पर स्वभाव से प्रतिबद्ध नहीं, उसका अप्रतिबद्ध विषय में अव्यभिचार-नियम का अभाव होता है ।[50] अतः स्वभाव से अप्रतिबद्धों में अव्यभिचार नियम अथवा अविनाभाव नियम नहीं होता । गम्य-गमक भाव अव्यभिचार नियम से ही होता है, इसलिए स्वभावप्रतिबन्ध होने पर ही अर्थ, अर्थ को बतलाता है अन्य प्रकार से नहीं ।

मनोरथनन्दी ने प्रमाणवार्त्तिक की व्याख्या को स्पष्ट करते हुए कहा है कि इन तीन हेतुओं में से कार्य और स्वभाव में ही तादात्म्य और तदुत्पत्ति रूप अविनाभाव सम्बन्ध रहता है । इस प्रकार कार्य और स्वभाव से ही वस्तु की सिद्धि होती है ।[51] साध्य में हेतु का होना ही उसका स्वभाव है । हेतु का होना केवल भाव मात्र है, जिस साध्य की सत्ता

---

48 अत्र द्वौ, इति । अत्र इति एषु त्रिषु हेतुषु मध्ये द्वौ हेतु वस्तुसाधनौविधेः साधनौ गमकौ । एकः प्रतिषेधस्य हेतुर्गमकः । प्रतिषेध इति चाभावोऽभावव्यहारश्चोक्तो द्रष्टव्यः । तद् अयम् अर्थः हेतुः साध्यसिद्ध्यर्थत्वात् साध्याङ्गम् साध्यं प्रधानम् । अतः साध्योपकरणस्य हेतोः प्रधानसाध्यभेदाद् भेदः, न स्वरूपभेदात् । साध्यश्च कश्चिद् विधिः कश्चित् प्रतिषेधः । विधिप्रतिषेधयोश्च परस्परपरिहारेणावस्थानात् तयोर्हेतू भिनौ । विधिरपि कश्चिद् हेतोर्भिन्नः कश्चिद् अभिन्नः । भेदाभेदयोर यन्योन्यत्यागेना मस्थितेर्भिन्नौ हेत् । ततः साध्यस्य परस्परविरोधाद् हेतवो भिन्नाः, न तु स्वत एवेति ।- *न्या.बि.टी.*, पृ. १२७-२८

49 स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थे गमयेत् ।- *न्या.बि.*, २.१९

50 तदप्रतिबद्धस्य तदव्यभिचारनियमाभावात् ।- वही, २.२०

51 ते च तादात्म्यतदुत्पती स्वभावकार्ययोरेवेति ताभ्यामेव वस्तुसिद्धिः ।- वही, २.२४

मात्र से जो धर्म अथवा साधन अवश्य होता है, दूसरे हेतु की अपेक्षा नहीं रखता, उस साध्य में स्वभाव नामक हेतु होता है, जैसे- राग में वस्त्रत्व हेतु । इस प्रकार कार्य और स्वभाव हेतु में विधि साधन है ।[52] अतः बौद्धन्याय में स्वभाव हेतु तादात्म्य स्वरूप है और कार्य हेतु तदुत्पत्ति स्वरूप है ।

तीसरा अनुपलब्धि नामक हेतु बौद्धन्याय में निषेध का साधक है । अनुपलब्धि हेतु जिस प्रकार स्वार्थानुमान का विषय है उसी प्रकार परार्थानुमान का भी है । अन्तर यह है कि स्वार्थानुमान के अन्तर्गत अनुमाता अनुपलब्धि लिङ्ग के द्वारा अनुमेय ज्ञान को स्वयं ग्रहण करता है, जबकि परार्थानुमान में अनुमाता अनुपलब्धि लिङ्ग के द्वारा अनुमेय का ज्ञान दूसरे को कराता है । इसीलिए स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक होता है एवं परार्थानुमान शब्दात्मक । धर्मकीर्ति ने अनुपलब्धि में प्रतिषेध व्यवहार के लिए दृश्यानुपलब्धि को आधार माना है, क्योंकि वस्तु के विद्यमान रहने पर दृश्यानुपलब्धि नहीं हो सकती ।[53] बौद्ध दृश्यानुपलब्धि के अतिरिक्त अदृश्यानुपलब्धि को स्वीकार नहीं करते । जिस प्रकार अन्धे को सब वस्तुएँ अदृश्य होने से अनुपलब्ध हैं, अतः प्रतिषेध की सिद्धि अदृश्यानुपलब्धि से न होकर दृश्यानुपलब्धि से ही होती है ।

अनुपलब्धि के स्वरूप के विषय में धर्मकीर्ति ने कहा है कि अनुपलब्धि लक्षण प्राप्त, देश-काल-स्वभाव से विप्रकृष्ट दूरस्थ पदार्थों का आत्म-प्रत्यक्ष न हो सकने से उनका अभाव नहीं कह सकता अर्थात् ऐसी परिस्थिति में अनुपलब्धि को हेतु नहीं माना जा सकता ।[54] जैसे- मदारी का अपने मुख से अग्नि निकालना देश विप्रकृष्ट है ।

दृश्यानुपलब्धि किस काल में सम्यक् ज्ञान का साधन होती है, इस विषय में कहा गया है कि यह दृश्यानुपलब्धि जानने वाले के पूर्व अनुभूत प्रत्यक्ष अर्थात् जिस प्रत्यक्ष ज्ञान

---

52 भावोऽपि स्वभावोऽपि हेतुः स्वभावे साध्ये । कीदृशे? हेतोर्भावः केवलो भावमात्रं तदनुरोद्धुमनुवर्त्तितुं शीलमस्येति भावमात्रानुरोधि तस्मिन् । यस्य सत्तामात्रेण यो धर्मोऽवश्यं भवति न हेत्वन्तरमपेक्षते, तस्मिन् साध्ये स्वभावाख्यो हेतुः, नान्यत्र; यथा- वस्त्रत्वं रागे । एवं च विधिसाधनत्वं कार्यस्वभावयोर्दर्शितम् ।- *प्र.वा.मनो.वृ.*, पृ. २१७-१८

53 प्रतिषेधसिद्धिरपि यथोक्ताया एवानुपलब्धेः ।
सति वस्तुनि तस्या असम्भवात् ।- *न्या.बि.*, २.२५,२६

54 अन्यथा चानुपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेष्वात्मप्रत्यक्षेनिवृत्तेरभावनिश्चयाभावात् ।- वही, २.२७

का उसके द्वारा पहले अनुभव किया जा चुका है, वह और वर्तमान प्रत्यक्ष की निवृत्ति अभाव के व्यवहार को बतलाने वाली होती है ।[55] अतीत और वर्तमानकालीन अनुपलब्धि ही अभाव का निश्चय करती है । दृश्य की अनुपलब्धि के निश्चय के सामर्थ्य से ही दृश्य घट आदि का अभाव निश्चित होता है, अर्थात् यदि दृश्य घट वहाँ होता तो दृश्य की अनुपलब्धि नहीं होती ।[56]

प्रमाणवार्त्तिक में इस अनुपलब्धि नामक हेतु के चार भेद कहे गये हैं[57]-

(अ).विरुद्धोपलब्धि- जैसे- अग्नि होने से यहाँ शीत नहीं है, यहाँ पर व्याप्य-व्यापक में तादात्म्य है । व्यापक विरुद्धोपलब्धि भी इसी प्रकार कही जाती है, जैसे- यहाँ तुषार नहीं है क्योंकि अग्नि है ।[58]

(ब).विरुद्धकार्योपलब्धि- यथा- धूम होने से यहाँ शीत नहीं है, क्योंकि धूम अग्नि का कार्य है ।[59]

(स).कारणानुपलब्धि- जैसे- यहाँ अग्नि न होने के कारण धूम नहीं है, क्योंकि अग्नि धूम का कारण है ।[60]

(द).स्वभावानुपलब्धि- जैसे- यहाँ धूम नहीं है, अनुपलब्ध होने के कारण । इसी से व्यापकानुपलब्धि भी कही जाती है, जैसे- यहाँ शिंशपा नहीं है क्योंकि कोई भी वृक्ष नहीं है ।[61]

---

[55] अमूढ़स्मृतिसंस्कारस्यातीतस्यवर्तमानस्य च प्रतिपत्तृप्रत्यक्षस्य निवृत्तिरभावव्यवहारप्रवर्त्तनी ।- *न्या.बि.*, २.२८

[56] *न्या.बि.टी.*, पृ. १४४

[57] विरुद्धकार्ययोः सिद्धिरसिद्धिर्हेतुभावयोः ।
दृश्यात्मनोरभावार्थानुपलब्धिश्चतुर्विधा ॥- *प्र.वा.*, ३.४

[58] विरुद्धोपलब्धिर्यथा- नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेः । व्याप्यव्यापकयोर्वस्तुतस्तादात्म्यात् । व्यापकविरुद्धोपलब्धिरप्यनेनैवोक्ता भवति । यथा- नात्र तुषारस्पर्शोऽग्नेः ।- *प्र.वा.मनो.वृ.*, पृ. २१९

[59] विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा- नात्र शीतस्पर्शो धूमात् ।- वही

[60] कारणानुपलब्धिर्यथा- नात्र धूमोऽनग्नेः ।- वही

[61] स्वभावानुपलब्धिर्यथा- नात्र धूमोऽनुपलब्धेः । अनेन व्यापकानुपलब्धिरप्युक्ता, यथा- नात्र शिंशपा वृक्षाभावात् ।- वही

4.3.5.अनुमान के भेद-

भारतीय दर्शन में अनुमान के भेदों का तीन प्रकार का वर्गीकरण उपलब्ध होता है-

१).प्रथम वर्ग में पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट का निरूपण लिङ्ग के अनुसार किया गया है ।

२).द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत स्वार्थानुमान और परार्थानुमान आते हैं । यह वर्गीकरण प्रयोजन के आधार पर किया गया है ।

३).तृतीय वर्ग में सन्निविष्ट केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी है, जिसका आधार व्याप्तिज्ञान है ।

प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय में इन तीन वर्गों का न्यूनाधिक विवेचन उपलब्ध होता है, जैसे- जैन दर्शन में प्रथम वर्गीकरण के अनुसार पूर्ववत् को 'पूव्वव', शेषवत् को 'सेसव' और सामान्यतोदृष्ट को 'दिट्ठसाहम्मव' के नाम से प्रसिद्ध किया गया है ।[62] अनुमान के स्वार्थ-परार्थ भेदों का विवेचन करने वाले भी जैन दार्शनिक ही जान पड़ते हैं ।[63] तृतीय वर्गीकरण का उल्लेख जैन परम्परा में नहीं मिलता ।

सांख्य दर्शन में प्रथम वर्गीकरण के प्रसंग में सांख्यकारिका में केवल इतना ही संकेत दिया है कि अनुमान तीन प्रकार का होता है, किन्तु गौड़पादभाष्य में तीनों भेदों का वर्णन किया गया है ।[64] सांख्यतत्त्वकौमुदीकार ने प्रथम अनुमान के दो भेद वीत और अवीत बताये हैं, उसके बाद वीत के पुनः दो भेद पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट प्रदर्शित कर कुल तीन प्रकार के अनुमानों का विवेचन किया है ।[65]

---

62 *अनुदानसूत्त,* १४७

63 *न्यायावतार*, का. १०

64 त्रिविधमनुमानमाख्यातम्, पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टं चेति।- *सां. का.*, का. ५, पृ. १९

65 *सां., त. कौ.*, पृ. ३९

मीमांसा में दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट दो ही भेद माने गये हैं।[66] प्राभाकर मीमांसकों ने प्रमेय द्विविधता के आधार पर अनुमान भी दो प्रकार का माना है- दृष्टस्वलक्षण और अदृष्टस्वलक्षण अनुमान ।[67] वेदान्त परिभाषाकार के अनुसार स्वार्थ-परार्थ भेद से अनुमान दो प्रकार का है ।[68] तथा तृतीय वर्गीकरण में से अन्वयीरूप एक प्रकार का अनुमान होता है ।

किन्तु बौद्धन्याय में अनुमान के भेदों पर विचार करने पर बौद्ध आचार्यों में कुछेक भिन्नताएँ देखने को मिलती हैं । दिङ्नाग से पूर्व का 'उपायहृदयम्' नामक एक ग्रन्थ मिलता है जो नागार्जुन कृत है, ऐसा माना जाता है ।[69] इस ग्रन्थ में न्यायसूत्रों का अनुकरण करते हुए अनुमान के तीन भेद स्वीकार किए गये हैं- पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ।[70] इन तीनों को इस प्रकार से समझाया जा सकता है- किसी चिन्ह विशेष से विषय का अनुमान होना, पूर्ववत् अनुमान कहलाता है । जैसे- किसी बालक के हाथ में छः अंगुलियाँ देखकर , कुछ काल पश्चात् यदि वह पुनः उस बालक को देखकर यह प्रतिभास करता है कि यह वही बालक है । यह ज्ञान षड़ङ्गुलि हेतु के स्मरण से ही पूर्व परीक्षत विषय का ज्ञान है, इसलिए इसे पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है । सागर की एक बूंद के खारे स्वाद से शेष सारे सागरसलिल को लवणमय समझना शेषवत् अनुमान है । किसी व्यक्ति की स्थानान्तर प्राप्ति से इसकी गमनशीलता को देखकर गगन में सूर्य-चन्द्र आदि का पूर्व में उदित होकर पश्चिम में अस्त होना देखकर उनकी गमनशीलता का अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहलाता है।[71]

---

[66] *मा. मेयो.*, पृ. ६०-६१

[67] *प्रकरणपञ्जिका*, पृ. २१४

[68] *वे. परि.*, पृ. १८३

[69] S.C., Vidyabhushana**,** *HIL*, p. 259

[70] अनुमानं त्रिविधं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च । *उपायहृदयम्* (G. Tucci, pre Dignaga Buddhist Text of Logic, p. 13 पर उद्धृत)

[71] यथा षडङ्गुलि सपिडकमूर्धानं बालं दृष्ट्वा, पश्चाद्ष्डङ्गं बहुश्रुतं देवदतं दृष्ट्वा, षडङ्गुलिस्मरणात् सोऽयमिति पूर्ववत् । शेषवत् यथा, सागरसलिलं पीत्वा तल्लवणरसमनुभूय शेषमति सलिलं तुल्यमेव । सामान्यतोदृष्ट यथा, कश्चित् गच्छेस्तं देशं प्राप्नोति । गगनेऽपि सूर्याचन्द्रमसौ पूर्वस्यां दिश्युदितौ पश्चिमायाश्चास्तं गतौ । तच्चेष्टायामदृष्टायामपि

असङ्ग ने अनुमान के पाँच भेद बताए हैं- लिङ्गतः, स्वभावतः, कर्मतः, धर्मतः तथा कार्य-कारणतः । मैत्रेयनाथ के द्विविध साध्य भेद- आत्मसम्बन्ध तथा परसम्बन्ध को परवर्ती आचार्यों ने स्वार्थानुमान और परार्थानुमान कहा है ।[72]

इस प्रकार दिङ्नाग से पूर्व प्रायः सभी बौद्धाचार्यों ने अनुमान का विभाजन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है- नागार्जुन ने तीन, मैत्रेयनाथ ने दो, असङ्ग ने पाँच । इनमें अनुमान के स्वार्थ-परार्थ भेदों का स्पष्टतः निरूपण नहीं मिलता, केवल मैत्रेयनाथ के श्ब्दों में स्वार्थ और परार्थ भेद का संकेत मिलता है । यह द्विविध विभाजन स्पष्टतः तो दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय में ही उपलब्ध होता है । दिङ्नाग के अनुसार त्रिरूप लिङ्ग से होने वाला अनुमान स्वार्थानुमान तथा स्वानुभूत अर्थ का दूसरे को प्रकाशन कराने वाला अनुमान परार्थानुमान कहलाता है ।[73] दिङ्नाग के पश्चात् प्रायः सभी बौद्धाचार्यों ने इन भेदों को स्वीकार किया है ।[74]

धर्मकीर्ति ने अनुमान के विभाजन में दिङ्नाग का ही अनुसरण किया है अर्थात् स्वार्थ और परार्थ के भेद से दो प्रकार का अनुमान कहा है-

4.3.5.1.स्वार्थानुमान-

स्वार्थानुमान का पृथक् रूप से कोई लक्षण प्रमाणवार्त्तिक में नही दिया गया किन्तु समग्र रूप से अनुमान का लक्षण करके स्वार्थानुमान का हेतु की त्रिरूपता के आधार पर विवेचन किया गया है । साध्य के अनुमान ज्ञान के लिए त्रिरूप लिङ्ग का ज्ञान आवश्यक है । स्वार्थानुमान त्रैरूप्य हेतु के ही आधार पर स्वयं अनुमाता को होता है । स्वार्थानुमान में वचन की आवश्यकता नहीं होती, अतः वह ज्ञानात्मक होता है ।

तद्दमनमनुमीयते एतत्सामान्यतोदृष्टम् ।- *उपायहृदयम्* (G. Tucci, pre Dignaga Buddhist Text of Logic, p. 13 पर उद्धृत)

[72] (क) ब्रजनारायण शर्मा, *भारतीय दर्शन में अनुमान*, पृ. २५८; (ख) S.C., Vidyabhushana**,** *HIL*, p. 264

[73] अनुमानं द्विधा स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक् । परार्थानुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशकम् ॥ *प्र. समु.*, २.१

[74] *न्या. बि.* १.१२, *न्या. बि. टी.*, पृ. ९६-९७, *तत्व सं.*, का. १३६२, *तत्व सं. पं.*, पृ. ४०४, *बौ. त. भा.*, पृ. १२. १८

4.3.5.2.**परार्थानुमान-**

जबकि परार्थानुमान में त्रिरूप लिङ्ग का आख्यान अथवा कथन होता है ।[75] परार्थानुमान स्वार्थानुमान के बाद की स्थिति है । परार्थानुमान के दो भेद हैं- साधर्म्य और वैधर्म्य ।[76] प्रमाणवार्त्तिक में परार्थानुमान के इन भेदों पर विशेष चर्चा प्राप्त नहीं होती, किन्तु न्यायबिन्दु में धर्मकीर्ति ने इन दोनों भेदों का विस्तृत विवेचन किया है । साधर्म्य और वैधर्म्य रूप परार्थानुमान में अर्थतः कोई भेद नहीं माना गया, केवल प्रयोग भेद से वह दो प्रकार का है ।[77] दोनों में से किसी एक से साध्य की सिद्धि हो जाती है । साधर्म्य तथोपपत्ति तथा विधि एकार्थक है और वैधर्म्य अन्यथानुपपत्ति तथा निषेध एकार्थक है । हेतु के स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि रूप भेदों के साथ इन साधर्म्यवान और वैधर्म्यवान परार्थानुमानों का प्रयोग किया गया है-

१.स्वभाव हेतु का साधर्म्यवान प्रयोग- जैसे- जो सत् है वह सब अनित्य है, जैसे- घट इत्यादि । यह शुद्ध स्वभाव हेतु का प्रयोग है ।[78] तथा विशेषणयुक्त स्वभाव हेतु है- जो उत्पत्तिमान है, वह अनित्य है, यह वस्तुतः अभिन्न धर्म को भिन्न मानकर स्वभाव हेतु का प्रयोग किया गया है ।[79]

२.स्वभावहेतु का वैधर्म्यवान प्रयोग- धर्मकीर्ति कहते हैं कि अनित्यता न होने पर सत्ता में उत्पत्तिमत्ता अथवा कार्यता नहीं होती किन्तु शब्द सत् है, उत्पत्तिमान है तथा कृतक् है- यह वैधर्म्यवान स्वभाव हेतु का प्रयोग है ।[80]

---

75 परस्य प्रतिपाद्यत्वात् अदृष्टोऽपि स्वयं परैः ।
दृष्टसाधनमित्येके तत्क्षेपायात्मदृग्वचः ॥- *प्र.वा.*, ४.१

76 तद् द्विविधम् । साधर्म्यवद् वैधर्म्यवच् चेति ॥ *न्या.बि.*, ३.४-५

77 प्रयोगभेदात् ।- वही, ३.४

78 तथा स्वभावहेतोः प्रयोगः- यत् सत् तत् सर्वम् अनित्यम्, यथा- घटादिरिति शुद्धस्य स्वभावहेतोः प्रयोगः ।- वही, ३.९

79 यद् उत्पत्तिमत् तद् अनित्यम् इति स्वभावभूतधर्मभेदेन स्वभावस्य प्रयोगः ।- वही, ३.१०

80 असति- अनित्यत्वे नास्त्येव सत्त्वम् उत्पत्तिमत्त्वं कृतकत्त्वं वा ।
सश्च शब्द उत्पत्तिमान् कृतको वेति स्वभावहेतोः प्रयोगः ॥- वही, ३.२४

३.कार्यहेतु का साधर्म्यवान प्रयोग- कार्य हेतु का प्रयोग है- जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है, जैसे- पाकशाला आदि में, तथा यहाँ भी धूम है ।[81] 'यहां भी धूम है' इत्यादि के द्वारा साध्य धर्म वाले पर्वतादि पक्ष में धूमादि धर्म का होना दिखलाया गया है । बौद्धतर्कभाषा में कहा है कि कार्य हेतु भी प्रत्यक्ष और अनुपलब्धि के द्वारा सिद्ध होने पर ही कार्य-कारण भाव रहने पर कारण को सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त होता है ।[82]

४.कार्यहेतु का वैधर्म्यवान प्रयोग- 'अग्नि के न होने पर धूम नहीं होता और यहाँ धूम है' यह कार्य हेतु का वैधर्म्यवान प्रयोग है ।[83] 'यहाँ धूम है' इस कथन से व्यापक धूमाभाव का अभाव बतलाया गया है । उस व्यापक के न होने से व्याप्य अग्नि का जो अभाव है, उसका भाव सिद्ध होता है तथा उससे साध्य अग्नि का निश्चय हो जाता है ।[84]

५.अनुपलब्धि हेतु का साधर्म्यवान प्रयोग- जो पदार्थ उपलब्धि के योग्य होकर भी उपलब्ध नहीं होता वह अभाव व्यवहार का विषय होता है । जैसे- अन्य कोई प्रमाण से (अभाव व्यवहार के योग्य) निश्चित किया गया शशविषाण आदि ।[85]- यह व्याप्ति है ।

तथा किसी निश्चित प्रदेश में उपलब्धि के योग्य होकर भी घट उपलब्ध नहीं हो रहा है, अतः वह अभाव व्यवहार का विषय है, यह अनुपलब्धि का प्रयोग है ।[86]- यह पक्षधर्मता है ।

६.अनुपलब्धि हेतु का वैधर्म्यवान प्रयोग- जो पदार्थ विद्यमान (यद्सत्) है, इस व्यवहार का विषय है तथा उपलब्धि के योग्य है, वह अवश्य उपलब्ध होता है ।[87]- (व्याप्ति)

---

81 कार्यहेतोः प्रयोगः- यत्र धूमस्तत्राग्निः । यथा महानसादौ । अस्ति चेह धूम इति ॥- *न्या.बि.*, ३.२१

82 कार्यहेतुरपि प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां सिद्ध एव कार्यकारणभावे सति कारणे साध्ये प्रयोक्तव्यः ।- बौ.त.भा., पृ. ६२

83 असत्यग्नौ न भवत्येव धूमः । अत्र चास्ति धूम इति कार्यहेतोः प्रयोगः ।- *न्या.बि.*, ३.२५

84 *न्या.बि.टी.*, पृ. २२२

85 तत्र साधर्म्यवत् प्रयोगः- यद् उपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते सोऽसदव्यवहारविषयः सिद्धः । यथाऽन्यः कश्चिद् दृष्टः शशविषाणादिः ।- *न्या.बि.*, ३.८

86 नोपलभ्यते च क्वचित् प्रदेश विशेष उपलब्धिलक्षणप्राप्तो घट इत्यनुपलब्धिप्रयोगः । वही

87 सद् व्यवहार विषय उपलब्धिलक्षण प्राप्तः, स उपलभ्यत एव ।- वही, ३.३६

किन्तु वैसा होते हुए भी घट यहाँ उपलब्ध नहीं है[88]- (पक्षधर्मता), ऐसा कहने पर सामर्थ्य से ही प्रकट हो जाता है कि यहाँ घट सद् व्यवहार का विषय विद्यमान नहीं ।[89]

4.3.5.2.1.परार्थानुमान-वाक्यावयव-

बौद्धन्याय में परार्थानुमान में प्रयुक्त वाक्य के अवयवों के विषय में मतैक्य नहीं है । वसुबन्धु ने प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त के भेद से तीन अवयव स्वीकार किये हैं ।[90] दिङ्नाग ने भी इन्हीं तीन अवयवों को माना है । किन्तु धर्मकीर्ति ने प्रतिज्ञा को साधन अङ्ग स्वीकार नहीं किया, इससे प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति को हेतु और दृष्टान्त के भेद से दो ही अवयव मान्य हैं । धर्मकीर्ति ने त्रैरूप्यसम्पन्नहेतु से अर्थ की सिद्धि मानी है । पक्षवचन अर्थात् प्रतिज्ञा को तो उन्होनें अवयव माना ही नहीं, तथा दृष्टान्त का भी अलग से निर्देश नहीं किया । दृष्टान्त का पृथक् रूप से उल्लेख न करने में उनका मत है कि जो अव्युत्पन्न पुरुष है, जिसे व्यक्ति और पक्षधर्मता का निश्चय नहीं उसके लिए तो हेतु और दृष्टान्त दोनों अवयवों का प्रयोग आवश्यक होता है, किन्तु व्याप्ति आदि के विषय में विद्वान पुरुष के लिए केवल हेतु का ही प्रयोग पर्याप्त होता है ।[91] जिस प्रकार स्वार्थानुमान में हेतु मात्र को देखकर विद्वान पुरुष साध्य की सिद्धि कर लेता है, उसी प्रकार परार्थानुमान में भी हेतु मात्र के श्रवण से अनुमान हो जाता है । इस प्रकार उनके अनुसार तीन रूपों से युक्त हेतु से ही अर्थ की प्रतीति हो जाती है, इसलिए दृष्टान्त का पृथक् लक्षण नहीं कहा जाता क्योंकि वह हेतु से ही गतार्थ है ।[92]

प्रतिज्ञा को अनावश्यक ठहराते हुए कहा है कि वाद काल में वादी प्रतिवादी किसी निश्चित विषय पर ही वाद-विवाद करते हैं । सुअवसर देखकर ही वादी अपना न्याय

---

88 न तथाऽत्र तादृशो घट उपलभ्यते ।- *न्या.बि.*, ३.३६

89 इत्युक्तेन सामर्थ्यादि एवं नेह सद् व्यवहारविषय इति भवति ।- वही

90 अत्र वसुबन्धुना प्रतिज्ञादयस्त्रयोऽवयवा दुर्विहिता अक्षपादलक्षणेन इत्युक्तम् । *न्या.वा.ता.*, पृ. ३१२

91 येषां पुनः प्रसिद्धावेव तद्भावहेतुभावौ तेषाम् । *न्या.प्र.सू.*(टिप्पणी), पृ. १६०

92 त्रिरूपो हेतुरुक्तः । तावतैवार्थ प्रतीतिरिति न पृथग्दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित् । तेन नास्य लक्षणं पृथगुच्यते गतार्थत्वात् ।- *न्या.बि.*, ३.१२१

प्रस्तुत करता है और प्रयोजनबद्ध हो प्रतिवादी भी उसकी ओर आकर्षित होता है । अतः वाद विषय एक स्वीकृत तथ्य होने के कारण संदर्भ से ही ज्ञान हो जाता है । साध्य के उल्लेख के लिए भी प्रतिज्ञा को आवश्यक नहीं माना जा सकता क्योंकि 'जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि भी है, जैसे- पाकशाला', 'यहाँ भी धूम है'- इन दो अवयवों की सामर्थ्य से ही 'पर्वत अग्निमान है' यह प्रतीत हो जाता है ।[93] वादन्याय में धर्मकीर्ति ने प्रतिज्ञा का अवयव रूप से निराकरण करते हुए कहा है कि "न प्रतिज्ञादीनां न्यूनं हीनम्, तद्भावे प्रतीतिभावादिति प्रतिपादितम्"[94] अर्थात् अविद्वानों के लिए जितने अवयवों की आवश्यकता होती है, विद्वानों के लिए उतने अवयवों का होना आवश्यक नहीं, उनके लिए केवल हेतु का होना ही पर्याप्त है ।

इस प्रकार निष्कर्षतः यह स्पष्ट होता है कि पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व- ये तीनों हेतु के धर्म हैं, अवयव नहीं । इन तीन रूपों का प्रयोग हेतु और दृष्टान्त इन दो अवयवों में होता है । अतः दो ही अवयव धर्मकीर्ति के अनुमान न्याय में पर्यवसित हैं- हेतु और दृष्टान्त ।

4.3.6.अनुमान का विषय-

प्रमाणों के द्वारा किसी विषय का ज्ञान होता है, तत्पश्चात् ही व्यक्ति उस विषय में प्रवृत्त अथवा निवृत्त होता है । विभिन्न प्रमाणों के द्वारा विभिन्न विषयों का ज्ञान होता है । अनुमान प्रमाण के विषय के बारे में बौद्ध दर्शन में विस्तृत विवेचन किया गया है । इस विषय में सर्वप्रथम तीन बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक है- १ बौद्ध दर्शन में

---

[93] तत् पक्षवचनं वक्तुरभिप्रायनिवेदने । प्रमाणं संशयोत्पत्तेस्ततः साक्षान्न साधनम् ॥
साध्यस्यैवाभिधानेन पारम्पर्येण नाप्यलम् । शक्तस्य सूचकं हेतुवचोऽशक्तमपि स्वयम् ॥
अन्तरङ्गं तु सामर्थ्यं त्रिषु रूपेषु संस्थितम् । तत्र स्मृतिसमाधानं तद्वचस्येव संस्थितम् ॥
अख्यापिते हि विषये हेतुवृत्तेरसम्भवात् । विषयख्यापनादेव सिद्धौ चेत् तस्य शक्तता ॥
उक्तमत्र विनाप्यस्मात् कृतकः शब्द ईदृशाः । सर्वेऽनित्या इति प्रोक्तेऽप्यर्थात् तन्नाशधीर्भवेत् ॥
अनुक्तावपि पक्षस्य सिद्धेरप्रतिबन्धतः । त्रिष्वन्यतमरूपस्यैवानुक्तिर्न्यूनतोदिता ॥
साध्योक्तिं वा प्रतिज्ञां स वदन् दोषैर्न युज्यते । साधनाधिकृतेरेव हेत्वाभासाप्रसङ्गतः ॥
अविशेषोक्तिरप्येकजातीये संशयावहा । अन्यथा सर्वसाध्योक्तेः प्रतिज्ञात्वं प्रसज्यते ॥
सिद्धोक्तेः साधनत्वाच परस्यापि न दुष्यति। इदानीं साध्यनिर्देशः साधनावयवः कथम् ॥ *प्र.वा.*, ४.१६-१७, २०-२६

[94] *न्या.प्र.सू.*, पृ. १६० (टिप्पणी में उद्धृत)

अनुमान का विषय मानस है, बाह्य नहीं, २ अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्य है और अध्यवसेय विषय अर्थक्रियाक्षम वस्तु है, ३ दिङ्नाग के मत में अग्निविशिष्ट देश का अनुमान होता है ।

अनुमान द्वारा कल्पनाजन्य विषय का ग्रहण करता हुआ व्यक्ति उसे बाह्यवत् समझ लेता है तथा उसमें प्रवृत्त होता है । अनुमान का बाह्य वस्तु से सीधा सम्बन्ध न होकर परम्परा से होता है । अनुमान के द्वारा सामान्यलक्षण-ग्रहण होने से जो अध्यवसाय होता है उसके द्वारा अनुमान का बाह्य के साथ भी सम्बन्ध हो जाता है । इस प्रकार से अनुमान बाह्य वस्तु का प्रापक है ।[95] सामान्यविषयक होने पर भी अनुमान प्रमाण रूप में स्वीकृत है क्योंकि यह समर्थ प्रवृत्ति का जनक है । प्रमाण वही है जो समर्थ प्रवृत्ति का जनक हो । अतः प्रत्यक्ष एवं अनुमान की प्रामाणिकता प्रवृत्ति के विषय की अपेक्षा से होती है । क्योंकि ये प्रवृत्ति के विषय को प्राप्त कराते हैं इसलिए ये प्रमाण कहलाते हैं ।

धर्मकीर्ति ने सामान्यलक्षण के विषय में कहा है कि उसमें अर्थक्रिया का सामर्थ्य नहीं रहता क्योंकि सामान्यलक्षण में स्वलक्षण के समान अन्वय-व्यतिरेक बुद्धि का अभाव होता है ।[96] उसे वस्तु नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह अभिधेय अथवा शब्द का विषय है ।[97] इस प्रकार सामान्य विज्ञानरूप अर्थक्रिया के साधन की क्षमता नहीं रखता तथा अर्थक्रिया की योग्यता जिसमें नही होती वह सर्वथा असत् माना जाता है, इसलिए सामान्य अवस्तुमात्र है, वह पारमार्थिक रूप में सत् नहीं है ।[98] सामान्यलक्षण परोक्ष विषय है क्योंकि धूमादिरूप गमक हेतु के व्यापकीभूत अग्न्यादि पदार्थों का ज्ञान सामान्यरूपेण ही होता है विशेषरूप में नहीं ।[99]

---

95 तथानुमानमपि स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तेरनर्थग्राहि। स पुनरारोपितोऽर्थो गृह्यमाणः स्वलक्षणत्वेनावसीयते यतस्ततः स्वलक्षणमध्यवसितं प्रवृत्तिविषयोनुमानस्य अनर्थस्तु ग्राह्यः ।- *न्या. बि. टी.*, पृ. ७२

96 साऽस्ति सर्वत्र चेद् बुद्धेर्नान्वयव्यतिरेकयोः। सामान्यलक्षणेऽदृष्टश्चक्षुरूपादिबुद्धिवत् ॥- *प्र.वा.*, २.५

97 न तद्वस्तु अभिधेयत्वात् साफल्यादक्षसंहते । नामादिवचने वक्तृश्रोतृवाच्यानुबन्धिनि ॥- वही, २.११

98 ज्ञानमात्राकरणेऽप्ययोग्यमत एव तत् । तदयोग्यतयाऽरूपं तद्ध्यवस्तुषु लक्षणम् ॥- वही, २.५०

99 गमकानुगसामान्यरूपेणैव तदा गतिः । तस्मात् सर्वः परोक्षोऽर्थो विशेषेण न गम्यते ॥- वही, २.६१

इस प्रकार सामान्यलक्षण अनुमान का विषय है, जो वस्तुसत् न होकर आरोपित वस्तु या कल्पनाजन्य है । अनुमान को भी केवल व्यवहार में अर्थात् अविसंवादक होने से प्रमाण माना जाता है अन्यथा वह भ्रान्तिरूप है, इसलिए उसका विषय सामान्यलक्षण भी आरोपित वस्तु है, वास्तविक नहीं ।[100] अतः अनुमान का विषय सामान्यलक्षण है तथा यह विकल्पजन्य एवं बुद्धिकल्पित है, यह अन्यव्यावृत्ति के रूप में है ।

4.3.7.**अनुमान-फल-**

जिस प्रकार नैयायिकों के अनुसार अनुमान में परामर्श ज्ञान को करण माना जाता है और अनुमिति को फल, बौद्धन्याय में ऐसा नहीं है । बौद्धों के अनुसार अनुमान में भी प्रत्यक्ष के समान ही प्रमाण तथा प्रमाण-फल की व्यवस्था होती है ।[101] यहाँ सामान्यलक्षण का बोध फल है । प्रत्यक्ष और अनुमान की प्रमाण-फल व्यवस्था में यह अन्तर है कि प्रत्यक्ष में अर्थ का उसके निजी रूप अर्थात् स्वलक्षण का साक्षात्कार होता है, जबकि अनुमान में किसी लिङ्ग या ज्ञापक के द्वारा अर्थ के साधारण रूप का ग्रहण होता है । किन्तु दोनों का फल अर्थ की प्रतीति ही है ।

4.3.8.अनुमानाभास-

वस्तुतः अनुमान न होकर अनुमान की तरह भासित होने वाला ज्ञान अनुमानाभास है । जैसे- एक व्यक्ति मणि के प्रकाश को मणि समझकर उसे उठाने दौड़ा और दूसरा प्रदीप के प्रकाश को मणि जानकर उसे उठाने के लिए लपका । दोनों के प्रवर्तक मिथ्या ज्ञान समान हैं, तथापि अर्थक्रिया (प्रवृत्ति की सफलता और असफलता) में भिन्नता अवश्य है, क्योंकि प्रथम व्यक्ति मणि प्राप्त करने में सफल और दूसरा व्यक्ति असफल होता है । ठीक उसी प्रकार अनुमान के द्वारा प्रवृत्त पुरुष सफल और अनुमानाभास के द्वारा प्रवृत्त व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल रहता है ।

---

100 अभिप्रायाविसंवादादपि भ्रान्तेः प्रमाणता । गतिरप्यन्यथा दृष्टा, पक्षश्चायं कृतोत्तरः ॥- *प्र.वा,* २.५६

101 प्रमाणफलव्यवस्थाऽत्रापि प्रत्यक्षवत् ।- *न्या.बि.*, २.४

अतः सफल प्रवृत्ति के जनक अनुमान को प्रमाण माना है और अनुमानाभास को अप्रमाण ।[102] यह अनुमानाभास दूषित हेतु द्वारा प्रवृत्त होने से हेत्वाभासरूप ही है ।

4.3.9.हेत्वाभास-

इसका निर्वचनात्मक अर्थ दो प्रकार से कहा जा सकता है-

(क).'हेतोराभास इति हेत्वाभाः' अर्थात् हेतु के समान भासित होता है ।

(ख).'हेतुवद् आभासते इति हेत्वाभासः' अर्थात् हेतु का आभास हेत्वाभास है ।[103]

इस प्रकार जो वस्तुतः हेतु नहीं, अपितु हेतु जैसा प्रतीत होता है वह हेत्वाभास है अर्थात् असद् हेतु ही हेत्वाभास है । आशय यह है कि जिसके ज्ञान से अनुमिति बाधित हो और जो हेतु के समान भासित होता है, वह दोषयुक्त हेतु हेत्वाभास कहा गया है ।

धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्त्तिक में तो नहीं, किन्तु न्यायबिन्दु में यह उल्लेख किया है कि हेत्वाभास-कथन उनका अपना मत नहीं है, अपितु दिङ्नाग के अनुसार ही उनकी चर्चा की गयी है क्योंकि वह अनुमान का विषय नहीं हो सकता,[104] किन्तु फिर भी बौद्धन्याय के अनुसार हेत्वाभासों का वर्णन अपेक्षित है, इसलिए उनके विषय में कहा जा रहा है-

बौद्ध आचार्यों में दिङ्नाग ने हेत्वाभास पर विस्तृत विवेचन किया है । उनके अनुसार ही धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में कहा है कि त्रिरूप लिङ्ग का कथन परार्थानुमान है और तीन रूपों में से एक रूप का भी कथन न करने पर हेत्वाभास हो जाता है ।[105]

---

102 मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतः ।
मिथ्याज्ञानविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥
यथा तथाऽयथार्थत्वेऽप्यनुमानतदाभयोः ।
अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥- *प्र.वा.*, २.५७-५८

103 *त.भा.*, पृ. १०९,(श्रीनिवासशास्त्री कृत हिन्दी व्याख्या)

104 अनुमानविषयेऽसम्भवात् ।- *न्या.बि.*, ३.१११

105 त्रयाणां रूपाणाम् एकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभासः ॥- वही, ३.५५

हेत्वाभासों की संख्या के विषय में बौद्ध नैयायिकों में मतभेद है- नागार्जुन ने आठ प्रकार के हेत्वाभास माने हैं- वाक्छल, सामान्यछल, संशयसम, कालातीत, प्रकरणसम, वर्ण्यसम, सव्यभिचार एवं विरुद्ध ।[106] असंग ने अनिश्चित (अनैकान्तिक) तथा साध्यसम, इन दो हेत्वाभासों का उल्लेख किया है ।[107] वसुबन्धु ने वादविधि में असिद्ध, अनिश्चित तथा विरुद्ध ये तीन प्रकार के हेत्वाभास कहे हैं ।[108] दिङ्नाग ने तीन प्रकार के हेत्वाभास बताये हैं- अनैकान्तिक, असिद्ध एवं विरुद्ध ।[109] धर्मकीर्ति एवं धर्मोत्तर आदि उत्तरवर्ती बौद्ध आचार्यों ने इन्ही तीन प्रकार के हेत्वाभासों को स्वीकार करते हुए दिङ्नाग का ही अनुसरण किया है ।[110]

4.4.वैशेषिक दर्शन में अनुमान-प्रमाण-

पूर्व वैशेषिक दर्शन में अनुमान प्रमाण का विवेचन नैयायिकों से भिन्न रूप में दिखाई देता है । वैशेषिकों का स्वतन्त्र रूप से अनुमान-प्रमाण का स्वरूप इस प्रकार है-

4.4.1.अनुमान-लक्षण-

लिङ्ग से उत्पन्न होने वाला अनुमान प्रमाण है ।[111] उपस्कारकार का मत है कि यहाँ 'ज्ञान' पद ही प्रकृत है, अतः यह लक्षण भावसाधनरूप 'अनुमिति' का है ।[112] प्रशस्तपाद के मत में लिङ्ग अथवा साधक हेतु के ज्ञान से उत्पन्न होने वाला ज्ञान लैङ्गिक (अनुमान) कहलाता है ।[113] लिङ्ग का लक्षण प्रशस्तपाद ने इस प्रकार दिया है- "जो अनुमिति में प्रधान रूप से विषय होने वाली वस्तु अर्थात् पक्ष के साथ सम्बद्ध हो (पक्षसत्व), जो साध्यरूप धर्म से युक्त (दृष्टान्त) में यथार्थ रूप से ज्ञात हो (सपक्षसत्व),

---

[106] द्र. *उपायहृदयम्* (G. Tucci, *pre Dingnag Buddhist Logic*, p.14 पर उद्धृत)
[107] G. Tucci, *Pre Diṅgnāga Buddhist Logic*, p. 480
[108] *SWV*, p. 39
[109] *FFD*, p. 31
[110] एषां त्रयाणां रूपाणाम् एकैकस्य द्वयोर्द्वयोर्वा रूपयोर् असिद्धो सन्देहे वा यथायोगम् असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास् त्रयो हेत्वाभासाः ॥- *न्या.बि.*, ३.१०९
[111] अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ।- *वै.सू.*, ९.२.१
[112] ज्ञानमिति प्रकृतम् । लिङ्गाज्जातं लैङ्गिकं व्याप्तिविशिष्टः पक्षधर्मो लिङ्गम् ।- *वै.सू.उप.भा.*, पृ. ४८५
[113] लिङ्गदर्शनात् सञ्जायमानं लैङ्गिकम् ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ४७६

तथा जिससे साध्य का न रहना निश्चित न हो, ऐसे आश्रय में जो कदापि न रहे (विपक्षासत्व), इन तीन शर्तों को पूरा करने वाला लिङ्ग साध्य का अनुमापक है ।[114]

लिङ्ग की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए प्रशस्तपाद ने कहा है कि- जो साध्य के साथ काल विशेष में एवं देश विशेष में सम्बद्ध रहे, अनुमेय रूप धर्म के किसी निश्चित अधिकरण में या सभी अधिकरणों में जिसकी सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध रहे एवं साध्य के अभाव के निर्णीत अधिकरण में जिसकी असत्ता भी प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निश्चित हो, वही वस्तु पूर्व में अज्ञात साध्य के अनुमिति का लिङ्ग है ।[115]

न्यायकन्दलीकार ने "लिङ्गदर्शनात् सञ्जायमानं लैङ्गिकम्" वाक्य में प्रयुक्त 'दर्शन' शब्द के विषय में कहा है कि दर्शन शब्द का अर्थ केवल चक्षु से उत्पन्न ज्ञान ही नहीं है, अपितु सभी ज्ञान या उपलब्धि उसके अर्थ हैं, क्योंकि अनुमान के द्वारा ज्ञात हेतु से भी अनुमान होता है[116] तथा 'सञ्जायमानम्' पद में प्रयुक्त 'सम्' शब्द सम्यक् अर्थ में है । अतः लिङ्गदर्शन से उत्पन्न सम्यक् ज्ञान ही अनुमान है, यह लक्षण निष्पन्न होने पर संशय, विपर्यय एवं स्मृति की अनुमान से व्यावृत्ति हो जाती है, क्योंकि ये ज्ञान होते हुए भी 'सम्यक्' ज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान नहीं हैं ।[117]

किरणावली में अनुमान शब्द 'भावसाधन एवं 'करणसाधन' दो प्रकार का है । प्रथम पक्ष में व्याख्या है 'अनुमितिरनुमानम्' तथा दूसरे पक्ष में 'अनुमीयतेऽनेनेति चानुमानम्' है ।[118]

वादवागीश्वर ने अनुमिति ज्ञान का यह लक्षण किया है- **"अविनाभावजनितपरोक्षानुभवोऽनुमितिः, तत् साधकम् अनुमानम"**[119] अर्थात्

---

114 यदुनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते । तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥ *प्र.पा.भा.*, पृ. ४७८

115 यदनुमेयेनार्थेन देशविशेष कालविशेष वा सहचरितमनुमेयधर्मन्विते चान्यत्र सर्वस्मिन् प्रमाणतोसदेव, तदपसिदार्थस्यानुमापकं लिंग भवतीति ।- वही, पृ. ४८१

116 दर्शनशब्द उपलब्धिवचनो न चाक्षुषप्रतीतिवचनः, अनुमितानुमानस्यापि सम्भवात् ।- *न्या.क.*, पृ. ४७६

117 लिङ्गस्य दर्शनाज्ज्ञानात् सम्यग् जायमानं लैङ्गिकमिति वाक्यार्थः ।- वही, पृ. ४७७

118 कुमार, शशिप्रभा, *वै.द.प.नि.*, पृ. ३२०

अनुमिति के साधक रूप में अनुमान प्रमाण है । लक्षण दो प्रकार से किया जाता है स्वरूप द्वारा और कारण द्वारा । अनुमान का स्वरूप द्वारा लक्षण किया गया है और अनुमिति का कारण द्वारा । आशय यह है कि प्रमाण प्रमा के स्वरूप को भी कहते हैं जैसे- "यथार्थानुभवः प्रमा" यहाँ यथार्थ अनुभव प्रमा का स्वरूप है जो स्वयं प्रमाण है । इस दृष्टि से अनुमिति भी यथार्थ अनुभव होने से प्रमाण ही है ।

4.4.2.हेतु के तीन भेद-

वैशेषिक दर्शन में हेतु के (१). केवलान्वयी, (२). केवलव्यतिरेकी और (३). अन्वयव्यतिरेकी के भेद से तीन प्रकार कहे गये हैं ।[120] इनमें से केवलान्वयी हेतु का वर्णन न्यायकन्दली में किया गया है, किन्तु अन्य दो हेतुओं में हेतुत्व का व्यवहार समानतन्त्र अर्थात् न्यायदर्शन के अनुसार ही बताया है ।[121] ये त्रिविध हेतु त्रिलक्षण से युक्त होकर सद् हेतु होते हैं ।

4.4.3.सद् हेतु के त्रि-लक्षण-

१ जो पक्ष और सपक्ष दोनों में ही रहे । हेतु का यह लक्षण केवलान्वयी हेतु का है । यथा- 'विशेषोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्' ।

२ जो पक्ष में रहे और विपक्ष में न रहे, वही सद् हेतु है । हेतु का यह लक्षण केवलव्यतिरेकी हेतु के लिए है । यथा- 'जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात्' ।

३ जो हेतु पक्ष में रहे, सपक्ष में रहे तथा विपक्ष में न रहे वही शुद्ध हेतु है अर्थात् पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व ये तीनों लक्षण हेतु में होने चाहिए । हेतु का यह लक्षण अन्वयव्यतिरेकी हेतु के लिए है ।[122]

---

119 *मा. मनो.*, पृ. ८७

120 त्रिविधो हि हेतुः- अन्वयी, व्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी चेति ।- *न्या.क.*, पृ. ४८६

121 अत्रैक समानतन्त्रप्रसिद्ध्या केवलान्वयिनः केवलव्यतिरेकिणश्च परिग्रह इति वदन्ति ।- वही, पृ. ४८९

122 पक्षस्तु स भवति यत्र....साध्यधर्मान्विते सपक्षे प्रसिद्धं परिज्ञातमिति...तस्य साध्यधर्मस्याभावे नास्त्येव न...तल्लिङ्गमनुमापकम् अनुमेयस्य ज्ञापकम् ।- वही, पृ. ४७८-४८०

कथित तीनों हेतुओं में समान रूप से रहने वाला लक्षण है कि 'जो साध्य का साधन करे, वही हेतु है' अर्थात् जिस प्रकार यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करने वाला साधन प्रमाण कहा जाता है, उसी प्रकार त्रिलक्षण से युक्त त्रिविध हेतु अनुमिति का ज्ञापक है ।

4.4.4.हेत्वाभास-

जो अनुमेय के ज्ञापक नहीं वे हेत्वाभास हैं अर्थात् जो हेतु न होकर हेतु जैसे प्रतीत हो, वे हेत्वाभास कहलाते हैं । सपक्षसत्वादि तीन लक्षणों में से एक या दो रूपों से भी रहित हेतु को कणाद ने असिद्ध, विरुद्ध व संदिग्ध नाम का हेत्वाभास माना है ।[123] प्रशस्तपाद ने लिङ्ग के त्रिरूप लक्षणों में से एक या दो लक्षणों से भी रहित हेतु को असिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध नामक हेत्वाभास कहा है ।[124] ये हेत्वाभास निम्न प्रकार से हैं-

4.4.4.1.**असिद्ध**- जिसमें व्याप्तिज्ञान न हो या विपरीत व्याप्तिज्ञान हो वह असिद्ध हेत्वाभास है । न्यायकन्दलीकार ने असिद्ध के विषय में कहा है कि वह असिद्ध नाम का हेत्वाभास अनुमेय (पक्ष) में नहीं रहता अर्थात् उसमें पक्षवृत्तित्व रूप एक धर्म का अभाव है ।[125]

4.4.4.2.**विरुद्ध**- विरुद्ध नाम का हेत्वाभास सपक्ष में नहीं रहता और विपक्ष में रहता है, अतः विरुद्ध सपक्षवृत्तित्व और विपक्षव्यावृत्तत्व हेतु के इन इन दोनों लक्षणों से रहित हेत्वाभास है ।[126]

4.4.4.3.**सन्दिग्ध (अनैकान्तिक)-** जो हेत्वाभास विपक्ष से अव्यावृत्त है, अर्थात् विपक्षावृत्तित्वरूप हेतु के एक ही लक्षण से रहित होने के कारण हेत्वाभास है, वह

---

123 अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः ।- *वै.सू.*, ३.१.१५

124 विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा । विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ॥- *प्र.पा.भा.*, पृ. ४८०

125 असिद्धमनुमेये नास्ति ।- *न्या.क.*, पृ. ४८०

126 विरुद्धं सपक्षे नास्ति, विपक्षादव्यावृत्तमिति तस्य द्वितयेन लिङ्गलक्षणेन रहितत्वम् ।- वही, पृ. ४८१

अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है ।[127] अनैकान्तिक यद्यपि पक्ष में देखा जाता है, किन्तु यह सन्देह बना ही रहता है कि वह साध्य के साथ रहने वाला है ? या साध्याभाव के साथ ? इसी सन्देह के कारण यह साध्य या साध्याभाव रूप किसी एक धर्म को निश्चित रूप से उपस्थित नहीं कर सकता, क्योंकि वह दोनों के साथ देखा जाता है, अतः वह हेतु न होकर हेत्वाभास है ।

उदाहरण- रासभ को देखकर 'यह अश्व है, श्रृङ्गवान् होने से' ऐसा जो पुरुष मोह से अनुमान करता है, यह समझकर कि 'जो अश्व नहीं होता वह श्रृंगवाला नहीं होता' इस अनुमान में व्याप्यत्वासिद्धि 'अश्वता' तथा 'श्रृंगवत्ता' की व्याप्ति न होना तथा अश्व में श्रृंगवत्तास्वरूप की असिद्धि एवं अश्वतारहित गौ आदि में श्रृंग होने के कारण विरोध होने से यह श्रृंगवत्ता हेतु व्याप्यत्वासिद्ध, स्वरूपासिद्ध एवं विरुद्ध नामक दुष्टहेतु अर्थात् हेत्वाभास है ।[128]

जिस स्थल में 'महिष' को पक्ष कर 'यह गौ है, श्रृङ्गवान् होने से' ऐसा कोई यदि अनुमान से सिद्ध करता है, वहाँ संदिग्ध अथवा अनैकान्तिक हेत्वाभास है ।

इस प्रकार असिद्ध और सन्दिग्ध, ये दोनों हेतु के एक ही लक्षण से रहित हेत्वाभास हैं जबकि विरुद्ध नामक हेत्वाभास हेतु के दो लक्षणों से रहित होने के कारण हेत्वाभास है।

4.4.5.अनुमान की विधि-

प्रशस्तपाद ने कहा है "जहाँ धुआं होता है, वहाँ अग्नि होती है तथा अग्नि के न रहने पर धुआं भी नहीं रहता" । इस प्रकार जिस पुरुष को व्याप्तिज्ञान रहता है उसे असंदिग्ध धूम के दर्शन से अग्नि तथा धूम के साथ रहने रूप व्याप्ति-स्मरण से अग्नि का अनुमिति रूप

---

127 अनैकान्तिकं विपक्षादव्यावृत्तमित्यनयोरेकेन लिङ्गलक्षणेन विपरीतत्वम् ।- *न्या. क.*, पृ. ४८०

128 यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः ।- *वै. सू.*, ३.१.१७

निश्चित ज्ञान होता है ।[129] इसी प्रकार सम्पूर्ण अनुमान-स्थलों पर व्याप्ति-विनिश्चय होता है, क्योंकि सभी अनुमानों में देश तथा काल को लेकर साध्य के साथ व्याप्ति रखने वाला साधन दूसरे साध्य धर्म का साधक लिङ्ग होता है।[130]

न्यायकन्दलीकार ने भी प्रशस्तपाद के समान ही लिङ्ग और साध्य के साहचर्य-नियम अथवा व्याप्ति को अनुमान ज्ञान में प्रमुख मानते हुए कहा है कि 'जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है' एवं 'जहाँ अग्नि नहीं, वहाँ धूम भी नहीं' इस प्रकार से समय अर्थात् अविनाभाव अथवा व्याप्ति की प्रतीति जिस पुरुष को रहती है, उसे जब धूम का 'असन्दिग्ध' ज्ञान अर्थात् 'यह धूम ही है, वाष्पादि नहीं' इस आकार का ज्ञान होता है, तब साहचर्य अथवा व्याप्ति-स्मरण से अग्नि की अनुमिति होती है ।[131]

श्रीधराचार्य ने बौद्धों द्वारा तदुत्पत्ति और तादात्म्य सम्बन्ध से व्याप्ति-ग्रहण का खण्डन किया है । उनके अनुसार हेतु में साध्य का तादात्म्य या हेतु का साध्य से उत्पन्न होना हेतु में साध्य की व्याप्ति का कारण नहीं हो सकता, अपितु स्वभाव के द्वारा ही किसी भी वस्तु का किसी वस्तु के साथ जो सम्बन्ध स्थापित होता है, वही उपाधि से शून्य होने के कारण नियम अथवा व्याप्ति है और उसी से अनुमिति का निश्चय होता है ।[132]

4.4.6.अनुमान के भेद-

अनुमान के दो भेद बताये गये हैं- (१) दृष्ट (२) सामान्यतोदृष्ट ।[133] जिस हेतु के साथ पूर्व में ज्ञात साध्य और वर्तमान में उसी हेतु के द्वारा ज्ञाप्य साध्य, दोनों अभिन्न हों, ऐसे

---

129 विधिस्तु यत्र धूमस्तत्राग्निरग्न्याभावे धूमोऽपि न भवतीत्येवं प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्धधूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात् तदनन्तरमग्न्यध्यवस्स्यो भवतीति ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ४९१

130 एवं सर्वत्र देशकालाविनाभूतमितरस्य लिङ्गम् । शास्त्रे च कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नाक्षारणार्थम् ।- वही, पृ. ५०३-५०४

131 विधिस्तु अनुमेयप्रतीतिप्रकारस्तु, यत्र धूमस्तत्राग्निरग्न्यभावे धूमो न भवतीति । एवं प्रसिद्धसमयस्य प्रसिद्धाविनाभावस्य पुरुषस्यासन्दिग्धधूमदर्शनाद् धूम एवायम् न बाष्पादिकमिति ज्ञानात् साहचर्यानुस्मरणाद् यत्र धूमस्तत्राग्निरित्येवमनुस्मरणात्, तदनन्तरमग्न्यनुमानं भवति ।- *न्या.क.*, पृ. ४९१

132 सहभावदर्शनजसंस्कारसहकारिणा निरस्तप्रतिपक्षशङ्केन चरमप्रत्यक्षेण धूमसामान्यस्याग्निसामान्येन स्वभावमात्राधीनं सहभावं निश्चित्यं इदमनेन नियतमिति नियमं निश्चिनोति ।- वही, पृ. ५००

133 तत्तु द्विविधम्- दृष्टं सामान्यतोदृष्टं च । *प्र.पा.भा.*, पृ. ५०७

हेतु से उत्पन्न अनुमान दृष्ट है । जैसे- पहले एक स्थान में केवल एक गाय में ही सास्ना रूप हेतु को देखकर दूसरे स्थान में सास्ना को देखकर 'गौ' विषयक अनुमिति होती है।[134]

इसी तरह जिस हेतु के साथ पूर्वतः ज्ञात साध्य और उसी हेतु के द्वारा वर्तमान में ज्ञाप्य साध्य दोनों भिन्न जाति के हों, उस हेतु सामान्य और साध्य सामान्य की व्याप्ति से जो अनुमान उत्पन्न होता है, उसे सामान्यतोदृष्ट कहते हैं । जैसे- कृषक, वणिक्, राजपुरुषों की स्व सफल प्रवृत्तियों को देखकर उन धार्मिक प्रवृत्तियों से भी फल का अनुमान होता है जिनके कोई प्रत्यक्षफल नहीं होते ।[135]

अनुमान के इस दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट द्विविध विभाजन के पश्चात् स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान के भेद से भी दो प्रकार वैशेषिक दर्शन में कहे गये हैं-

4.4.6.1.स्वार्थानुमान-

प्रशस्तपाद ने अनुमान के अन्तर्गत् स्वार्थानुमान का भी उल्लेख किया है । इस विषय में कहा है कि लिङ्ग (हेतु) का ज्ञान ही अनुमान प्रमाण है एवं उससे उत्पन्न अग्नि का ज्ञान ही फलरूप प्रमिति है । अथवा अग्नि का ज्ञान ही अनुमान प्रमाण है तथा अग्नि में उपादेयत्व, हेयत्व या उपेक्षा की बुद्धि ही प्रमिति (अनुमिति) है । ये सभी अनुमान करने वाले पुरुष में ही निश्चय अर्थात् अनुमिति के उत्पादक अर्थात् स्वार्थानुमान हैं ।[136]

न्यायकन्दलीकार ने प्रशस्तपादभाष्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि स्वार्थानुमान अपने आश्रय पुरुष में ही निश्चयात्मक ज्ञान को उत्पन्न करने वाला होता है ।[137]

---

134 यत् पूर्वं लिङ्गेन सह दृष्टं साध्यं यत् सम्प्रत्यनुमेयं तयोरत्यन्तजात्यभेदे सति यदनुमानं तद् दृष्टम्-।*न्या.क.*, पृ. ५०८

135 *प्र.पा.भा.*, पृ. ५०७-०९

136 तत्र लिङ्गदर्शनं प्रमाणं प्रमितिरग्निज्ञानम् । अथवाअग्निज्ञानमेव प्रमाणं प्रमितिरग्नौ गुणदोषमाध्यस्थ्यदर्शनमित्येतत् स्वनिश्चितार्थमनुमानम् ।- वही, पृ. ५०९-१०

137 निश्चितमिति भावे निष्ठा, स्वनिश्चितार्थं स्वनिश्चयार्थमेतदनुमानमित्यर्थः ।- *न्या.क.*, पृ. ५१२

शंकरमिश्र अनुमान की व्याख्या न्यायदर्शन के समान ही करते हैं । स्वार्थ व परार्थ में अनुमान को बांटते हुए पञ्चावय-सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं ।[138]

4.4.6.2.परार्थानुमान एवं पञ्चावयव-

प्रशस्तपाद के अनुसार प्रमाता के द्वारा अपने निश्चित अर्थ को दूसरे को समझाने के लिए पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग ही परार्थानुमान है ।[139] पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग स्वार्थानुमान युक्त पुरुष के द्वारा तीन प्रकार के पुरुषों को हेतु से सम्बद्ध साध्य का ज्ञान कराने के लिए किया जाता है, ये तीन प्रकार के पुरुष हैं- १) अभिप्रेत अर्थ में जिसे संशय रहता है, २) जिसे अभिप्रेत अर्थ का विपर्यय रहता है तथा ३) जिस पुरुष को प्रकृत अर्थ का न संशय ही है, न विपर्यय ही है, केवल अज्ञान ही है ।[140]

न्यायकन्दलीकार ने इस विषय में कहा है कि जिन धर्मों के द्वारा हेतु में साध्य की व्याप्ति पूर्ण रूप से समझी जाती है, उन धर्मों से युक्त हेतु का ही प्रतिपादन पञ्चावयव वाक्य से होता है । पञ्चावयव वाक्य के द्वारा प्रतिपादित उक्त हेतु से ही साध्य की अनुमिति अथवा बोध होता है, साक्षात् पञ्चावयव वाक्य से साध्य की अनुमिति नहीं होती । यदि साक्षात् पञ्चावयव वाक्य से साध्य का बोध मान लेंगे तो वह अनुमिति न होकर शाब्दबोध हो जाएगा । अतः साध्य की व्याप्ति से युक्त हेतु के बोधक पञ्चावयव वाक्यों के प्रयोग को ही 'परार्थानुमान' कहा जाता है[141] अर्थात् साध्य के ज्ञापक

---

138 तच्चानुमानं द्विविधं- स्वार्थं परार्थञ्च । तत्र स्वार्थं स्वयमेव व्याप्तिपक्षर्मतयोरनुसन्धानात् । परार्थञ्च परोदीरितन्यायजन्यव्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानात् ।- *वै.सू.उप.भा.*, पृ. ४९३

139 पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम् ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ५५८-९

140 पञ्चावयवेनैव वाक्येन संशयितविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां परेषां स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानं विज्ञेयम् ।- वही, पृ. ५६०

141 स्वयं साध्यानन्तरीयकत्वेन निश्चितोऽर्थः स्वनिश्चितार्थः, साध्याविनाभूतं लिङ्गम् । तस्य पञ्चावयवेन वाक्येन प्रतिपादनं तत्प्रतिपत्तिजननसमर्थपञ्चावयववाक्यप्रयोगः परार्थानुमानम् । पञ्चावयवं हि वाक्यं यावत्सु रूपेषु लिङ्गस्य साध्याविनाभावः परिसमाप्यते तावद्रूपं लिङ्गं प्रतिपादयति । तत्प्रतिपादिताच्च लिङ्गात् साध्यसिद्धिः । न वाक्यमेव साध्यं बोधयति, तस्य शाब्दत्वप्रसङ्गात् । तस्मादविनाभूतलिङ्गाभिधायकवाक्यप्रयोग एव परार्थानुमानमुच्यते ।- *न्या.क.*, पृ. ५५९

पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग ही परार्थानुमान है । ये पञ्चावयव हैं- प्रतिज्ञा, अपदेश (हेतु), निदर्शन (उदाहरण), अनुसन्धान (उपनय), प्रत्याम्नाय (निगमन) ।[142]

(i).**प्रतिज्ञा**- साध्य से युक्त धर्मी (पक्ष) में हेतु-सम्बन्ध को दिखाने के लिए प्रयुक्त वाक्य प्रतिज्ञा है अर्थात् अनुमान के लिए अभिप्रेत विषय का प्रतिपादक वह वाक्य ही 'प्रतिज्ञा' है जिसका अन्य किसी प्रमाण से विरोध न हो, जैसे-'द्रव्यं वायुः' ।[143]

(ii).**अपदेश**- हेतुबोधक वाक्य ही अपदेश है, जैसे- 'क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च' ।[144]

(iii).**निदर्शन**- साध्यसामान्य के साथ वृत्तित्वरूप से ज्ञात हेतु सामान्य का पक्ष में संज्ञा का ज्ञापन वाक्य । निदर्शन के दो भेद कहे गये हैं- साधर्म्य-निदर्शन और वैधर्म्य-निदर्शन । साध्य एवं हेतु का एक जगह रहना जिस वाक्य से निर्देशित हो उसे साधर्म्यनिदर्शन कहते हैं तथा जिस वाक्य से साध्य के अभाव के द्वारा हेतु का अभाव निर्दिष्ट हो, उसे वैधर्म्यनिदर्शन कहते हैं ।[145] अनुमेयसामान्य से साधर्म्यनिदर्शन को कहा गया है, जैसे- 'यत् क्रियावत् तद् द्रव्यं दृष्टं यथा शर' । वैधर्म्यनिदर्शन का उपपादन अनुमेयविपर्यय से हुआ है, जैसे- यदद्रव्यं सत् तत् क्रियावन्न भवति यथा सत्तेति' ।[146]

अनुमान के तृतीत अवयव निदर्शन के कथन में भाष्यकार एवं कन्दलीकार दोनों ने निदर्शनाभास का भी वर्णन किया है, जो वस्तुतः निदर्शन नहीं हैं, किन्तु निदर्शन के किसी सादृश्य के कारण निदर्शन की तरह प्रतीत होते हैं जिसके कारण निदर्शनत्व

---

142 अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ५६५

143 (क) तत्रानुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा ।- वही, पृ. ५६६; (ख) तस्य यदुद्देशमात्रं सङ्कीर्तनमात्रं साधनरहितं सा प्रतिज्ञेति । प्रतिज्ञाया उदाहरणमाह- द्रव्यं वायुरिति ।- *न्या.क.*, पृ. ५६६

144 लिङ्गवचनमपदेशः । यदनुमेयेन सहचरितं तत्समानजातीये सर्वत्र सामान्येन प्रसिद्धं तद्विपरीते च सर्वस्मिन्नसदेव तल्लिङ्गमुक्तम्, तस्य वचनमपदेशः । यथा क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाचेति ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ५७५-५७६

145 द्विविधं निदर्शनं साधर्म्येण वैधर्म्येण चेति । साध्यसाधनयोरनुगमो निदर्श्यते येन वचनेन तद्वचनं साधर्म्यनिदर्शनम्, साध्यव्यावृत्त्या साधनव्यावृत्तिर्येन वचनेन निदर्श्यते तद्वैधर्म्यनिदर्शनमिति भेदः ।- *न्या.क.*, पृ. ५९८-५९९

146 तत्रानुमेयसामान्येन लिङ्गसामान्यस्यानुविधानदर्शनं साधर्म्यनिदर्शनम् । अनुमेयविपर्यये च लिङ्गस्याभावदर्शनं वैधर्म्यनिदर्शनम् ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ५९९

दूषित हो जाता है ।[147] छः प्रकार के साधर्म्य निदर्शनाभास हैं[148] और छः प्रकार के ही वैधर्म्य निदर्शनाभास हैं ।[149]

साधर्म्यनिर्देशाभास इस प्रकार हैं-

(१).लिङ्गासिद्ध- 'नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्, यथा परमाणुः' अर्थात् शब्द में अमूर्त्तत्व हेतु से निरवयवत्व के साधन के लिए 'यदमूर्त्तं तन्नित्यम्, यथा परमाणुः' इस प्रकार का प्रयोग किया जाये तो वह लिङ्गासिद्ध निदर्शनाभास है ।[150]

(२).अनुमेयासिद्ध- 'नित्यःशब्दोऽमूर्त्तत्वात्' में 'यदमूर्त्तं दृष्टं तन्नित्यम्, यथा कर्म' इस प्रकार का प्रयोग अनुमेयासिद्ध निदर्शनाभास है ।[151]

(३).उभयासिद्ध- 'नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्' में 'यदमूर्त्तं दृष्टं तन्नित्यं, यथा स्थाली' इस प्रकार का प्रयोग उभयासिद्ध निदर्शनाभास है क्योंकि स्थाली में नित्यत्व रूप अनुमेय और अमूर्त्तत्व रूप लिङ्ग दोनों असिद्ध हैं ।[152]

(४).आश्रयासिद्ध- 'नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्' में 'यदमूर्त्तं दृष्टं तन्नित्यं, यथा तमः' इस प्रकार का प्रयोग आश्रयासिद्ध निदर्शनाभास है ।[153]

(५).अननुगत- 'शब्दो नित्यः, अमूर्त्तत्वात्' में 'अम्बरवत्' केवल इतने अंश का ही प्रयोग किया जाये 'यदमूर्त्तं तन्नित्यम्' इस अंश का प्रयोग न करे तो वह अननुगत निदर्शनाभास होगा ।[154]

---

147 (क) अनेन निदर्शनाभासा निरस्ता भवन्ति ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ५९९; (ख) अनिदर्शनान्यपि केनचित् साधर्म्येण निदर्शनवदाभासन्त इति इति निदर्शनसदृशाः ।- *न्या.क.*, पृ. ६००

148 तद्यथा- नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्, यदमूर्त्तं दृष्टं तन्नित्यम् यथा परमाणुर्यथा कर्म, यथा स्थाली, यथा तमोऽम्बरवदिति, यद् द्रव्यं तत् क्रियावद् दृष्टमिति च लिङ्गानुमेयोभयाश्रयासिद्धाननुगतविपरीतानुगताः साधर्म्यनिदर्शनाभासाः ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ६००

149 यदनित्यं तन्मूर्त्तं दृष्टम्, यथा कर्म यथा परमाणुर्यथाकाशं यथा तमः, घटवत्, यन्निष्क्रियं तदद्रव्यञ्चेति लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्ताश्रयासिद्धाव्यावृत्तविपरीतव्यावृत्ता वैधर्म्यनिदर्शनाभासा इति ।- वही, पृ. ६०३

150 नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्, यथा परमाणुरिति लिङ्गासिद्धो निदर्शनाभासः परमाणोरमूर्त्तत्वाभावात् ।- *न्या.क.*, पृ. ६०१

151 यथाकर्मेत्यनुमेयासिद्धः, कर्मणो नित्यत्वाभावात् ।- वही

152 यथा स्थालीत्युभयासिद्धः, न स्थाल्यां साध्यं नित्यत्वमस्ति, नापि साधनममूर्त्तत्वम् ।- वही

153 यथा तम इत्याश्रयासिद्धः । परमार्थतस्तमो नाम न किञ्चिदस्ति ।- वही

(६).विपरीतानुगत- 'द्रव्यं वायुः क्रियावत्त्वात्' इस अनुमान के लिए 'यद् द्रव्यं तत् क्रियावद् दृष्टम्' इस प्रकार का विपरीत वाक्य-प्रयोग विपरीतानुगत निदर्शनाभास है ।[155]

वैधर्म्य-निदर्शनाभास भी छः प्रकार के हैं, जो इस प्रकार से हैं-

(१).लिङाव्यावृत्त- 'नित्यः शब्दः अमूर्त्तत्वात्' रूप अनुमान के लिए 'यदनित्यं तन्मूर्त्तम्, यथा कर्म' इस प्रकार से कर्म को वैधर्म्यनिदर्शन न उपस्थित करे तो वहाँ कर्म 'लिङ्गाव्यावृत्त' निदर्शनाभास होता है ।[156]

(२).अनुमेयाव्यावृत्त- 'नित्यः शब्दः, अमूर्त्तत्वात्' में 'यदनित्यं तन्मूर्त्तं दृष्टम्, यथा परमाणुः' इस प्रकार वैधर्म्य निदर्शन के लिए परमाणु का प्रयोग अनुमेयाव्यावृत्त निदर्शनाभास है, क्योंकि परमाणु में नित्यत्व रूप साध्य का अभाव नहीं है ।[157]

(३).उभयाव्यावृत्त- 'नित्यः शब्दः, अमूर्त्तत्वात्' में यदि 'यदनित्यं तन्मूर्त्तं दृष्टम्, यथाकाशम्' इस प्रकार से आकाश में वैधर्म्य का प्रयोग उभयाव्यावृत्त निदर्शनाभास है क्योंकि आकाश में अनित्यत्व और मूर्त्तत्व इन दोनों में से कोई भी नहीं रहता ।[158]

(४).आश्रयासिद्ध- 'नित्यः शब्दः, अमूर्त्तत्वात्' में 'यथा तमः' इस प्रकार से तम को वैधर्म्यदृष्टान्त रूप में उपस्थित करना आश्रयासिद्ध निदर्शनाभास है ।[159]

(५).अव्यावृत्त- 'नित्यः शब्दः, अमूर्त्तत्वात्' इस अनुमान में 'घटवत्' केवल इतने ही अंश का प्रयोग किया जाये, 'यदनित्यं तन्मूर्त्तं' का प्रयोग 'घटवत्' के पूर्व में न किया जाये तो वह अव्यावृत्त नामक निदर्शनाभास होगा ।[160]

---

154 अम्बरवदित्यननुगतोऽयं निदर्शनाभासः ।- *न्या. क.*, पृ. ६०१

155 यद् द्रव्यं तत् क्रियावद् दृष्टमिति विपरीतानुगतः । वही

156 नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वाद् यदनित्यं तन्मूर्त्तं यथा कर्मेति लिङ्गव्यावृत्तो वैधर्म्यनिदर्शनाभास; कर्मणो मूर्त्यभावात् ।- वही, पृ. ६०३-६०४

157 यथा परमाणुरित्यनुमेयाव्यावृत्तः, अनुमेयं नित्यत्वं परमाणोरव्यावृत्तम् ।- वही, पृ. ६०४

158 यथाकाशमित्युभयव्यावृत्तः, नाकाशादमूर्त्तत्वं नापि नित्यत्वं व्यावृत्तम् ।- वही

159 यथा तम इत्याश्रयासिद्धः । परमार्थतस्तु तम एव नास्ति, किमाश्रया साध्यसाधनयोर्व्यावृत्तिः स्यात् ।- वही

(६).विपरीतव्यावृत्त- 'द्रव्यं वायुः, क्रियावत्त्वात्' के लिए यदि 'यन्निष्क्रियं तदद्रव्यम्' इस प्रकार से वैधर्म्य निदर्शन प्रयोग विपरीतव्यावृत्त निदर्शनाभास है ।[161]

(iv).**अनुसन्धान-** व्याप्ति विशिष्ट हेतु का धर्मी में प्रतिपादक वाक्यांश, वैधर्म्य अनुसंधान है, यथा- 'न चायम्' । दृष्टान्त में साध्य की व्याप्ति से युक्त तथा ज्ञात लिङ्ग सामान्य का पक्ष रूप अनुमेय में सत्ता का प्रदर्शन जिस वाक्य से होता है, वह अनुसन्धा है ।[162] अनुसन्धान द्विविध है- साधर्म्यानुसन्धान और वैधर्म्यानुसन्धान।[163]

(v).**प्रत्याम्नाय-** प्रतिज्ञा वाक्य, अनिश्चित साध्य का निश्चित वचन । जैसे- 'तस्माद् द्रव्यमेवेत' ।[164] पहले प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा केवल साध्य कहा जाता है, किन्तु उससे साध्य का निश्चय नहीं हो पाता क्योंकि केवल प्रतिज्ञा वाक्य साध्य की सिद्धि में समर्थ नहीं है । हेतु वाक्य के द्वारा हेतु का प्रदर्शन हो जाने पर उदाहरण और उपनय के द्वारा हेतु का व्याप्ति और पक्षधर्मतारूप सिद्ध होता है, उसके बाद प्रत्याम्नाय के द्वारा साध्य का निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है ।[165]

4.4.8.अनुमान-फल (अनुमिति)-

प्रशस्तपाद ने कहा है कि लिङ्ग हेतु का ज्ञान जो अनुमान प्रमाण है उससे उत्पन्न अग्नि का ज्ञान फलरूप प्रमिति है अर्थात् अग्नि में उपादेयत्व, हेयत्व या उपेक्षा की बुद्धि

---

160 घटवदित्यव्यावृत्तः । यद्यपि घटे साध्यसाधनयोरस्ति व्यावृत्तिः, तथापि यदनित्यं तन्मूर्त्तमित्येवं न वदति, न च तथानभिधाने साध्यसाधनयोर्व्यावृत्तिप्रतिपत्तिर्विप्रतिपन्नस्य भवति, अतोऽयमव्यावृत्तः ।- *न्या.क.,* पृ. ६०४-६०५

161 यन्निष्क्रियं तदद्रव्यमिति विपरीतव्यावृत्तः ।- वही

162 तस्मिन्ननुमेयसामान्येन सह दृष्टस्य प्रतीतस्य लिङ्गसामान्यस्यानुमेये साध्यधर्मिण्यन्वानयनं सद्भावोपदर्शनं येन वचनेन क्रियते तदनुसन्धानम् ।- वही, पृ. ६०६

163 अनुमेयधर्ममात्रत्वेनाभिहितं लिङ्गसामान्यमनुपलब्धशक्तिकं निदर्शने साध्यधर्मसामान्येन सह दृष्टमनुमेये येन वचनेनानुसन्धीयते तदनुसन्धानम् । तथा च वायुः क्रियावानिति । अनुमेयाभावे च तस्यासत्त्वमुपलभ्य न च तथा वायुर्निष्क्रिय इति ।- *प्र.पा.भा.,* पृ. ६१०

164 प्रतिपाद्यत्वेनोद्दिष्टे चानिश्चिते च परेषां हेत्वादिभिरवयवैराहितशक्तिनां परिसमाप्तेन वाक्येन निश्चयापादनार्थं प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं प्रत्याम्नायः, तस्माद् द्रव्यमेवेति ।- वही, पृ. ६११-६१२

165 प्रथमं साध्यमभिहितं न तु तन्निश्चितम्, प्रतिज्ञामात्रेण साध्यसिद्धेरभावात् । तस्योपदर्शिते हेतौ, कथिते च हेतोः सामर्थ्ये, निश्चयः प्रत्याम्नायेन क्रियत इत्यस्य साफल्यम् ।- *न्या.क.*, पृ. ६११

अनुमिति है ।[166] न्यायकन्दलीकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि अग्नि का ज्ञान प्रमिति अथवा प्रमाण फल है ।[167] अतः यहाँ पर लिङ्गज्ञानरूप प्रमाण है और लिङ्गि (साध्य) ज्ञानरूप फल है ।

इस प्रकार पञ्चावयव वाक्य का प्रयोग परार्थानुमान का रूप है । इन पांचों अवयवों का एक वाक्य में प्रयोग करने पर ही परार्थानुमान में साफल्य है अन्यथा अलग-अलग वाक्य प्रयोग करने पर परार्थानुमान की सिद्धि नहीं की जा सकती ।

निष्कर्ष-

अनुमान प्रमाण के विवेचन में बौद्ध एवं वैशेषिक दोनों दर्शनों में यदि देखा जाये तो अनुमान प्रमाण व्यावहारिक जीवन में प्रत्यक्ष से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । बौद्ध दर्शन में तो अनुमान की स्वीकृति ही व्यवहार मात्र में है, परमार्थ रूप से वह भ्रान्त ज्ञान है, किन्तु वैशेषिक में अनुमान प्रत्यक्ष के समान ही सम्यक् ज्ञान कहा गया है । दोनों दर्शनों में अनुमान के स्वार्थानुमान और परार्थानुमान भेद स्वीकृत हैं, किन्तु वैशेषिक में दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट भी अनुमान के दो अन्य भेद हैं । त्रिलक्षण लिङ्ग और त्रिविध लिङ्ग भी दोनों की अनुमान प्रमाणमीमांसा में अभिमत हैं । अनुमिति ज्ञान में व्याप्ति-ग्रहण महत्त्वपूर्ण विषय है, जिसको दोनों दर्शनों ने स्वीकार किया है, किन्तु व्याप्ति का स्वरूप भिन्न है । इस प्रकार कुछ समानताओं के साथ कुछ असमानताओं का सामञ्जस्य अनुमान के विवेचन में परिलक्षित हुआ है ।

---

166 प्रमितिरग्निज्ञानम् ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ५१०

167 प्रमाणस्य फलमग्निज्ञानम् ।- *न्या.क.*, पृ. ५११

अध्याय- 5

बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन में प्रमाणान्तर्भाव-विचार

प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय ने अपने-अपने सिद्धान्तों की स्थापना के लिए विभिन्न प्रकार से प्रमाणों की संख्या निर्धारित की है । बौद्ध और वैशेषिक दर्शनविषयक यह चर्चा पिछले अध्यायों में विस्तारपूर्वक की जा चुकी है कि इन दोनों दर्शनों के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं, इनके अतिरिक्त प्रमाण-संख्या यहाँ स्वीकार्य नहीं है । इसलिए प्रस्तुत अध्याय में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से अतिरिक्त प्रमाणों का अन्तर्भाव और खण्डन सिद्धान्तियों के मत से करना अभिप्रेत है क्योंकि जिसका निषेध किया गया हो, उसकी सिद्धि के बिना निषेध करने वाला प्रमाण अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता, जैसा कि किरणावलीकार ने भी कहा है- **"न हि निषेध्यसिद्धिमन्तरेण निषेधकं प्रमाणमात्मानमासादयति"** ।[1] सर्वप्रथम बौद्ध दर्शन के अनुसार इस विषय में चर्चा की जा रही है-

5.1.बौद्ध दर्शनानुसार प्रमाणान्तर्भाव-

यद्यपि बौद्ध-न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त प्रमाणों का खण्डन उनकी प्रमाण विषयक उक्ति **"मानं द्विविधं मेयद्वैविध्यात्"** से ही हो जाता है, तथापि पूर्वपक्षियों के आक्षेपों का निराकरण करने के लिए तथा स्वमत की स्थापना के लिए भी उन्होंने शब्दादि प्रमाणों का युक्तियुक्त रूप से खण्डन किया है । अब उसी पर विचार किया जा रहा है-

[1] *किरणा.*, पृ. २४०

5.1.1.शब्दप्रमाण-खण्डन-

बौद्धमत में शब्द प्रमाण स्वीकार्य नहीं है । इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए धर्मकीर्ति ने शब्दप्रमाण का खण्डन किया है और उसका अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में किया है । किन्तु इससे पूर्व शब्दप्रमाण का सामान्य स्वरूप जानना अपेक्षित है, क्योंकि स्वरूप ज्ञान के बिना उसका निराकरण सम्भव नहीं । सर्वप्रथम न्यायदर्शन के अनुसार ही स्वरूप कथन समीचीन है, क्योंकि भारतीय दर्शन परम्परा में प्रमाणमीमांसा के रूप में न्याय दर्शन ही सर्वविदित है ।

न्यायसूत्र में शब्द का लक्षण- "**आप्तोपदेशः शब्दः**"[2] किया गया है अर्थात् किसी आप्त पुरुष के उपदेश को शब्दप्रमाण कहा जाता है । तर्कभाषाकार ने भी इसी का अनुसरण करते हुए कहा है कि- **"आप्तवाक्यं शब्दः**"[3] अर्थात् आप्त पुरुष का वाक्य शब्दप्रमाण होता है तथा यथाभूत वस्तु का उपदेश करने वाले को आप्त पुरुष कहा है ।[4] आप्त पुरुष के द्वारा कहा गया वाक्य ही शब्दप्रमाण कहलाता है । लोक में सभी पुरुष आप्त नहीं होते, इसलिए वही वाक्य आप्त होता हुआ प्रमाण माना जाता है जिसका वक्ता कोई आप्त अथवा विश्वसनीय पुरुष हो । इस प्रकार शब्दप्रमाण आप्तवचन पर आधारित है । मीमांसकों के अनुसार विधि-वाक्यों के द्वारा स्वर्गादि असन्निकृष्ट अर्थों का साधक विज्ञान ही शास्त्र नामक शब्दप्रमाण है । मीमांसकों ने शास्त्र का लक्षण- "**शास्त्रं शब्दविज्ञानासन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्**" किया है[5] तथा कहा है कि शब्द-राशि शास्त्र अपौरुषेय, पौरुषेय अथवा आप्तोपदिष्ट रूप में सर्वथा अभिहित अर्थ का साधक होने के कारण प्रमाण माना जाता है ।[6]

---

[2] *न्या.सू.*, १.१.७

[3] *त.भा.*, पृ. १२२

[4] आप्तस्तु यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुषः ।- वही

[5] *शाब.भा.*, १.१.५

[6] प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा । पुंसायेनोपदिश्येततच्छास्त्रमभिधीयते ।- *श्लो.वा.*, शब्द परिच्छेद, पृ. ४०६

मीमांसकों के द्वारा आक्षेप के निराकरण में ही बौद्ध नैयायिकों ने शब्द की अप्रमाणता का कथन किया है-

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर शब्द की स्वतन्त्र प्रमाणता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता क्योंकि नित्य और अपौरुषेय शब्द स्वरूप की संकल्पना अनेक विप्रतिपतियों से ग्रसित है । मीमांसकों का शब्द की नित्यताविषयक सिद्धान्त का खण्डन बौद्धों के क्षणभङ्गवाद से ही हो जाता है ।[7]

वाक्यों की अपौरुषेयता भी एक संगत संकल्पना मात्र ही है । अपौरुषेय वाक्य अर्थवान् नहीं हो सकते क्योंकि किसी भी वाक्य की अर्थवत्ता 'अविपरीतार्थत्वेन्' अथवा 'विपरीतार्थत्वेन्' ही सम्भव है । इसके पश्चात् विपर्यास, भ्रान्ति और स्खलन दोष से रहित पुरुष की कल्पना करना असम्भव है । यदि किसी आप्त पुरुष को स्वीकार कर भी लिया जाये तो भी उसके दोषरहित चित्तवृत्ति की प्रत्यक्षात्मक प्रतीति अनुपपन्न है । शरीर और वचनादि व्यापार रूप कार्य से कारणरूपेण दोष रहित चित्तवृत्ति का अनुमान व्यभिचारात्मक होगा और यदि आप्त पुरुष के आप्तत्व की सिद्धि शब्द प्रमाण से ही मानेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष की उत्पत्ति होगी । इसलिए आप्त पुरुष के आप्तत्व की असिद्धि ही शब्द प्रमाण निरास के लिए पर्याप्त है, ऐसा बौद्धों का मानना है ।[8]

धर्मकीर्ति ने मीमांसकों के शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण मानने विषयक मत का खण्डन करते हुए कहा है कि शब्द मात्र का यह स्वभाव होता है कि वह केवल अपने वक्ता का अभिप्राय ही सूचित कर पाता है, पदार्थतत्त्व का ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि अर्थ के साथ शब्द का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता ।[9] प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार में इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रभाकर नियोग को, कुमारिल भट्ट भावना को और मण्डन मिश्र विधि को धातु का अर्थ इसीलिए मानते हैं कि नियोगादि के बिना किसी की प्रवृत्ति नहीं

---

[7] अकृतकस्य हि वाक्यस्य सम्भवो नास्त्येव, व्यापिनः क्षणभङ्गस्य साधित्वात् ।- *तत्त्व.सं.प.*, १४९९

[8] तदेवमाप्तत्वस्य दुर्बोधत्वेन तत्प्रणीतत्त्वानिश्चयादेकप्रहारनिहतमाप्त वचसः प्रामाण्यम् ।- *रत्नकीर्ति निबन्धावली*, पृ. १०२

[9] वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते । प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम् ॥- *प्र.वा.*, १.४

होती और प्रवृत्ति के बिना कोई फल निष्पन्न नहीं होता, किन्तु यदि ऐसा ही है तो फिर बड़े-बड़े संयन्त्रों और कल-कारखानों में किसी प्रेरक के बिना अपने-आप वस्तुओं का जो अन्धाधुन्ध उत्पादन हो रहा है, वह कैसे सम्भव होगा? इसलिए यही मानना होगा कि जो अर्थ जिसकी बुद्धि में विद्यमान रहता है, शब्द उसी अर्थ का गमक होता है, वास्तविक अर्थतत्त्व का नहीं और जो बुद्धि में भासित होता है वह वस्तुतत्त्व नहीं होता ।[10]

इस प्रकार प्रमाणवार्त्तिककार धर्मकीर्ति ने शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर उसे अप्रमाण ही घोषित किया है, क्योंकि उन्होनें शब्द को केवल अनादि संस्कारों के आधार पर होने वाली प्रतीति ही माना है । किन्तु शान्तरक्षित ने शब्द का अन्तर्भाव अनुमान में यह कहते हुए किया है कि यदि कोई व्यक्ति दुराग्रह से शब्द को प्रमाण स्वीकार ही करता है तो उसका अन्तर्भाव अनुमान में ही किया जा सकता है क्योंकि वक्ता के वचन रूपी लिङ्ग के द्वारा उसकी विवक्षा का अनुमान किया जा सकता है ।[11]

5.1.2.उपमान प्रमाण-खण्डन-

बौद्धेतर कुछ सम्प्रदायों की प्रमाण-मीमांसा में उपमान भी एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में प्रसिद्ध है । यद्यपि स्वयं बौद्धेतर दार्शनिकों के मध्य ही उपमान के स्वरूप को लेकर पर्याप्त मतभेद रहा है तथापि सामान्य रूप से यह सादृश्यमूलक ज्ञान है ।

न्यायसूत्रकार के अनुसार प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य के आधार पर सामान्य रूप से अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमान प्रमाण कहलाता है ।[12] तात्पर्य यह है कि जिस प्रमाण द्वारा प्रसिद्ध 'गौ' आदि पदार्थ के सादृश्य से किसी अज्ञात 'गवयादि' पदार्थ में 'गवय' रूप शब्द और वाक्य का अर्थ में वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध का ज्ञान होता है उसे उपमान प्रमाण कहते हैं । इसकी व्याख्या करते हुए न्यायभाष्यकार ने कहा

---

[10] *प्र.वा.अलं.*, पृ. १६

[11] वचोभ्यो निखिलेभ्योऽपि विवक्षैषाऽनुमीयते । प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां तद्धेतुः सा हि निश्चिता ॥- *तत्त्व.सं.*, का. १५१४

[12] प्रसिद्ध साधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ।- *न्या.सू.*, १.१.६

है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की प्रतीति ही उपमान का प्रयोजन है ।[13] तर्कभाषाकार ने इसी को परिष्कृत स्वरूप प्रदान करते हुए कहा है कि अतिदेश वाक्य के अर्थ के स्मरण सहित 'गौ' की समानता से युक्त विशिष्ट पिण्ड का ज्ञान ही उपमान कहलाता है ।[14] इस प्रकार सादृश्य के आधार पर होने वाला ज्ञान उपमान प्रमाण है ।

मीमांसकों ने "**उपमानमपि सादृश्यं सन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य**" किया है ।[15] अर्थात् वन में दृश्यमान गवयादि पदार्थों के सादृश्य से स्मर्यमाण असन्निकृष्ट 'गौ' स्थित सादृश्य का ज्ञान उपमिति या उपमान प्रमाण कहलाता है ।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार सदृश वस्तुओं से अतिरिक्त सादृश्य नामक विषय की स्थापना मान्य नहीं है । यदि अतिरिक्त सादृश्य को दृश्य माना जाये तो मीमांसकों की ऐसी मान्यता दृश्यानुपलब्धि दोष से ग्रसित हो जाती है । अतिरिक्त सादृश्य को अदृश्य मानने पर उससे सम्बद्ध हेतु के अभाव में अनुमान द्वारा भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती । सादृश्य ज्ञान तो अपने कारणों से उत्पन्न सदृश वस्तुओं के द्वारा भी सम्भव है । स्वयं उपमान प्रमाण को भी सादृश्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त करना उचित नहीं है । यदि अन्य प्रमाण से सिद्ध सादृश्य और पिण्ड में विशेषण-विशेष्यभाव एवं उसमें उपमान की विषयता मीमांसकों को स्वीकार्य हो तो उपमानपूर्वक सादृश्य की स्वीकृति सर्वथा अयुक्त है । इस प्रकार सादृश्य वस्तुओं से अतिरिक्त सादृश्य नामक वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध के असिद्ध हो जाने से मीमांसकों का उपमान भी निर्विषयक हो जाता है ।[16]

प्रमाणवार्त्तिककार ने भी उपमान की अप्रमाणता को ही स्वीकार किया है । द्विविध प्रमेय को सदृश और असदृश के भेद से भी कहा जाता है । 'गोसदृशोऽयं गवयः' इस प्रकार के वाक्य में प्रतीतिमात्र के आधार पर सादृश्य पदार्थ को पृथक नहीं माना जा

---

[13] समाख्यासम्बन्ध प्रतिपत्तिः उपमानार्थः ।- *न्या. भा.*, १.१.६

[14] अतिदेशवाक्यार्थस्मरणसहकृतं गोसादृश्यविशिष्टंपिण्डज्ञानम् उपमानम् ।- *तर्क. भा.*, पृ. ११९

[15] *शाब. भा.*, १.१.५

[16] एवं मीमांसकोपवर्णितस्यापि....तत्कथं सादृश्यमात्रस्याप्युपमानात्सिद्धिरिति ।- *बौ. त. भा.*, पृ. १७

सकता । सादृश्यरूप विषय के अभाव में 'सदृशोऽयम्' यह प्रतीति निरालम्बन है अर्थात् मरुमरीचिका में जल की प्रतीतिमात्र से जल की जैसे पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती, वैसे ही 'अनेन सदृशमिदम्' इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर सादृश्य पदार्थ की पृथक् सिद्धि नहीं की जा सकती । स्वलक्षणाकार प्रतीति ही वस्तु से जनित वस्तु की व्यवस्थापिका मानी जाती है, विकल्पाकार प्रतीति नहीं ।

अतः सादृश्य-प्रतीति ग्राह्य-रहित प्रतीति है । क्योंकि 'गवयः गोसदृशः' में गवय का स्वरूप तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही ज्ञात होता है और सादृश्य का बोध शाब्द प्रत्यय का विषय माना जाता है अर्थात् **'अनेन सदृशोऽसौ तेन सदृशोऽयम्'** से दोनों वाक्यों द्वारा एक ही अर्थ का अभिधान किया जाता है तथा उसके अनुरूप व्यवहार (गवय शब्दादि का प्रयोग) किया जाता है । किन्तु 'गो' और 'गवय' दोनों का एक साथ प्रत्यक्ष दर्शन सम्भव नहीं क्योंकि घर में 'गो' है, 'गवय' नहीं और वन में 'गवय' है, 'गो' नहीं । अतः शाब्दसादृश्य के आधार पर केवल व्यवहारमात्र होता है, स्वलक्षण वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता । इसी प्रकार अनुमान में भी दृष्टान्त का प्रदर्शन केवल दृष्टार्थ का अध्यारोप करके ही किया जाता है ।[17] अतः उपमान प्रमाण की पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती, वह अनुमान ही है ।

5.1.3.अर्थापत्ति प्रमाण-खण्डन-

अर्थापत्ति को भी कतिपय बौद्धेतर सम्प्रदायों ने स्वतन्त्र प्रमाण माना है, जिनमें मीमांसक और वेदान्ती प्रमुख हैं । शबर स्वामी ने इसकी परिभाषा करते हुए कहा है कि दृष्ट एवं श्रुत अर्थ जिसके बिना उपपन्न न हो, उसकी कल्पना ही अर्थापत्ति है ।[18] कुमारिल भट्ट के अनुसार प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों से व्यवस्थानुसार प्रमित होकर जो अर्थ

---

[17] *प्र.वा.अलं.*, पृ. ४१२-४१९

[18] अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना ।-*शा.दी*, १.१.५

अपनी अनुपपत्ति से दूसरे अर्थ की कल्पना करे, वही अर्थापत्ति है ।[19] वस्तुतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जिस अर्थ की प्रतीति होती है और वह प्रतीत अर्थ जिसके बिना सिद्ध नहीं हो पाता तब उस अर्थ की कल्पना के लिए अर्थापत्ति नामक प्रमाण को स्वीकार किया जाता है ।

उपर्युक्त अर्थापत्ति नामक प्रमाण की सत्ता का बौद्ध नैयायिकों ने खण्डन किया है । बौद्धन्याय के अनुसार अर्थापत्तिजन्य ज्ञान के दो स्पष्ट पक्ष हैं- प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रमिति इसका ज्ञात पक्ष है तथा इस ज्ञात पक्ष की सिद्धि जिसके बिना नहीं हो सकती, वह अर्थापत्ति का अज्ञात पक्ष है । यहाँ विचारणीय है कि अर्थापत्ति जन्य ज्ञान के ज्ञात और अज्ञात पक्ष में कैसा सम्बन्ध है । यदि दोनों के मध्य तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध माना जाये तो अर्थापत्ति पूर्वक होने वाली प्रतीति स्वभाव या कार्य हेतु से जन्य होने के कारण अनुमान हो जायेगी । यदि ज्ञात और अज्ञात पक्ष में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो तो अर्थापत्तिपूर्वक अज्ञात अर्थ की प्रमिति ही नहीं हो सकती । अतः अर्थापत्ति को अनुमान से पृथक् एवं स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं है ।[20]

प्रमाणवार्त्तिकालंकर में प्रज्ञाकर गुप्त ने कहा है कि प्रत्यक्ष के द्वारा दर्शन होने पर अर्थापत्ति की आवश्यकता ही नहीं होगी, क्योंकि दर्शन के अनुरूप ही पदार्थ की सत्ता व्यवस्थित होती है । प्रत्यक्ष के द्वारा जो पदार्थ जैसा दिखाई देता है, उसको वैसा ही ग्रहण करना चाहिए- अर्थापत्ति नामक प्रमाणानन्तर मानने की क्या आवश्यकता है और यदि ऐसा माना जायेगा तो फिर ज्ञान के ग्रहण में जब अर्थापत्ति की उत्पत्ति होगी तो अर्थापत्ति के रूप-ग्रहण में अन्यान्य अर्थापत्ति का ग्रहण करना होगा और इस प्रकार से अनवस्था दोष की उत्पत्ति होगी, इसलिए अर्थापत्ति नामक भिन्न प्रमाण नहीं माना

---

[19] प्रमाणषटक विज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत् ।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरूदाह्यता ॥- *श्लो.वा.*, अर्थापत्ति परिच्छेद, १

[20] तस्मान्नार्थापत्ति प्रमाणान्तरमिति ।- *रत्नकीर्ति निबन्धावली*, पृ. १०४

जा सकता ।[21] इस प्रकार बौद्ध दर्शन के तदुत्पत्ति के नियम से अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है ।

5.1.4.प्रत्यभिज्ञा प्रमाण-खण्डन-

बौद्ध नैयायिकों ने प्रत्यभिज्ञा नामक भिन्न प्रमाण का भी खण्डन किया है । प्रमाणवार्त्तिककार ने कहा है कि 'तत्पदार्थ' और 'इदं पदार्थ' की एकता का बोधक विषयक प्रत्यभिज्ञा नामक प्रमाण युक्ति-युक्त स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि इतर प्रमाण से अगृहीत वह अपूर्व एकत्वरूप अर्थ का ग्राहक ही नहीं है । केवल पूर्व में दृष्ट घटादि का ही ग्राहक होता है जबकि पूर्व गृहीत और वर्तमान गृहीत घट की एकता में विरोध की स्थिति है । केवल वर्तमान में गृहीत घट की एकता का ग्रहण तो सिद्ध-साधन अर्थात् गृहीत-ग्रहण है, क्योंकि पूर्वकाल में गृहीत 'अयं घटः' इस ज्ञान के द्वारा विषयीकृत एकत्व ही वर्तमान ज्ञान के द्वारा गृहीत हो रहा है, अगृहीत नहीं है ।

अतः 'अयं घटः' इस प्रकार पूर्वोत्पन्न प्रत्यय (अभिज्ञा ज्ञान) के द्वारा गृहीत घट अननुसन्धीयमान है, इसलिए अपूर्व अनधिगततया गृहीत होता है और वर्तमान काल में पुनः अनुसन्धीयमान अर्थात् यथाभूत ग्रहण हुआ है, जबकि उसका तथाभूत ग्रहण होना चाहिए था । गृहीतत्वेन ग्रहण होने के कारण वह घट स्मृति का विषय है । अतः वह अप्रमाण है । ज्ञान अर्थक्रियाकारी होने के कारण प्रमाण कहा जाता है, जबकि पूर्वोत्तर-भाव से उत्पन्न दोनों ज्ञानों के विषय की एकता वहाँ अर्थक्रियाकारी नहीं है क्योंकि उक्त प्रत्यभिज्ञा विषयक ज्ञान केवल एकत्व रहित वस्तु-मात्र के सामर्थ्य से जनित है । इस प्रकार 'स एवाऽयम्' इस प्रकार के एकात्मक ज्ञान की उत्पत्ति इस स्थान पर नहीं दिखाई देती, अपितु 'अयं घटः' यह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक और 'सः' यह स्मरणात्मक ज्ञान है । अतः वहाँ दो ज्ञान होते हैं, एक नहीं ।

---

[21] *प्र.वा.अलं.*, पृ. ५१५

प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के द्वारा पूर्व एवं उत्तर काल में गृहीत पदार्थों की एकता की प्रतीतिविषयक विचार भी युक्त नहीं क्योंकि पूर्व प्रत्यक्ष-काल में उत्तरभावी ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हुआ था और उत्तर ज्ञान-काल में पूर्व ज्ञान नष्ट हो गया। अतः अप्रतीत अर्थ के साथ प्रतीत अर्थ की एकता स्थापित करना असम्भव है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व विकल्प के द्वारा गृहीत पदार्थों की एकता संवृतिमात्र या कल्पित है। इस प्रकार गृहीत विषय का ग्राहक होने से वह असाक्षात्कारात्मक है एवं असाक्षात्कारणाकार एकमात्र अनुमान प्रमाण ही है, इसलिए प्रत्यभिज्ञा अनुमान ही है।[22]

5.1.5.अनुपलब्धि प्रमाण-खण्डन-

अनुपलब्धि प्रमाण भी बौद्धेतर मीमांसक और वेदान्तियों को अभिमत स्वतन्त्र प्रमाण है। शबर स्वामी ने इसको परिभाषित करते हुए "**अभावोऽपि प्रमाणाभावो 'नास्ति' इत्यस्यार्थस्यासन्निकृष्टस्य**" कहा है।[23] यहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अनुपपत्ति अभाव प्रमाण है। अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण पञ्चक (मीमांसकाभिमत) घटादि वस्तुओं की सत्त्वविषयक प्रतीति के अन्य कारणों के न रहने पर भी उनकी प्रतीति के उत्पादन में सफल नहीं होते। अतः उन वस्तुओं की असत्ता को ज्ञापित करने के लिए अनुपलब्धि नामक प्रमाण की आवश्यकता होती है।

बौद्ध नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अनुपपत्ति रूप अनुपलब्धि का कोई स्वरूप ही प्राप्त नहीं होता, फिर वह प्रमाण कैसे माना जा सकता है?[24] अनुपपत्ति रूप अनुपलब्धि के विषय में विचार करने पर यह ध्यातव्य है कि यह प्रसज्य अथवा पर्युदास वृत्ति से प्रमाणों की अनुपपत्ति मात्र है। इससे भिन्न यदि है तो वह ज्ञान रूप में है या

---

[22] असाक्षात्करणाकारमनुमानमेवैकम्प्रमाणम्। ततो यदि प्रत्यभिज्ञाप्रमाणमसाक्षात्कारवृत्तन्ततोऽनुमानमेव ।- प्र.वा.अलं., पृ. ६७९

[23] *शाब.भा.*, आनन्दाश्रम, पृ. ३९

[24] अभावस्य स्वरूपमेव तावन्नोपलभामहे, कुत एव तस्य प्रामाण्यं भविष्यति ।- *बौ.त.भा.*, पृ. १८

जड़ रूप में, और यदि उसे ज्ञान रूप ही माना जाये तो वह ज्ञान मात्र है अथवा किसी विषय से सम्बन्धित ज्ञान विशेष?

उपर्युक्त विकल्पों के आधार पर अनुपलब्धि को प्रसज्य रूप मानना उचित नहीं है, क्योंकि प्रसज्य रूप अनुपलब्धि सर्वशक्तिशून्य होने के कारण परिच्छेदक अथवा ज्ञान का जनक नहीं हो सकता । वस्तुतः अनुपलब्धि न तो किसी की प्रतिपत्ति है और न किसी प्रतिपत्ति का हेतु है । तब अनुपलब्धि की प्रतिपत्ति कैसे हो सकती है अर्थात् कदापि नहीं हो सकती । यदि अनुपलब्धि को जड़ रूप कहा जाये तो जड़ कभी परिच्छेदक नहीं होता, इसलिए जड़ भी नहीं कह सकते । अनुपलब्धि ज्ञान मात्र भी नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर देश, काल और स्वभाव से दूरस्थ वस्तुओं जैसे- सुमेरु, शंख चक्र में रहने वाले पिशाच आदि वस्तुओं का भी ज्ञानमात्र से अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा अभाव सिद्ध होगा । किन्तु यदि एक ज्ञान से सम्बन्धित भूतलादि को ही अनुपलब्धि कहा जाये तो ऐसा हो सकता है और इस रूप में वह प्रत्यक्ष ही है ।[25]

प्रमाणवार्त्तिकालङ्कार भाष्य में इस विषय में कहा है कि अभाव की प्रतीति यदि अभाव रूप अनुपलब्धि प्रमाण से मानी जाती है, तब अनुपलब्धि के अर्थ- 'प्रमाणाभाव' के विषय में जिज्ञासा होती है कि वह किस प्रमाण का अभाव है । अभाव प्रमाण को यदि माना जाता है तो सुषुप्तावस्था में भी पुरुष को सभी भाव पदार्थों की सर्वथा अभाव-ग्राहिका बुद्धि क्यों उत्पन्न नहीं होती ? उसी प्रकार से भावज्ञान के बिना ही किसी को अभाव की प्रतीति क्यों नहीं होती ? इस प्रकार के अभाव का निश्चय कभी नहीं हो सकता । वस्तुतः भाव से भिन्न अभाव का ज्ञान नहीं होता । 'इदम् इदं न' इस प्रकार की अनुभूति तो भाव से अभाव का भेद करती है, किन्तु यह अनुभूति किस इन्द्रिय से होगी क्योंकि प्रतियोगी का ज्ञान नहीं है । यदि प्रतियोगी-स्मरण-सहकृत इन्द्रिय के द्वारा अभाव का ज्ञान होता है, तब उससे वह ज्ञान प्रत्यक्ष ही सिद्ध होता है

---

[25] *बौ.त.भा.*, पृ. १८-१९

क्योंकि वह ज्ञान इन्द्रिय के भावाभाव का अनुसरण करता है । और यदि इन्द्रिय अन्यासक्त होने के कारण अभाव का ज्ञान नहीं कर सकती, तब वह मानस है ।

इस प्रकार सिद्धान्तवादियों ने कहा है कि हम बौद्धों के अनुसार यह प्रमाण नहीं हो सकता लेकिन आप मीमांसक कहते हैं कि "जब वह ज्ञान अविसंवादी है, तब उसे प्रमाण मानना ही होगा, यदि प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नहीं तो अनुपलब्धि नामक भिन्न प्रमाण के रूप में उसे स्वीकार किया जाना चाहिए"[26] इसके प्रत्युत्तर में सिद्धान्तपक्ष का कहना है कि जब अभाव प्रमाण भिन्न रूप में माना ही नहीं जाता तो, अविसंवाद किसका माना जायेगा ? यदि केवलत्वरूप अभाव ज्ञान की विसंवादिता के कारण अभाव का ग्रहण किया जाता है तो वह प्रत्यक्ष से ही होगा ।

भावात्मक प्रतियोगी की बुद्धि के बिना पर-निरपेक्ष प्रतीति को केवल-ग्रह कहा जाता है । अतः केवलतारूप अभाव के प्रत्यक्ष ज्ञान में अविसंवादिता सम्भव है, इसलिए यह घटादि रूप अन्य पदार्थों का अनुपलम्भन प्रत्यक्ष ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं ।[27] इस प्रकार बौद्धों ने अनुपलब्धि को प्रमाण रूप में नहीं माना, क्योंकि अनुपलब्धि को यहाँ अनुमान का एक भेद माना गया है । अभाव का ग्रहण अनुपलब्धि से होता है, भूतल पर घट नहीं है क्योंकि भूतल में घट की अनुपलब्धि है । यदि घट होता तो मिलता । अनुपलब्ध होने से घट नहीं है । इस प्रकार यहाँ अनुपलब्धि-अनुमान से अभाव का ग्रहण माना जाता है, इसलिए अनुपलब्धि का अन्तर्भाव भी अनुमान में ही हो जाता है ।

इस प्रकार सिद्धान्ततः बौद्ध नैयायिक प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न किसी भी प्रमाण को स्वीकार नहीं करते । अन्य प्रमाणों का खण्डन और अन्तर्भाव तो मात्र पूर्वपक्ष के आक्षेपों का निराकरण करने के लिए ही किया गया है ।

---

[26] *प्र.वा.अलं.*, पृ. ११

[27] वही

5.2.वैशेषिक दर्शनानुसार प्रमाणान्तर्भाव-

वैशेषिक दर्शन में भी बौद्ध दर्शन के समान ही प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न कोई तीसरा प्रमाण स्वीकार्य नहीं है। यद्यपि वैशेषिक को न्याय का समानतन्त्र कहा जाता है, किन्तु अपने सिद्धान्तों की स्थापना के क्रम में यह दर्शन कुछ स्वतन्त्र विचार भी रखता है। यह देखा भी जाता है कि वैशेषिकों के समानतन्त्र नैयायिकगण तत्त्वों की व्याख्या प्रमाण-प्रमेयादि व्यवस्था का अवलम्बन करते हुए करते हैं, जबकि वैशेषिक दर्शन में प्रमाण की व्याख्या पदार्थ की एक कोटि मानकर ही की जाती है, क्योंकि पदार्थ-विवेचन इनका इष्ट है। इसी क्रम में प्रमाण-संख्या के विषय में भी वैशेषिकों की अपनी अलग व्यवस्था है, जिसके अनुसार वे प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण स्वीकार करते हैं। इन दोनों से भिन्न कोई ज्ञान नहीं, यदि है भी तो उसका अन्तर्भाव इन दो में ही किया जाता है। वैशेषिकों का यह प्रमाणान्तर्भाव निम्न प्रकार से है-

5.2.1.शब्दप्रमाण का अन्तर्भाव-

शब्द में अनुमानादि से स्वतन्त्र प्रामाण्य मानने वालों के मत में आप्तवाक्य को शब्द प्रमाण कहा जाता है, यह पहले कहा जा चुका, इसलिए पुनरुक्ति दोष से बचना चाहिए। वैशेषिक मत में शब्द को अनुमानादि से स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना जाता। उनके मत में वाक्यार्थ अनुमिति रूप माना जाता है अर्थात् जिस प्रकार अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति व्याप्ति बल से होती है, उसी प्रकार शब्द की प्रवृत्ति भी व्याप्ति के ही बल से होती है।

सर्वप्रथम इस विषय में सूत्रकार ने ही कहा है कि- **"हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम्"** अर्थात् अपदेश अथवा शब्द ही हेतु, लिङ्ग तथा प्रमाण पर्याय वाला लिङ्ग रूप से प्रमाण होता है।[28] इसी प्रकार प्रशस्तपाद ने भी शब्दादि प्रमाण को स्वतन्त्र न मानकर अनुमान के अन्तर्गत ही समाहित किया है क्योंकि शब्दादि प्रमाणों से भी उसी रीति से अर्थात् व्याप्ति के बल पर प्रमिति की उत्पत्ति होती है, जिस

[28] *वै.सू.*, ९.२.१

प्रकार अनुमान प्रमाण से प्रमिति की उत्पत्ति होती है, जैसे- किसी पुरुष को पूर्व में व्याप्ति गृहीत है उसी पुरुष को हेतु के निश्चय और व्याप्ति के स्मरण इन दोनों से अप्रत्यक्ष अर्थ की अनुमिति होती है । उसी प्रकार शब्दादि प्रमाणों से भी अतीन्द्रिय अर्थ का ज्ञान होता है ।[29]

न्यायकन्दलीकार ने शब्द और अनुमान को 'समानविधिक' कहा है अर्थात् अनुमान और शब्दादि की सभी प्रवृत्तियाँ समान हैं ।[30] इससे यह अभिप्रेत होता है कि जिस प्रकार व्याप्ति के बल से धूम वह्नि का ज्ञापक होता है, उसी प्रकार शब्द भी व्याप्ति के बल से ही अर्थ का ज्ञापक हेतु है । अतः धूम की तरह शब्द भी अनुमान रूप से ही प्रमाण है । शब्द तब तक अर्थ के बोध का उत्पादन नहीं कर सकता जब तक कि अर्थ के साथ उसका अव्यभिचार अर्थात् व्याप्ति गृहीत न हो जाये । ज्ञात अव्यभिचार व्याप्ति के द्वारा ही जब धूम की तरह शब्द भी अर्थ का ज्ञापक है, तो फिर धूम की तरह वह भी ज्ञापक लिङ्ग अर्थात् अनुमान ही होगा ।

इस प्रकार वैशेषिकों के अनुसार शब्द का अपने अर्थ के साथ अव्यभिचरित सम्बन्ध होता है । इस सन्दर्भ में शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण मानने वालों ने शब्द को अनुमान के समान मानने पर आपत्ति व्यक्त की है, कि अनुमान में तो साध्य रूप धर्म से युक्त धर्मी की प्रतीति होती है, किन्तु यदि शब्द से अर्थ का अनुमान होगा तो उसमें धर्मी रूप से किसका भान होगा? अर्थ तो धर्मी हो नहीं सकता क्योंकि वाक्य श्रवण के पूर्व तक तो वह अज्ञात ही रहेगा । और यदि शब्द को ही पक्ष मानें तो फिर प्रश्न उठता है कि साध्य कौन होगा? वाक्यार्थ को आप साध्य कह रहे हैं, वह सम्भव ही नहीं क्योंकि अनुमान स्थल में पक्ष के साथ साध्य का जिस प्रकार सम्बन्ध (संयोग-समवायादि) का निश्चय

---

[29] शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात् । यथा
प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्धलिङ्गदर्शनप्रसिद्ध्यनुस्मरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानमेवं शब्दादिभ्योऽपीति ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ५१२

[30] शब्दादीनामनुमानेऽन्तर्भावोऽनुमानाव्यतिरेकित्वम्, समानविधित्वात्, समानप्रवृत्तिप्रकारत्वात् ।- *न्या.क.*, पृ. ५१२

होता है, शब्द के साथ अर्थ का उस प्रकार के किसी सम्बन्ध का हो पाना सम्भव नहीं है, जिस सम्बन्ध के द्वारा अर्थ से युक्त शब्द रूप धर्मी का साधन किया जा सके।

शब्द और अर्थ में केवल प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव रूप सम्बन्ध ही होता है और वह भी शब्द से अर्थ प्रतीति के बाद ही ज्ञात होता है, इससे पहले नहीं।[31] तथा वह्नि और धूम की तरह शब्द और अर्थ में 'अविनाभाव' नामक व्याप्ति सम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि जिस देश या जिस काल में शब्द या अर्थ है, उस देश और उस काल में अर्थ या शब्द अवश्य रूप से नहीं रहता। क्योंकि कलिकाल में युधिष्ठिर रूप अर्थ की सत्ता न रहने पर भी युधिष्ठिर शब्द का प्रयोग होता है एवं लङ्का नगरी की सत्ता जम्बूद्वीप में वर्तमान काल में न रहने पर भी 'लङ्का' शब्द का प्रयोग होता है।

अतः यह मानना ही पड़ेगा कि शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण से भिन्न है, क्योंकि विशेष प्रकार के कई देशों में शब्द के साथ अर्थ का व्यभिचार देखा जाता है। इस प्रकार शब्द को अनुमान नहीं माना जा सकता क्योंकि धूम का वह्नि के साथ व्यभिचार कहीं नहीं देखा जाता, जबकि शब्द के साथ अर्थ का व्यभिचार रहता है, जैसे- एक ही 'चौर' शब्द का प्रयोग दाक्षिणात्य लोग 'भात' के अर्थ में करते हैं, किन्तु उसी 'चौर' शब्द का प्रयोग आर्य लोग 'तस्कर' (चोर) अर्थ में करते हैं। इसके अतिरिक्त शब्द के द्वारा अर्थबोध आप्तोक्तत्व निश्चय से होता है, अनुमान के समान पक्षसत्त्वादि की अपेक्षा वहाँ नहीं रहती। अतः शब्द अनुमान से भिन्न है क्योंकि दोनों का स्वरूप भिन्न है।[32]

उपर्युक्त आक्षेपों का निराकरण करते हुए न्यायकन्दलीकार ने शब्द को अनुमान में अन्तर्भावित करने के लिए आप्त-उक्तत्त्व को हेतु का विशेषण बनाकर अर्थानुमिति की

---

[31] अत्राहि कश्चित्- अनुमाने साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी प्रतीयते, शब्दादर्थानुमाने को धर्मी न तावदर्थः, तस्य तदानीमप्रतीयमानत्वात्। शब्दो धर्मीति चेत् ? किमस्य साध्यम् ? अर्थवत्त्वं चेत् ? न पर्वतादिरेव वह्न्यादिना शब्दस्यार्थेन सह संयोगसमवायादिलक्षणः कश्चित् सम्बन्धो निरुप्यते, येनायमर्थविशिष्टः साधनीयः। प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव एव हि तयोः सम्बन्धः, सोऽर्थप्रतीत्युत्तरकालीनो नार्थप्रतिपादनात् पूर्वं सम्भवति।- *न्या.क.*, पृ. ५१३

[32] वही

प्राप्ति को कहा है ।[33] इस युक्ति के आशय को कन्दलीकार श्रीधराचार्य के शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है- जैसे कि खरीद-बिक्री करने वाले दलालों में यह अव्यभिचरित नियम प्रचलित है कि अमुक-अमुक अङ्गुली से सम्बन्धित एक विशिष्ट-विशिष्ट संख्या को समझना । जैसे- तर्जनी अङ्गुली के प्रयोग द्वारा संकेत किया जाता है तो उसका आशय दस संख्या को समझना, अतः उक्त तर्जनी-विन्यास से तर्जनी को ऊपर उठाने वाले पुरुष के इस अभिप्राय का बोध होता है कि "तर्जनी को ऊपर उठाने से इस पुरुष को दस संख्या का बोध अभिप्रेत है" ।

इस रीति से इसके बाद तर्जनी के उक्त विन्यास से दस संख्या का अनुमान होता है । यही रीति शब्द से अर्थ के अनुमान के प्रसंग में भी समझनी चाहिए कि सुनने वाले व्यक्ति को वक्ता के द्वारा उच्चरित 'गो' शब्द से गो धर्म से युक्त जीव को बताने के लिए वक्ता में 'गो' शब्द के प्रयोग की इच्छा ज्ञात होती है, क्योंकि वक्ता जब 'गो' शब्द का उच्चारण करता है, उससे पूर्व उसे 'गो' धर्म से युक्त अर्थ की इच्छा का अपने में बोध होता है । इस आशय का अनुमान इस प्रकार होगा कि- जिस प्रकार मुझमें शब्द उच्चारण के पूर्व उस शब्द से सम्बन्धित अर्थ को बताने की इच्छा का बोध होता है उसी प्रकार उस अन्य व्यक्ति को भी तत्प्रकारक विवक्षा से युक्त समझना चाहिए, जिस प्रकार के अर्थ की विवक्षा से उस अर्थ के सम्पादक शब्द का वह प्रयोग कर रहा है क्योंकि उस शब्द के उच्चारण का वह कर्त्ता है ।[34]

यहाँ शंका हो सकती है कि विवक्षा से अर्थ की सिद्धि नहीं की जा सकती क्योंकि अनाप्त व्यक्ति जिसे अर्थ का ज्ञान नहीं है उसमें भी अर्थ की विवक्षा देखी जाती है । इसके अतिरिक्त स्वयं आप्तोच्चरित वाक्य का भी अपने अर्थ के साथ कहीं-कहीं व्यभिचार देखा जाता है । जबकि धूम और अग्नि के बीच व्यभिचार दर्शन नहीं होता, जिसके कारण धूम

[33] *न्या. क.*, पृ. ५१४-१५
[34] वही, पृ. ५१५

अग्नि के प्रति हेतु सिद्ध होता है और साध्य की प्राप्ति स्वाभाविक हो जाती है । किन्तु विवक्षा मात्र से आप्त उच्चरितत्त्व से वाक्यार्थानुमिति करना सम्भव नहीं ।[35]

उपर्युक्त शंका के समाधानरूप में श्रीधराचार्य का कहना है कि यदि जैसा आप कह रहे हैं वैसा है भी, तो भी शब्द को अलग प्रमाण मान लेने से ही अर्थ की सिद्धि नहीं मानी जा सकती । और आपने यह जो कहा है कि "शब्द यद्यपि अर्थ का ज्ञापक लिङ्ग है, किन्तु किसी विशेष प्रकार के देश में शब्द का भी अर्थ के साथ व्यभिचार उपलब्ध होता है जबकि धूम में वह्नि का व्यभिचार कहीं भी नहीं देखा जाता । अतः धूम से वह्नि का अनुमान होता है, किन्तु शब्द से अर्थ का अनुमान नहीं हो सकता" ।

इस प्रसंग में सिद्धान्तियों ने समाधान रूप में अपनी यह युक्ति दी है कि धूम संयोगरूप स्वाभाविक सम्बन्ध से वह्नि का ज्ञापक हेतु है, किन्तु शब्द में ऐसा नहीं होता । जिस प्रकार पुरुषकृत संकेत के द्वारा तर्जनी आदि के विशेष विन्यास रूप चेष्टा से दस संख्या का अनुमान होता है । उसी प्रकार शब्द भी पुरुष की बोधन इच्छा रूप संकेत के द्वारा ही अर्थबोध के लिए प्रवृत्त होता है । अतः पुरुष का संकेत जिन अर्थों में जिन शब्दों का रहता है उन्हीं अर्थों के वे शब्द विविक्षा के बोध द्वारा ज्ञापक लिङ्ग होते हैं । शब्दों से उसके आप्तोक्तत्व के कारण ही अर्थ का बोध होता है । अतः जिस प्रकार अविच्छिन्नमूला एवं ऊर्ध्वमुखी रेखा से युक्त धूम में वह्नि का अव्यभिचार सम्भव होता है, उसी प्रकार आप्त पुरुष के द्वारा उच्चरित शब्द में भी अर्थ का अव्यभिचार सम्भव है ।[36] इस प्रकार शब्द एक स्वतन्त्र प्रमाण न होकर अनुमान प्रमाण ही है ।

5.2.2.उपमान प्रमाण-खण्डन-

उपमान प्रमाण भी वैशेषिक की दृष्टि से अनुमान ही है, स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है ।

---

[35] *न्या.क.*, पृ. ५१५-१६

[36] वही, पृ. ५१६

सूत्रकार कणाद ने "**अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात्**"[37] से उपमान को अनुमान में अन्तर्भावित किया है अर्थात् 'इसका यह है' इस प्रकार ज्ञान की अपेक्षा रखने वाला उपमान भी अनुमान ही है ।

प्रशस्तपाद ने भी "**आप्तेनाप्रसिद्धस्य गवयस्य गवा गवयप्रतिपादनादुपमानमाप्तवचनमेव**"[38] के द्वारा उपमान को आप्त वचन के ही अन्तर्गत कहकर उसका भी अनुमान में ही अन्तर्भाव किया है, क्योंकि शब्द प्रमाण की चर्चा में यह स्पष्ट कर दिया गया कि वैशेषिक लोग आप्त वचन से जिस प्रकार अर्थ की प्रतीति मानते हैं वह अनुमान द्वारा ही प्राप्त किया जाता है । अतः उपमान को आप्त वचन के अन्तर्गत मान लेने पर वह स्वतः अनुमान प्रमाण सिद्ध हो जाता है ।

प्रशस्तपाद ने उपमान के जिस स्वरूप को अनुमान में अन्तर्भावित किया है, वह वस्तुतः न्यायदर्शनकृत ही है । किन्तु न्यायकन्दलीकार श्रीधराचार्य ने भाष्य की इस व्याख्या को लेकर नैयायिक और मीमांसक दोनों को पूर्वपक्ष में रखकर अलग-अलग रूप से उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव किया है । उपमान के विषय में नैयायिकों की मान्यता है कि उपमान प्रमाण द्वारा संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध का निश्चय किया जाता है । किन्तु मीमांसा दर्शन में उपमान प्रमाण की भिन्न कल्पना दिखाई देती है । प्रथमतः मीमांसाकों के द्वारा अभिमत उपमान के विषय में कहा जा रहा है-

आप्त व्यक्ति से उस पुरुषविशेष को जानना चाहिए जिसने विषयों को उसमें विद्यमान सभी धर्मों के साथ प्रत्यक्ष के द्वारा देखा है और उस यथार्थ ज्ञान से ज्ञात वस्तु का लोगों को ज्ञान कराने की इच्छा से वाक्य प्रयोग करता है । मीमांसकों ने उक्त आप्त पुरुष के वचन को ही उपमान प्रमाण माना है, उनका यह उपमान प्रमाण भी अनुमान में अन्तर्भूत होता है ।[39] क्योंकि मीमांसकों का जो अनुमान-स्वरूप है वह इस प्रकार है

---

[37] *वै.सू.*, ९.२.५

[38] *प्र.पा.भा.*, पृ. ५३०

[39] तेषामिदमनुमानमेव ।- *न्या.क.*, पृ. ५३१

कि- "जिस पुरुष ने गाय के शरीर को देखा है, वन में जाने पर वही जब गवय को देखता है तब उसे पहले देखे हुए गो का स्मरण हो आता है और स्मरण किये हुए उस गो में यह बुद्धि उत्पन्न होती है कि 'हमारी गाय इस गवय के समान है' । यह सादृश्यज्ञान ही उपमान प्रमाण है" । इस प्रकार का उपमान प्रमाण रूप ज्ञान अनुमान ही है और यदि अनुमान नहीं तो फिर स्मरण रूप ही होगा । क्योंकि गो और गवय दोनों में जो अनेक अवयवों की समानतायें हैं, वे ही दोनों में रहने के कारण सादृश्य कहलाती हैं । ये समानतायें यदि गो और गवय इन दोनों में से एकमात्र के ग्रहण से भी गृहीत होती हैं, तो सादृश्य का ग्रहण भी उसी से हो जाता है । अतः प्रमाता पुरुष से दूर में रहने वाले गोपिण्ड में जो गवय के सादृश्य की प्रतीति होती है, वह स्मरण रूप ही है । इस स्मरण रूप में इतना ही अन्तर है कि यह स्मरण उस संस्कार से उत्पन्न होता है, जिसका उद्बोधन गोसदृश गवय के दर्शन से होता है ।[40]

इसके बाद नैयायिकों के उपमान का कथन किया जाता है कि- जो प्रमाता पहले किसी आप्त पुरुष से 'गोसदृशो गवयः' इस अतिदेश वाक्य को सुनता है, बाद में वही जब गवय को देखता है तो उसे यह प्रतीति होती है कि 'इसी पिण्ड का नाम गवय है' । यह प्रतीति गवय शब्द रूप संज्ञा की गवय पिण्ड रूप संज्ञी में वाच्यवाचकरूप सम्बन्ध विषयक है । अतः यही उपमान है ।

श्रीधराचार्य ने इस विषय में कहा है कि नैयायिकों का यह उपमान भी अनुमान ही है, क्योंकि लोक में यह जो 'गवय' का नाम सुनते हैं वह गोसदृश वस्तु का ही बोधक है । क्योंकि इस प्रकार की बुद्धि 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वाक्य से उत्पन्न होती है एवं इससे गोसदृश पिण्ड में गवय शब्द के अभिधेय होने का जो ज्ञान होता है, वह उपमान

---

[40] *न्या. क.*, पृ. ५३१-३३

न होकर शब्द ही है । क्योंकि गोसदृश पिण्ड में ही गवय शब्द का प्रयोग होता है । अतः नैयायिक गण जिसे उपमान कहते हैं वह भी शब्द जनित होने से अनुमान ही है ।[41]

इस प्रकार नैयायिकों का संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध का बोधक उपमान प्रमाण और मीमांसकों का उपमित्यात्मक ज्ञानाकाररूप **'मदीया गौरनेन सदृशी'** उपमान, दोनों अनुमान ही हैं । इसलिए इन सभी उपपत्तियों से यह सिद्ध होता है कि उपमान नाम का कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, उसका अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जाता है ।

5.2.3.अर्थापत्ति-प्रमाण खण्डन-

शब्द एवं उपमान की भांति अर्थापत्ति भी वैशेषिक मत में अनुमान प्रमाण ही है । अर्थापत्ति प्रमाण के विषय में वैशेषिकों का मीमांसकों से ही विशेष संघर्ष रहा है, क्योंकि अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण मानने वालों में मीमांसकों का नाम सर्वप्रमुख है । अनुपपद्यमान अर्थ के दर्शन को अर्थापत्ति प्रमाण कहा जाता है अर्थात् अर्थापत्ति उस अर्थ की परिकल्पना है, जिससे देखी और सुनी गयी वस्तु का अन्यथा ग्रहण न हो ।[42]

प्रशस्तपाद ने अर्थापत्ति के भेद- दृष्टार्थापत्ति और श्रुर्थापत्ति का कथन करते हुए कहा है कि प्रमाणों के द्वारा ज्ञात अर्थ से अर्थों की जो अवगति रूप दृष्टार्थापति होती है वह विरोधि अथवा व्यतिरेकी अनुमान ही है तथा वाक्य के श्रवण से जो अर्थावगति रूप श्रुतार्थापत्ति होती है, वह भी अनुमितानुमान ही है ।[43] इस प्रकार प्रशस्तपाद ने दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति इन दोनों को अनुमान ही माना है ।

---

41 येऽपि श्रुतातिदेशवाक्यस्य गवयदर्शने गोसादृश्यप्रतीत्या 'अस्य गवयशब्दो नामधेयम्' इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतीतिमुपमानमिच्छन्ति, तेषामपि यथा गौर्गवयस्तथेति वाक्यं तज्जनिता च 'लोके यः खलु गवय इति श्रूयते स गोसदृशः' इति बद्धिरागम एव । यदपि गोसदृशस्य गवय- शब्दवाच्यत्वज्ञानं तदप्यनुमानम्, तत्र तच्छब्दप्रयोगात् । यः खलु शब्दो यत्राभियक्तैरविगानेन प्रयुज्यते स तस्य वाचकः । प्रयुज्यते चारण्यकेनाविगानेन गोसदृशे गवयशब्द इति । तस्मात् सोऽपि गवयशब्दवाच्य एवेति सामान्येन ज्ञानमनुमानमेव ।- *न्या.क.*, पृ. ५३३-५३४

42 अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यतेइत्यर्थकल्पना ।- *शा.दी.*, १.१.५

43 दर्शनार्थादर्थापत्तिर्विरोध्येव, श्रवणादनुमितानुमानम् ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ५३४

इसके बाद न्यायकन्दलीकार ने भाष्य की व्याख्या को लेकर मीमांसकों के अर्थापत्ति-कथन के द्वारा अनुमान में ही उसका अन्तर्भाव किया है-

मीमांसकों का कहना है कि दृष्ट या श्रुत अर्थ की उत्पत्ति जिस अर्थ के अभाव में न हो सके, उस अर्थ की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं । वस्तुतः अर्थापत्ति रूप अर्थ की कल्पना दो तथ्यों के बीच विरोधाभास को दूर करने के लिए की जाती है । यह दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति भेद से दो प्रकार का है-

जहाँ प्रकृत अर्थ अनुपपन्न होकर दूसरे अर्थ का ज्ञापक होता है, वहाँ दृष्टार्थापत्ति होता है, जैसे- 'जीवति चैत्रो गृहे नास्ति' (चैत्र जीते हैं किन्तु घर में नहीं रहते), इस स्थल में जीवित रहने के कारण चैत्र के घर में रहने की सम्भावना भी प्रतीत होती है क्योंकि जीवित व्यक्ति घर में भी देखे जाते हैं एवं अनुपलब्धि रूप अभाव प्रमाण से घर में चैत्र का अभाव भी निश्चित है, किन्तु एक ही समय चैत्र का घर में रहना और न रहना दोनों सम्भव नहीं है । क्योंकि एक ही वस्तु में एक ही समय सत्ता और असत्ता दोनों का रहना परस्पर विरोध के कारण सम्भव नहीं होता ।

अतः अभाव प्रमाण के द्वारा चैत्र के घर में न रहने विषयक जो प्रतीति होती है, वह तब तक उपपन्न नहीं हो सकती जब तक कि चैत्र का घर से बाहर रहना निश्चित न हो । जिसकी अनुपपत्ति होती है, वह ऐसी ही किसी वस्तु की कल्पना करता है जिससे उसकी उपपत्ति हो सके । 'जीवति' के साथ 'गृहे नास्ति' का विरोध रूप ही उसकी अनुपपत्ति है । और यह अनुपपत्ति तब हटती है जब चैत्र के इस प्रकार से बाहर रहने की प्रतीति होती है कि 'चैत्र घर में नहीं रहने पर बाहर है, क्योंकि वह जीवित है' । इस प्रकार एक सावकाश प्रमाण के साथ दूसरे निरवकाश प्रमाण का विरोध उपस्थित होने पर निरवकाश प्रमाण की अनुपपत्ति के प्रदर्शन द्वारा सावकाश प्रमाण को दूसरे प्रमाण का ज्ञापक मानकर उक्त दोनों प्रमाणों में अविरोध का सम्पादन ही अर्थापत्ति है ।[44]

---

[44] *न्या. क.*, पृ. ५३५

जहाँ शब्द अनुपपन्न होकर दूसरे शब्द की कल्पना करता है अर्थात् किसी वाक्य को सुनने से जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसके उपपादक अर्थ की कल्पना ही श्रुतार्थापत्ति कहलाती है, जैसे- 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य को सुनने से देवदत्त के रात्रिभोजन की कल्पना होती है क्योंकि दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त की स्थूलता रूप अर्थ उसके दिन में भोजन न करने से अनुपपद्यमान अर्थ है ।

अतः उसके उपपादक अर्थ की कल्पना उसके रात्रि भोजन से की जाएगी ।[45]

इस प्रकार अर्थापत्ति का कथन करके मीमांसकों ने उसे अनुमान से भिन्न सिद्ध करते हुए कहा हैं कि एक देश या एक काल में नियमित रूप से रहने वाले दो सम्बन्धियों में से एक को देखने से उनके व्याप्ति रूप सम्बन्ध की स्मृति के द्वारा जो दूसरे सम्बन्धी की प्रतीति होती है, वह अनुमान या अनुमिति है । इस प्रकार अनुमान, अर्थापत्ति से भिन्न है क्योंकि इन दोनों प्रमाणों से ज्ञान की उत्पत्ति की रीतियाँ भिन्न हैं । अनुमान प्रमाण अन्वय व्याप्ति के द्वारा अपने फल रूप ज्ञान का उत्पादन करता है, जबकि अर्थापत्ति प्रमाण व्यतिरेक व्याप्ति के द्वारा अपने ज्ञान को उत्पन्न करने वाला है, इसलिए वह अनुमान से भिन्न प्रमाण है ।[46]

न्यायकन्दलीकार ने 'दर्शनार्थापत्तिर्विरोध्येव' के द्वारा दृष्टार्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव करते हुए कहा है कि 'दर्शनार्थ' शब्द से अभिप्राय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि इन पाँच प्रमाणों में से किसी के द्वारा निश्चित अर्थ ही है । दर्शनार्थ अर्थात् कथित पाँच प्रमाणों में से किसी के द्वारा अवगत अर्थ से जो दूसरे अर्थ की 'आपत्ति' रूप अवगति होती है, वह विरोधी अनुमान ही है तथा हेतु भी विरोधी ही है । यह अर्थापत्ति रूप अनुमान जो विरोध के कारण अपने कार्य में प्रवृत्त होता है, इससे और अनुमानों से इसकी विचित्रता ही व्यक्त होती है, किन्तु इससे इसका अनुमान

---

[45] श्रुतार्थापत्तिरपि यत्रानुपपद्यमानः शब्दः शब्दान्तरं कल्पयति, यथा 'पीनो दिवा न भुङ्कते' इति वाक्याद् रात्रौ भुङ्कत इति वाक्यैकदेशकल्पना ।- *न्या.क.*, पृ. ५३६

[46] अन्वयाधीनजन्मत्वमनुमाने व्यवस्थितम् । अर्थापत्तिरियं त्वन्या व्यतिरेकप्रवर्तिनी ॥- वही

न होना निश्चित नहीं होता। इसको अनुमान के द्वारा इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'जीवन सम्बन्ध से मैं घर में न रहने पर बाहर अवश्य रहता हूँ' उसी प्रकार जीवन सम्बन्ध से युक्त चैत्र घर में अनुपलब्ध होने के कारण बाहर अवश्य है। अतः यह दृष्टार्थापत्ति नामक अर्थापत्ति भेद, विरोधी रूप से अनुमान ही है।[47]

'श्रवणादनुमितानुमानम्' से श्रुतार्थापत्ति का खण्डन करते हुए श्रीधराचार्य कहते हैं कि 'श्रवणात्' अर्थात् 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य को सुनने से देवदत्त के रात्रि भोजन की जो कल्पना होती है, वह भी अनुमितानुमान ही है अर्थात् 'पीनः' इस वाक्य रूप लिङ्ग अथवा हेतु से अनुमित पीनत्व (मोटाई) के द्वारा पीनत्व के कारणीभूत रात्रि भोजन का वहाँ भी अनुमान ही होता है।[48]

श्रवणादनुमानवादी वैशेषिकों का कहना है कि श्रुतार्थापत्ति की शंका उस स्थल में नहीं करनी चाहिए क्योंकि एक वाक्य के बिना दूसरे वाक्य की अनुपपत्ति होती ही नहीं है। जैसे- 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य की अनुपपत्ति नहीं होती। आशय यह है कि अपने अर्थ को यथार्थ रूप में न समझा पाना ही प्रमाणों की अनुपपत्ति है।[49] अर्थापत्तिवादियों के अनुसार 'दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य का अर्थ है दिन में अभोजन, और इस अर्थ का ज्ञापन उस वाक्य से होता ही है फिर उसमें अनुपपत्ति की शंका कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं होनी चाहिए।

वैशेषिकों का कहना है कि अर्थ की अनुपपत्ति ही उस अर्थ के वाचक वाक्य की अनुपपत्ति है और अर्थ की उपपत्ति ही उसकी उपपत्ति है, वाक्य स्वतन्त्र रूप से उपपन्न या अनुपपन्न नहीं होता। दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त में रहने वाली पीनता भी

---

[47]तत्र दृष्टार्थापत्तिं तावदनुमानेऽन्तर्भावयति- दर्शनार्थादर्थापत्तिर्विरोध्येवेति। दृश्यत इति दर्शनम्, दर्शनं च तदर्थश्चेति दर्शनार्थः, पञ्चभिः प्रमाणैरवगतोऽर्थः। तस्माद् दर्शनार्थादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थान्तरस्यावगतिर्विरोध्येव, विरोध्यनुमानमेव। यस्य यथा नियमस्तस्य तथैव लिङ्गत्वम्, इह तु प्रमाणान्तरविरुद्ध एवार्थोऽर्थान्तराविनाभूत इति विरोध्येव लिङ्गम्। *न्या.क.*, पृ. ५३६-३७

[48] श्रुतार्थापत्तिमन्तर्भावयति, श्रवणादनुमितानुमानमिति। 'पीनो दिवा न भुङ्कते' इति वाक्यश्रवणाद् रात्रिभोजनकल्पना 'अनुमितानुमानम्'। लिङ्गभूतेन वाक्येनानुमितात् पीनत्वात् तत्कारणस्य रात्रिभोजनस्यानुमानात्। वही, पृ. ५३७

[49]इदमत्राकूतम्- अर्थाप्रतिपादकत्वं प्रमाणस्यानुपपत्तिः।-वही, पृ. ५३८

भोजन से ही उत्पन्न हो सकती है, अतः प्रकृत में रात्रि भोजन रूप अर्थ से ही उसकी उपपत्ति होती है, 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य से नहीं । क्योंकि पीनत्व रूप अर्थ की अनुपपत्ति से ही रात्रि भोजन रूप अर्थ और उसका बोधक 'रात्रौ भुङ्क्ते' यह वाक्य- इन दोनों की उपपत्ति होती है, 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य से इसकी उपपत्ति नहीं होती । अतः इनके लिए 'रात्रिभोजन' रूप अर्थ की कल्पना ही आवश्यक है, 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य की कल्पना आवश्यक नहीं है । उपपन्न होने वाला अर्थ अपने व्याप्त दूसरे अर्थ से ही उपपन्न होता है । अतः इस नियम के अनुसार चूँकि दिन में भोजन न करने वाले देवदत्त की पीनता की व्याप्ति रात्रिभोजन रूप कार्य के साथ है । इसलिए दिन में न खाने वाले की पीनता रूप अर्थ की उपपत्ति रात्रिभोजन रूप अर्थ से ही होती है । अतः कोई भी अर्थापत्ति शब्द विषयक नहीं होने के कारण श्रुतार्थापत्ति नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती ।[50]

इसके प्रत्युत्तर में यदि श्रुतार्थापत्तिवादी यह कहें कि यह तो ठीक है कि एक अर्थ की उपपत्ति उससे नियत दूसरे अर्थ से ही होती है एवं अर्थ की उपपत्ति से ही तद्बोधक शब्द की भी उपपत्ति होती है, किन्तु शाब्दी आकांक्षा की पूर्ति किसी शब्द से ही होती है, जैसे- 'पचति' पद के उच्चारण के बाद जो क्रम के बिना पाक क्रिया की अनुपपत्ति होती है, उसकी निवृत्ति प्रत्यक्षतः पकते हुए चावल को देखकर भी नहीं होती अपितु 'पचति' यह शब्द सुनकर 'किम्' प्रकार की आकांक्षा उत्पन्न होती है, जिसकी प्रशान्ति 'कलायम्' 'शाकम्' इत्यादि प्रयोग के बाद ही होती है ।

इसी प्रकार 'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' यह वाक्य सुनकर 'कथं तर्हि पीनः' इस प्रकार की आकांक्षा तब तक शान्त नहीं हो सकती जब तक 'रात्रौ भुङ्क्ते' यह वाक्य न बोला जाये । इसलिए प्रकृत में अर्थापत्ति से रात्रिभोजन के बोधक 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य की कल्पना करनी होगी । ऐसा न करने पर 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य के

---

[50] उपपद्यमानश्चार्थोऽर्थेनैवावगम्यते, दिवा भोजनरहितस्य पीनत्वस्य रात्रिभोजनकार्यत्वाव्यभिचारादिति नास्त्यर्थापत्तिः शब्दगोचरा ।-*न्या.क.*, पृ. ५३८

द्वारा उपस्थित पदार्थों के साथ रात्रि भोजन रूप अर्थ का योग्यता के अभाव में अन्वय नहीं हो सकेगा ।[51]

इसका समाधान करते हुए न्यायकन्दलीकार ने कहा है कि जब प्रकृत श्रुतार्थापत्ति की विषयता केवल वाक्य के द्वारा उपस्थित अर्थ में नियत हो जाती है, तो फिर रात्रिभोजन रूप अर्थ अर्थापत्ति प्रमाण से ग्राह्य ही नहीं रहता । क्योंकि अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य रूप शब्द प्रमाण से ही उसकी अवगति हो जायेगी ।

इसलिए 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' इस वाक्य में क्रिया-कारक पद सभी पूर्ण हैं, अधूरे नहीं, जिससे कि आकांक्षा उठती और योग्यता का अभाव भी नहीं है । क्योंकि 'दिवा न भुङ्क्ते' के स्थान पर यदि कहा जाये कि 'कदापि न भुङ्क्ते' तब भोजन का त्रैकालिक निषेध होने पर योग्यता का अभाव कहा जायेगा, क्योंकि भोजन के बिना मोटापा कभी नहीं रह सकता । वैसा निषेध यहाँ नहीं है, किन्तु विशेष निषेध है । विशिष्ट कार्य पीनत्व को देखकर स्वतः ही रात्रिभोजन रूप कारण का अनुमान होता है, 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस वाक्य की कल्पना की आवश्यकता ही नहीं रहती । अतः 'दिवा न भुङ्क्ते' इस शब्द के श्रवण के बाद जो रात्रिभोजन रूप अर्थ का बोध होता है, वह अनुमितानुमान ही है ।[52]

5.2.4.अनुपलब्धि प्रमाण-खण्डन-

वैशेषिक आचार्यों ने अभाव को भावभिन्न एक पदार्थ के रूप में अवश्य स्वीकार किया है क्योंकि वैशेषिक के सप्तपदार्थवाद में अभाव भी एक पदार्थ है, किन्तु प्रमाण के रूप में वह स्वीकार्य नहीं है । मीमांसकादि कुछ दार्शनिकों ने किसी वस्तु के अभाव की प्रतीति

---

[51] *न्या.क.*, पृ. ५३९-५४०

[52](i) न चार्थयोः परस्परविरोध इति तयोः प्रतीतिरप्रतीतिर्भवति । तस्मादर्थप्रतीत्यैवोपपन्नः शब्दो न शब्दान्तरमपेक्षते, कर्तव्यतान्तराभावात् । अर्थ एव तु तेनाभिहितोऽर्थान्तरेण विनानुपपद्यमानः प्रतीत्यनुसारेण स्वोपपत्तये मृगयतीत्यव्याहतं शब्दश्रवणादनुमितानुमानमिति ।- वही, पृ. ५३९-५४२; (ii) *मा.मनो.*, पृ. ९८-९९

के लिए अभाव नामक स्वतन्त्र प्रमाण माना है एवं इस अभाव को भाव पदार्थों के ग्राहक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों की अनुत्पत्ति रूप कहा है ।

वैशेषिक दर्शन के पूर्व आचार्यों ने अभाव का अन्तर्भाव अनुमान में किया है । इसी क्रम में देखा जाये तो प्रशस्तपाद ने अभाव प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में करते हुए कहा है कि अभाव प्रमाण भी अनुमान ही है क्योंकि जिस प्रकार उत्पन्न कार्य अपने कारण की सत्ता का ज्ञापक हेतु है, उसी प्रकार अनुत्पन्न कार्य भी अपने कारण की असत्ता का ज्ञापक हेतु ही है ।[53] वैशेषिकसूत्र के भाष्यकार शङ्कर मिश्र भी अभाव अथवा अनुपलब्धि प्रमाण का अनुमान में ही अन्तर्भाव करते हैं ।[54]

जबकि परवर्ती आचार्यों, जैसे- मानमनोहरकार, भाषापरिच्छेदकार आदि ने अभाव का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण में किया है । जैसा कि आचार्य विश्वनाथ भाषापरिच्छेद में कहते हैं कि अभाव के ग्राहक रूप में अनुपलब्धि रूप प्रमाणान्तर के सिद्धान्त का औचित्य नहीं बनता क्योंकि 'घटाभाववद् भूतलम्' स्थल पर विशेषणता सन्निकर्ष से अभाव का प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है । अतः अभाव के ग्रहण में प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानना चाहिए ।[55] मानमनोहरकार वादिवागीश्वर ने भी कहा है कि अभाव प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है, क्योंकि वह भी घटादि भाव पदार्थों की भाँति प्रमेय है ।[56]

किन्तु न्यायकन्दलीकार ने अभाव की व्याख्या में प्रशस्तपाद का अनुसरण करते हुए उसे अनुमान में ही अन्तर्भावित किया है । अभाव का स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में खण्डन करते हुए कन्दलीकार ने कहा है कि ज्ञान की केवल अनुत्पत्ति से ही किसी वस्तु के अभाव का ज्ञान नहीं होता । यदि ऐसा हो तो फिर उन वस्तुओं के अभावों की भी प्रतीति की

---

[53] अभावोऽप्यनुमानमेव, यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्, एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम् ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ५४२-५४३

[54] अभावोऽपि न मानान्तरं कार्य्येण कारणानुमानवत् कार्य्याभावेन कारणाभावानुमानस्य व्याप्तिमूलकत्वेनानुमान एवान्तर्भावात् ।- *वै.सू.उप.भा.*, पृ. ५११

[55] अभावप्रत्यक्षस्यानुभविकत्वादनुपलम्भोऽपि न प्रमाणान्तरम् । किञ्चानुपलम्भस्याज्ञातस्य हेतुत्वे ज्ञानाऽकरणत्वाप्रत्यक्षत्वम् ।- *न्या.सि.मु.*, पृ. २३६

[56] अभावः प्रत्यक्षः, प्रमेयत्वाद, घटवत् ।- *मा.मनो.*, पृ. १००

आपत्ति होगी, जिन वस्तुओं में प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं है । अतः जो अभाव प्रमाण को मानने वाले हैं उनको भी यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान के सामान्य कारणों के रहने पर ज्ञात होने योग्य वस्तुओं के ज्ञान की अनुत्पत्ति ही उन वस्तुओं के अभाव का ज्ञापक 'अभाव' नामक प्रमाण है । इस प्रकार से कहने पर उपलब्धि के योग्य वस्तुओं की अनुपलब्धि और उपलब्धि के अयोग्य वस्तुओं की अनुपलब्धि, इन दोनों स्वरूपों में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिससे कि दोनों उपलब्धियों में भेद माना जाये क्योंकि इन दोनों में कोई विशेष धर्म नहीं है । अतः यह अभाव उस प्रकार केवल अपनी ही शक्ति से अपने ज्ञेय अभाव के ज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है, जिस प्रकार इन्द्रियाँ केवल अपनी ही शक्ति से प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करती हैं । [57]

अभावप्रमाणवादियों का कहना है कि अभाव का ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञानजनित स्मृति के द्वारा होता है, जैसे- किसी पुरुष को किसी देवालय को देखने के बाद किसी दूसरे स्थान में जाने पर कोई पूछता है कि 'वहाँ देवदत्त है या नहीं' ? उसी समय उस पुरुष की जिज्ञासा को समझकर 'देवालय में देवदत्त नहीं है' इस प्रतीति के द्वारा वह पुरुष 'नास्ति' का व्यवहार करता है । क्योंकि देवालय को देखने के समय ही उसे वहाँ देवदत्त के अभाव का निर्विकल्पक ज्ञान हो गया था, इसलिए वह उसी निर्विकल्पक ज्ञान जनित स्मृति के द्वारा देवदत्त के अभाव का व्यवहार करता है ।

कन्दलीकार ने उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए कहा है कि अभाव का निर्विकल्पक ज्ञान सम्भव नहीं है । घटादि पदार्थों का तो निर्विकल्पक ज्ञान इसलिए होता है कि उनके ज्ञान के लिए प्रतियोगी प्रभृति किन्हीं दूसरे पदार्थों की अपेक्षा नहीं होती है, किन्तु अभाव तो किसी भाव पदार्थ का प्रतिषेध रूप है । अतः उसको जानने के लिए उस भाव पदार्थ को भी जानना आवश्यक है, जिसका वह प्रतिषेध है, क्योंकि भाव के

---

[57] योऽप्यभावं प्रमाणमिच्छति, तस्यापि न ज्ञानानुत्पादमात्रात् प्रमेयाभावज्ञानम्, स्वरूपविप्रकृष्टस्यापि वस्तुनोऽभावप्रतीतिप्रसङ्गात् । किन्तु ज्ञानकारणेषु सत्सु ज्ञानयोग्यस्य वस्तुनो ज्ञानानुत्पादोऽभावावगमनिमित्तम् । न चायोग्यानुपलम्भाद् योग्यानुपलम्भस्य कश्चित् स्वरूपतो विशेषः, अभावस्य निरतिशयत्वात् । तेन नायं स्वशक्त्यैवेन्द्रियवद् बोधकः, किन्तु योग्यानुपलम्भो ज्ञेयाभावं न व्यभिचरति ।- *न्या.क.*, पृ. ५४३

प्रतिषेध को छोड़कर अभाव का कोई दूसरा स्वरूप ही नहीं है। इसलिए अभाव का ज्ञान प्रतियोगी रूप विशेषण से युक्त होकर ही होगा, जिसके कारण अभाव का निर्विकल्पक ज्ञान सम्भव नहीं है।

इसलिए अभाववादियों की अभाव प्रमाण के सम्बन्ध में निर्विकल्परूप संबन्धित युक्ति खण्डित होती है तथा उक्त उदाहरण से ही उसका अनुमान में अन्तर्भाव है- उस अभाव का ग्रहण अनुमान से होगा क्योंकि जिस प्रकार घट से असंयुक्त केवल भूतल के स्मरण की पूर्ण इच्छा रहने पर भी पहले से ज्ञात भूतल में घट का स्मरण नहीं होता है, वहाँ यह निश्चित है कि घट नहीं था। इससे यह सामान्य नियम उपपन्न होता है कि जिस एक वस्तु का स्मरण होने से तथा स्मरण की पूर्ण इच्छा रहने पर भी स्मृति के योग्य जिस दूसरी वस्तु का स्मरण नहीं होता, उस एक वस्तु में वह दूसरी वस्तु नहीं है।

उसी प्रकार देवालय का स्मरण होने पर देवदत्त के स्मरण की इच्छा रहने पर और देवदत्त में स्मृति की पूर्ण योग्यता रहने पर भी यदि उनकी स्मृति नहीं होती है तो यह अनुमान सुलभ हो जाता है कि 'उस समय देवालय में देवदत्त नहीं था'। इसी प्रकार वर्तमानकाल में जिस वस्तु की उपलब्धि है, उसके पूर्वकालिक अभाव की जो इस प्रकार की प्रतीति होती है कि 'यह पहले नहीं था' वह प्रतीति भी अनुमान ही है क्योंकि इस अभाव के प्रतियोगी का पूर्वकालिक अस्तित्व स्मृत होने पर भी अधिकरण में उसकी सत्ता की स्मृति न होने से ही उक्त अभाव की प्रतीति उत्पन्न होती है। इस प्रकार यह प्रतिषेध रूप अभाव स्वतन्त्र प्रमाण न होकर अनुमान में ही अन्तर्भूत है।[58]

5.2.5.सम्भव प्रमाण-खण्डन-

प्रशस्तपाद ने सम्भव नामक प्रमाण का खण्डन करते हुए कहा हैं कि सम्भव प्रमाण से भी व्याप्ति के द्वारा ही अर्थ का बोध होता है। अतः वह भी अनुमान ही है।[59]

---

[58] *न्या. क.*, पृ. ५४४-५२

[59] सम्भवोऽप्यविनाभावित्वादनुमानमेव।- *प्र. पा. भा.*, पृ. ५४२

न्यायकन्दलीकार ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'हजार में सौ के रहने की सम्भावना है' इस प्रकार के सम्भव नाम के स्वतन्त्र प्रमाण के द्वारा ही कुछ सम्प्रदाय सहस्र संख्या से सौ संख्या का ज्ञान मानते हैं । किन्तु इस सहस्र में सौ की व्याप्ति रूप सम्बन्ध है । इस व्याप्ति रूप सम्बन्ध के द्वारा ही उक्त ज्ञान होता है, अतः सहस्र संख्या से जो शत संख्या का ज्ञान होता है वह भी अनुमान ही है ।[60]

5.2.6.ऐतिह्य प्रमाण-खण्डन-

प्रशस्तपादभाष्य में कहा गया है कि **"तथैवैतिह्यमप्यवितथमाप्तोपदेश एवेति"** अर्थात् जिस प्रकार शब्दादि प्रमाण अनुमान में अन्तर्भूत हैं उसी प्रकार 'ऐतिह्य' भी सत्य अर्थ का बोधक एवं आप्त से उच्चरित शब्द प्रमाण होने के कारण अनुमान ही है ।[61]

न्यायकन्दलीकार ने कहा है कि 'ऐतिह्य' शब्द 'इति ह' इन दोनों निपातों से स्वार्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय से निष्पन्न होता है । ये दोनों निपात-परम्परा से प्राप्त उपदेश रूप अर्थ के बोधक हैं । तात्पर्य यह है कि जो 'ऐतिह्य' रूप वचन या उपदेश असत्य है, वह तो प्रमाण ही नहीं है । जो ऐतिह्य प्रमा ज्ञान का उत्पादक है, वह आप्त वचन को छोड़कर और कुछ भी नहीं है । तथा आप्तवचन का उपपादन अनुमान में किया जा चुका है, अतः ऐतिह्य भी अनुमान से भिन्न प्रमाण नहीं है अर्थात् अनुमान में ही अन्तर्भूत है ।[62]

5.2.7.सिद्धदर्शन प्रमाण-खण्डन-

प्रशस्तपाद ने आर्षज्ञान की सिद्धि के पश्चात् सिद्धदर्शन के प्रमाणान्तर होने का खण्डन किया है । इस सिद्धदर्शन नामक ज्ञान को प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों में

---

60 शतं सहस्रे सम्भवतीति सम्भवाख्यात् प्रमाणान्तरात् सहस्रेण शतज्ञानमिति केचित् । सहस्रं शतेनाविनाभूतम् तत्पूर्वकत्वात् । तेन सहस्राच्छतज्ञानमनुमानमेव ।- *न्या.क.*, पृ. ५४२

61 *प्र.पा.भा.*, पृ. ५५८

62 'इति ह' इति निपातसमुदाय एव । उपदेशपारम्पर्ये वर्तते, तत्रायं स्वार्थिकः ष्यञ्प्रत्ययः, ऐतिह्यमिति । वितथमैतिह्यं तावत् प्रमाणमेव न भवति । अवितथमाप्तोपदेश एव । आप्तोपदेशश्चानुमानम् । तस्मादवितथमैतिह्यमनुमानान्न व्यतिरिच्यत इत्यभिप्रायः ।- *न्या.क.*, पृ. ५५८

अन्तर्भावित करते हुए द्विविध कहा है- प्रथम ज्ञान वह है जो अस्मदादि से विलक्षण जनों को यत्नपूर्वक विशेष प्रकार के अञ्जन, पैर में विशेष प्रकार के लेप खड्ग, गुलिका आदि से विशेष दर्शन का सामर्थ्य रूप सिद्धि से युक्त पुरुषों को सूक्ष्म, व्यवहित एवं अत्यन्त दूर की वस्तुओं का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सिद्ध दर्शन रूप ज्ञान प्रत्यक्ष ही है । द्वितीय ज्ञान जो दिव्यलोक, अन्तरिक्षलोक तथा भूलोक में रहने वाले प्राणीयों को ग्रहों और नक्षत्रों की विशेष गति देखकर जो धर्म, अधर्म और उनके परिणामों का ज्ञान होता है, उसे भी यदि सिद्धदर्शन कहा जाये तो वह भी अनुमान ही है तथा यदि हेतु की अपेक्षा के बिना धर्मादि का ज्ञान कहा जाये तो वे यद्यपि अनुमान नहीं होंगे किन्तु फिर भी प्रत्यक्ष और आर्षज्ञान में ही अन्तर्भूत हो जायेंगे ।[63] सामान्यतः योगियों द्वारा गृहित ज्ञान से आर्षज्ञान भिन्न है । यद्यपि वह भी धर्मविशेष से प्रसूत ज्ञान है, किन्तु आर्षज्ञान में जिस प्रकार के धर्मविशेषजन्यता की बात की जाती है, वह अत्यन्त विशिष्ट व्यक्तियों में वर्तमान धर्मविशेष है न कि सामान्यजन की अपेक्षा से सिद्ध पुरुषादि में स्थित धर्मविशेष ।

न्यायकन्दलीकार ने भी भाष्यकार का ही अनुसरण करते हुए प्रत्यक्ष और अनुमान में सिद्धदर्शन नामक ज्ञान का अन्तर्भाव किया है तथा प्रमाणान्तर से खण्डन किया है ।[64]

निष्कर्ष- इस अध्याय में बौद्ध एवं वैशेषिक दोनों दर्शनों के अनुसार पर-मत का खण्डन करते हुए प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाण से भिन्न जितने भी प्रमाण हैं उनका निरास किया गया है तथा उनका अन्तर्भाव बौद्ध एवं वैशेषिक के द्वारा स्वीकृत दो प्रमाण- प्रत्यक्ष और अनुमान में ही किया है, क्योंकि दोनों दर्शनों को ये दो ही प्रमाण अभिमत हैं ।

---

[63] सिद्धदर्शनं न ज्ञानान्तरम्.....तदपि प्रत्यक्षार्षयोरन्यतरस्मिन्नन्तर्भूतम् ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ६२९-३०

[64] दृश्यानां दर्शनयोग्यानां स्वरूपवतां पदार्थानां द्रष्टारो ये ते'सिद्धाः' उच्यन्ते । तेषां दृश्यद्रष्टृणामञ्जनादिसिद्धानां सूक्ष्मेषु व्यवहितेषु विप्रकृष्टेषु यद् दर्शनमिन्द्रियाधीनानुभवस्तत् प्रत्यक्षमेव । अथ दिव्यान्तरिक्षभौमानां प्राणिनां ग्रहनक्षत्रसञ्चारनिमित्तं धर्माधर्मविपाकदर्शनं सिद्धज्ञानमिष्टं तदप्यनुमानमेव ग्रहसञ्चारादीनां लिङ्गत्वात् । अथ लिङ्गानपेक्षं धर्मादिषु दर्शनमिश्टं तत् प्रत्यक्षार्षयोरन्यतरस्मिन्नन्तर्भूतम् । यदि धर्मादिदर्शनमिन्द्रियजं तदा प्रत्यक्षम् । अथेन्द्रियानपेक्षं तदार्शमित्यर्थः ।- *न्या.क.*, पृ. ६२९-३१

अध्याय- 6

प्रमाणवार्त्तिक एवं न्यायकन्दली का तुलनात्मक अध्ययन

विगत अध्यायों में प्रतिपादित विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाणवार्त्तिक और न्यायकन्दली में प्रमाणविषयक जो चिन्तन किया गया है, वह विशद और गम्भीर है । प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य इन दोनों ग्रन्थों के आधार पर बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शनों की प्रमाण-मीमांसा की तुलना करना है । तुलनापरक प्रस्तुत अध्याय में समानता और विषमता दोनों तथ्यों पर विवेचन अपेक्षित है-

6.1.प्रमाणवार्त्तिक एवं न्यायकन्दली की ग्रन्थपरक तुलना-

दोनों ग्रन्थ दो भिन्न विचारधाराओं वाले दर्शनों का प्रतिनिधित्व करते हैं । भारतीय दर्शन-परम्परा में एक तरफ वैशेषिक वैदिक विचारधारा को मानने वाला आस्तिक दर्शन है, तो दूसरी तरफ बौद्धदर्शन अवैदिक विचारधारा में विश्वास रखने वाला नास्तिक दर्शन है । इस प्रकार दो अलग-अलग छोर के दर्शनों पर आधारित ग्रन्थों में भी तुल्यता का आंकलन करना एक दूरूह कार्य है ।

पौर्वापर्य की दृष्टि से प्रमाणवार्त्तिक, न्यायकन्दली से पूर्वकालिक है । प्रमाणवार्त्तिक सातवीं शताब्दी का ग्रन्थ है[1], जबकि न्यायकन्दली का समय स्वयं श्रीधराचार्य ने ही दसवीं शताब्दी बताया है ।[2] अतः न्यायकन्दली में तो प्रमाणवार्त्तिक के विषयों के खण्डन से संबन्धित चर्चा मिलती है किन्तु प्रमाणवार्त्तिक उससे पूर्व की रचना होने के

---

[1] श्चेरबात्सकी, *बौ.न्या.*, भाग- १, पृ. ३२२

[2] त्र्यधिकदशोत्तर नवशतशाकाब्दे न्यायकन्दली रचिता ।- *न्या.क.*, पृ. ७८८

कारण न्यायकन्दली के प्रति वाद-विवाद-परक विषयों से अछूता है, फिर भी इसमें न्यायकन्दली से पूर्व के वैशेषिक ग्रन्थों के साथ खण्डन-मण्डन विषयक चर्चा पर्याप्त रूप से हुई है।

विरोध भी वहीं दिखाई देता है, जहाँ किसी न किसी रूप से सहभाव भी रहा हो क्योंकि व्यावहारिक जीवन में भी जिसको न कभी देखा हो और न ही सुना हो, ऐसे व्यक्ति के प्रति न तो विरोध ही होता है और न ही सहयोग, वरन् उपेक्षा का भाव ही रहता है। अतः इन दोनों दर्शनों की विरोधी विचारधारा में भी कुछ समानताओं का संकेत प्राप्त होता है, तद्यथा-

दोनों ही ग्रन्थ विषय के विवेचन में स्वतन्त्र विचारधारा रखते हैं। प्रमाणवार्त्तिक में जिस प्रकार विषयों के विवेचन का एक निश्चित क्रम न होकर साङ्कर्य दृष्टिगत होता है, जैसे- प्रत्यक्ष-परिच्छेद में ही अनुमान का भी स्वरूप-विवेचन कर दिया गया। उसी प्रकार न्यायकन्दली में भी प्रशस्तपादभाष्य के आधार पर ही विषयों के विवेचन का एक निश्चित क्रम न होकर साङ्कर्य दिखाई देता है।

विषमता की दृष्टि से देखा जाये तो दोनों ग्रन्थों में सबसे बड़ा अन्तर तो यही है कि एक विज्ञानवादी है, जिसमें बाह्यार्थ की सत्ता ही नहीं है और दूसरा वस्तुवादी है, जिसका अस्तित्व ही बाह्यार्थ पर आश्रित है। प्रमाणवार्त्तिक बाह्यार्थशून्यवाद के समर्थक विज्ञानवादियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें विज्ञानवाद की स्थापना को दृढता प्राप्त हुई है। वहीं न्यायकन्दली का वैशेषिक दर्शन के पदार्थवाद सिद्धान्त की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

प्रमाणवार्त्तिक की रचना पूर्वपक्ष-खण्डन को ध्यान में रखते हुए पूर्णतः प्रमाण-विवेचन को आधार बनाकर ही की गयी है। किन्तु न्यायकन्दली में प्रमाणों की चर्चा पदार्थवाद की स्थापना के क्रम में प्रासंगिक रूप से प्राप्त होती है।

इस प्रकार यद्यपि प्रमाणवार्त्तिक एवं न्यायकन्दली दो भिन्न-काल और भिन्न विचारधारा पर आधारित ग्रन्थ हैं, किन्तु फिर भी इन दोनों में बहुत सी समानताएँ दिखाई देती हैं-

6.2.**प्रमाण-विषयक तुलना-**

जिस प्रकार प्रमाणवार्त्तिककार ने अविसंवादी ज्ञान तथा अज्ञातार्थप्रकाशकत्व को प्रमाण कहा है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ पर अतद्रूप मिथ्याज्ञान का निरास किया गया है अर्थात् विपर्ययादि से भिन्न यथार्थ ज्ञान प्रमाण की कोटि में रखा गया है। उसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में भी संशय, विपर्ययादि अविद्यापरक ज्ञानों का निरास करके विद्यापरक प्रत्यक्षादि को प्रमाण कहा है।

प्रमाण के विभाजन में दोनों दर्शनों में समानता है- प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो-दो प्रमाण ही दोनों दर्शनों के द्वारा स्वीकृत हैं। प्रमाणवार्त्तिक में प्रमेय द्वैविध्य के आधार पर प्रमाण द्वैविध्य का प्रतिपादन किया गया है अर्थात् समस्त निर्विकल्पक (प्रत्यक्ष) ज्ञानों का प्रत्यक्ष में और सकल सविकल्पक (परोक्ष) ज्ञानों का अनुमान में अन्तर्भाव किया गया है।[3] न्यायकन्दलीकार ने भी समस्त विषयों का ग्रहण प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों से ही कहा है क्योंकि इनसे भिन्न कोई प्रमाण नहीं है।[4] ज्ञान के विभाजन में जिस प्रकार बौद्धन्याय में सम्यक् ज्ञान और मिथ्याज्ञान ये दो प्रकार कहे हैं

---

[3] न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य सम्भवः।

तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥- *प्र.वा.*, २.६३

[4] प्रत्यक्षानुमान विषय एव भवतीति प्रत्यक्षानुमानव्यतिरेकेण प्रमाणान्तराभावात्।- *न्या.क.*, पृ. ४२४

तथा सम्यक् ज्ञान को प्रमा कहा है[5], उसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में भी विद्या और अविद्या के भेद से दो प्रकार का ज्ञान बताकर विद्या को प्रमा कहा है ।[6]

किन्तु प्रमाण के लक्षण में दोनों ग्रन्थों में अन्तर परिलक्षित होता है । प्रमाणवार्त्तिक में प्रमाण का लक्षण- "**प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्**" किया गया है, जबकि न्यायकन्दली में प्रमाण का स्पष्टतः कोई लक्षण न बताकर विद्या अथवा यथार्थ ज्ञान को ही प्रमाण कहकर उसका चतुर्विध विभाजन किया है ।[7]

इस प्रकार प्रमाण सामान्य के विवेचन में दोनों ग्रन्थों में कुछ विषमताओं के रहते हुए भी पर्याप्त समानताएँ परिलक्षित होती हैं ।

6.3.प्रत्यक्ष-विषयक तुलना-

प्रत्यक्ष के लक्षण में तो नहीं किन्तु ज्ञान की प्रक्रिया में कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है । जैसे धर्मकीर्ति ने कल्पना से रहित और अभ्रान्त ज्ञान को प्रमाण कहा है तथा प्रत्यक्ष में जो चाक्षुष प्रत्यक्ष है, उसके विषय में कहा है कि समस्त बाह्य विकल्पात्मक चिन्तन का परित्याग कर स्थिर चित्त के साथ चक्षु के द्वारा जो रूप का साक्षात्कार होता है, वह चाक्षुष प्रत्यक्ष है ।[8] इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण में इन्द्रिय की आश्रितता है । न्यायकन्दलीकार ने भी इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण कहा है ।[9]

प्रत्यक्ष के विभाजन में भी दोनों दर्शनों में कुछेक समानताएँ परिलक्षित होती हैं । जैसे प्रमाणवार्त्तिक में प्रत्यक्ष के चार भेद- इन्द्रिय, मानस, स्वसंवेदन और योगिप्रत्यक्ष किये

---

[5] अविसंवादकं ज्ञानं सम्यक् ज्ञानम् ।- *न्या.बि.टी.*, पृ. १०

[6] निःसन्दिग्धाबाधिताध्यवसायात्मिका प्रतीतिर्विद्या, तद्विपरीता चाविद्येति ।- *न्या.क.*, पृ. ४१४

[7] विद्यापि चतुर्विधेति ।- वही, पृ. ४४२

[8] संहृत्य सर्वतः चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना ।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः ॥- *प्र.वा.*, १.१२४

[9] अक्षमक्षं प्रतीत्य प्राप्य यदुत्पद्यते, तत् प्रत्यक्षं प्रमाणमिति ।- *न्या.क.*, पृ. ४४३

गये हैं । न्यायकन्दली में भी बाह्यप्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष में बाह्यप्रत्यक्ष को इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही माना है तथा अवान्तर भेदों में लौकिक प्रत्यक्ष के भेद से योगिप्रत्यक्ष का विधान भी किया गया है ।

किन्तु प्रमाणवार्त्तिककार ने जहाँ प्रत्यक्ष का चतुर्विध ही विभाजन कहा है, वही न्यायकन्दलीकार ने प्रत्यक्ष को लौकिक और अलौकिक के भेद से द्विविध कहकर उसके अवान्तर भेद किये हैं ।

6.3.1.निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष-विषयक तुलना-

प्रमाणवार्त्तिक में केवल निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष माना गया है, सविकल्पक को प्रत्यक्ष नहीं माना क्योंकि उसमें कल्पना की योजना रहती है । प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है तथा इस विषय में यह कहा गया है कि स्वलक्षण वस्तु में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति विकल्प से रहित ही होती है ।[10] स्वलक्षण का चक्षु के द्वारा प्रत्यक्ष हो जाने के पश्चात् वाचक शब्द की जो कल्पना होती है, उस कल्पना-काल में स्वलक्षण का नाश हो जाता है, इसलिए वह वाचक शब्द बुद्धिकल्पित अन्य व्यवच्छेदरूप अर्थ का वाचक होता है, प्रत्यक्ष के विषय स्वलक्षण का वह वाचक नहीं होता । "**कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्**" से भी बौद्ध दर्शन के द्वारा कल्पना से रहित निर्विकल्पक मात्र को प्रत्यक्ष स्वीकार किये जाने का बोध हो जाता है । किन्तु न्यायकन्दली में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के साथ ही सविकल्पक को भी प्रत्यक्ष कहा है-

"परं सविकल्पकं सामान्यविशेषरूपतां प्रत्येति पिण्डान्तरम् अनुसन्दधानस्य आत्मनोऽनुवृत्तिव्यावृत्ति धर्मौ प्रतिपद्यमानस्य इन्द्रियद्वारेण तथाभूतप्रतीत्युपपत्तेः"[11]

---

[10] स्वलक्षणे च प्रत्यक्षमविकल्पतया विना ।- *प्र.वा.*, २.७५

[11] *न्या.क.*, पृ. ४४८

अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान के बाद विशेषण-विशेष्य से युक्त ज्ञान होता है सविकल्पक प्रत्यक्ष कहा जाता है ।

6.3.2.प्रमाणवार्त्तिक का इन्द्रिय प्रत्यक्ष और न्यायकन्दली का बाह्यप्रत्यक्ष-

बौद्ध दर्शन में इस विषय में कहा है कि इन्द्रिय के आश्रित होने के कारण यह इन्द्रियप्रत्यक्ष कहलाता है ।[12] न्यायकन्दलीकार ने भी षड्विध इन्द्रियों के आधार पर छः प्रकार का प्रत्यक्ष बतलाया है । ये छः इन्द्रियाँ- घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र एवं मन हैं । इनमें पाँच बाह्य इन्द्रियों के द्वारा बाह्य प्रत्यक्ष होता है ।[13]

इस प्रकार इन्द्रियप्रत्यक्ष दोनों ही ग्रन्थों में स्वीकृत है, किन्तु दोनों के द्वारा ज्ञान की प्रक्रिया में अन्तर है ।

न्यायकन्दली में द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य का प्रत्यक्ष भी कहा है, जिसको लौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रखा गया है, किन्तु प्रमाणवार्त्तिक में बाह्यार्थ की शून्यता और विज्ञानमात्र की सत्ता होने के कारण जाति, गुण और क्रियादि विशेषणों को प्रत्यक्ष के द्वारा ग्राह्य नहीं माना ।[14] सामान्य का तो बौद्ध दर्शन में स्पष्टतः निरास किया गया है क्योंकि वह कल्पना पर आधारित है ।[15]

6.3.3.प्रमाणवार्त्तिक का मानस प्रत्यक्ष और न्यायकन्दली का मानस प्रत्यक्ष-

प्रमाणवार्त्तिक में मानस प्रत्यक्ष इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के ठीक पश्चात् उत्पन्न होने वाला ज्ञान है, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष मानस प्रत्यक्ष का कारण है अर्थात् पूर्वभावी इन्द्रियज्ञान उत्तरभावी

---

12 इन्द्रियस्य ज्ञानम् इन्द्रियज्ञानम् । इन्द्रियाश्रितं यत् तत्प्रत्यक्षम् ।- *न्या.बि.टी.*, पृ. ५५

13 *न्या.क.*, पृ. ४४३

14 तस्मात् जात्यादितद्योगा नार्थे तेषु च न श्रुतिः ।
संयुज्यतेऽन्यव्यावृत्तौ शब्दानामेव योजनात् ॥- *प्र.वा.*, २.१७३

15 विशेषणं विशेष्यश्च सम्बन्धं लौकिकी स्थितिम् ।
गृहीत्वा संकलय्यैतत् तथा प्रत्येति नान्यथा ॥- वही, २.१४५

मानस ज्ञान के लिए समनन्तर प्रत्यय का कार्य करता है । किन्तु उस मानस प्रत्यक्ष को इन्द्रियप्रत्यक्ष से भिन्न ज्ञान माना गया है क्योंकि क्षणभङ्गवाद में इन्द्रिय के द्वारा गृहीत ज्ञान द्वितीय क्षण में रहता ही नहीं है, इसलिए इन्द्रियप्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत ज्ञान का ज्ञापक न होकर मानसप्रत्यक्ष एक भिन्न ज्ञान है ।[16]

न्यायकन्दली में मानस प्रत्यक्ष मनस् अन्तरिन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होने के कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष ही कहा गया है, उसे इन्द्रियप्रत्यक्ष से भिन्न नहीं कहा जा सकता ।

इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में मानस प्रत्यक्ष को स्वीकार किया गया है, किन्तु फिर भी ज्ञान की प्रक्रिया में भिन्नता दिखाई देती है ।

6.3.4.प्रमाणवार्त्तिक का योगिप्रत्यक्ष एवं न्यायकन्दली का योगज प्रत्यक्ष-

प्रमाणवार्त्तिक में समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता से सम्पन्न होने वाले ज्ञान को योगि-प्रत्यक्ष कहा है । साथ ही वह कल्पना से रहित और अर्थक्रियासमर्थ स्वलक्षण को विषय बनाने वाला भी होना चाहिए तभी योगि-प्रत्यक्ष कहलाएगा ।[17] न्यायकन्दलीकार ने भी योगि-प्रत्यक्ष विवेचन में योग शब्द का अर्थ समाधि किया है तथा उसे दो भागों में बांटा है- सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात अर्थात् योगियों को विशेष प्रकार के अभ्यास से होने वाला ज्ञान योगि-प्रत्यक्ष है ।[18]

अतः यह कहा जा सकता है कि योगि-प्रत्यक्ष के विषय में दोनों ग्रन्थों में बहुत कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है अर्थात् समाधि में सिद्धस्थ विलक्षण जनों को ही दोनों ग्रन्थों के अनुसार योगि-प्रत्यक्ष का प्रमाता कहा है ।

---

16 क्षणिकत्वादतीतस्य दर्शनस्य न सम्भवः ।
वाच्यमक्षणिकत्वे स्याल्लक्षणं सविशेषणम् ॥- *प्र.वा.*, २.२४०

17 प्रागुक्तं योगिनां ज्ञानं तेषां तद्भावनामयम् ।
विधूतकल्पनाजालं स्पष्टमेवावभासते ॥- वही, २.२८१

18 *न्या.क.*, पृ. ४६७

6.3.5.प्रत्यक्ष का विषय-

प्रमाणवार्त्तिक के अनुसार प्रत्यक्ष का विषय दो प्रकार का है- ग्राह्य और अध्यवसेय । प्रत्यक्ष का ग्राह्यविषय स्वलक्षणमात्र है अर्थात् विज्ञानमात्र परमार्थसत् प्रत्यक्ष का ग्राह्यविषय है । जिस विषय के आकार वाला ज्ञान उत्पन्न होता है, वह ग्राह्यविषय है । अध्यवसेय या प्राप्य विषय वह है जिसका निश्चय या अध्यवसाय होता है ।[19] किन्तु न्यायकन्दलीकार ने द्रव्यादि अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव को प्रत्यक्ष का विषय कहा है ।[20] इस प्रकार प्रमाणवार्त्तिक में स्वलक्षणरूप क्षणिकतत्त्व प्रत्यक्ष का विषय है जबकि न्यायकन्दली के अनुसार बाह्य जगत् के पदार्थ प्रत्यक्ष के विषय हैं ।

6.3.6.प्रत्यक्ष-फल-

बौद्धन्याय में प्रमाण और प्रमा में अभेद स्वीकार किया गया है । अतः प्रत्यक्ष के विषय में भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रमाण और फल उभयविध रूप से प्रदर्शित है ।[21] विज्ञानवाद में बाह्यार्थ-प्रतीति भ्रान्तिमात्र कही गयी है, इसलिए अन्यार्थ का ग्रहण तो हो ही नहीं सकता, केवल स्वसंवेदन ही अवशिष्ट रहता है, वही प्रमारूप फल है । विज्ञान उत्पन्न होकर स्वरूप को ही अवभासित करता है, बाह्यार्थ को नहीं ।[22]

न्यायकन्दली में द्रव्यादि का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण का फल कहा गया है अर्थात् यहाँ पर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में निर्विकल्पक ज्ञान और सविकल्पक प्रत्यक्ष में सविकल्पक

---

[19] द्विविधो हि विषयः प्रमाणस्य-ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते, प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति ।- *न्या.बि.टी.*, पृ. १४९

[20] द्रव्यादयश्चत्वारः पदार्थाः प्रमेयाः प्रमितिविषयाः ।- *न्या.क.*, पृ. ४७२

[21] तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलम् । *न्या.बि.*, १.१८

[22] तदान्यसंविदोऽभावात् स्वसंवित् फलमिष्यते । *प्र.वा.*, २.३३२

ज्ञान को प्रत्यक्षप्रमा माना गया है ।[23] अतः प्रत्यक्ष के भेद के आधार पर दो प्रकार की प्रमा कही गयी हैं ।

इस प्रकार प्रमाणवार्त्तिक और न्यायकन्दली दोनों में ही प्रत्यक्ष ज्ञान को फल कहा गया है, किन्तु बौद्धदर्शन में बाह्यार्थशून्यता के कारण प्रत्यक्षप्रमा बाह्यार्थ-विषयक न होकर विज्ञानरूप स्वलक्षण है जबकि वैशेषिक में बाह्यार्थ की प्रधानता के कारण द्रव्यादि बाह्य विषयों का निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों रूपों में प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमा या फल है ।

6.3.7.प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में बौद्धन्याय के चार प्रत्यय और वैशेषिक के तीन कारण-

बौद्धन्याय में ज्ञान की उत्पत्ति में चार हेतु अथवा प्रत्यय माने जाते हैं- आलम्बनप्रत्यय, सहकारिप्रत्यय, अधिपतिप्रत्यय और समनन्तरप्रत्यय ।[24] जब नील का चाक्षुष ज्ञान होता है तब नील जो ज्ञान का विषय है, आलम्बन प्रत्यय कहलाता है । प्रकाश सहकारी प्रत्यय है क्योंकि प्रकाश होने पर ही चक्षु (नील) रूप को देख सकता है । अधिपति प्रत्यय नेत्रादि इन्द्रियाँ होती हैं क्योंकि ज्ञान की सम्पूर्ण प्रक्रिया में वे ही मुख्य भूमिका निभाती हैं । समनन्तर प्रत्यय ज्ञान का पूर्वभावी क्षण अर्थात् विषय ज्ञान से पूर्व का ज्ञान क्षण समनन्तर प्रत्यय कहलाता है क्योंकि इसी के कारण प्रमाता को वस्तुलक्षण का ज्ञान होता है । चारों प्रत्ययों के परस्पर समवधान से एक नया ज्ञान उत्पन्न होता है ।[25]

---

[23] *न्या.क.*, पृ. ४७१-७५

[24] ईदृशेनेन्द्रियविज्ञानेनालम्बनप्रत्ययभूतेनापि योगिज्ञानं जन्यते । तन्निरासार्थ समनन्तरप्रत्ययग्रहणं कृतम् । समश्चासौ ज्ञानत्वेन, अनन्तरश्चासौ अव्यवहितत्वेन, स चासौ प्रत्ययश्च हेतुत्वात् समनन्तरप्रत्यय, तेन जनितम् । तदनेनैकसन्तानान्तर्भूतयोरेवेन्द्रियज्ञान-मनोविज्ञानयोर् जन्यजनकभावे मनोविज्ञानं प्रत्यक्षमित्युक्तं भवति ।- *न्या.बि.टी.*, पृ. ५७-५८

[25] (क) *न्या.बि.टी.*, पृ. ११८; (ख) Shastri, D. N., *Critique of Indian Realism*, p. 451

न्यायकन्दली में प्रत्यक्ष की उत्पत्ति के तीन कारण बताये हैं- अनेकद्रव्यवत्त्व, रूप का प्रकाश और चतुष्टयसन्निकर्ष। प्रत्यक्ष के प्रति अनेकद्रव्यवत्त्व को इसलिए कारण मानते हैं क्योंकि अवयवों के न्यूनाधिक भाव से अवयवियों में स्फुटत्व रूप विशेष और अस्फुटत्व रूप अविशेष दोनों ही देखे जाते हैं। अनेकद्रव्यवत्त्व और महत्त्व के रहते हुए भी वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता है, इसलिए रूप प्रकाश को भी प्रत्यक्ष का कारण माना गया है।[26]

अतः जिस प्रकार बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष के प्रति प्रकाश, इन्द्रिय आदि को कारण माना गया है उसी प्रकार वैशेषिक में भी रूप, प्रकाश, इन्द्रियादि का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष के प्रति कारण हैं, इसलिए समानता परिलक्षित होती है।

6.3.8.प्रमाणवार्त्तिक में भ्रान्ति और न्यायकन्दली में संशय-विपर्यय-

धर्मकीर्ति ने अन्यथा प्रतिभास को भ्रान्ति कहा है।[27] यह भ्रान्ति विपर्यय ही है। भ्रान्ति से रहित अर्थात् अभ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। अभ्रान्त पद के ग्रहण से धर्मकीर्ति का अभिप्राय है कि जब तिमिर रोग के कारण दो चन्द्रमा दिखलाई देते हैं, तब बुद्धि से यह स्वीकार करते हुए भी कि चन्द्रमा एक है दो नहीं, तिमिर रोगी को दो ही चन्द्रमा दिखलाई देते हैं। यह भ्रान्ति इन्द्रिय-जन्य है। यह निर्विकल्पक ज्ञान है और इससे चन्द्रमा की प्राप्ति भी होती है, अतः यह अविसंवादक भी है। इसलिए यदि प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अभ्रान्त' पद को न रखा जाये तो इस मिथ्या ज्ञान में भी प्रत्यक्ष-लक्षण चला जायेगा।[28] इस प्रकार मिथ्याज्ञान भ्रान्ति है।

---

[26] अनेकद्रव्यवत्त्वं भूयोऽवयवाश्रितत्वम्। रूपस्य प्रकाश उद्भवसमाख्यातो रूपस्य धर्मः, यदभावाद् वारिस्थे तेजसि प्रत्यक्षाभावः चतुष्टयसन्निकर्षादात्मनो मनसा संयोगो मनस इन्द्रियेण इन्द्रियस्यार्थेनैतस्मात् कारणकलापाद्धर्मादिसामग्र्ये च सति धर्माधर्मदिक्कालादीनां समग्राणां भावे सति प्रत्यक्षं स्यात्।- *न्या.क.*, पृ. ४४५

[27] अन्यथा प्रतिभासो भ्रान्तत्वम्।- *प्र.वा.अलं.*, पृ. ५९३

[28] तस्मात् तस्याविकल्पेऽपि प्रामाण्यं प्रतिषिध्यते।
विसंवादात् तदर्थं च प्रत्यक्षाभं द्विधोदितम्॥- *प्र.वा.*, २.३००

उसी प्रकार से न्यायकन्दली में भी संशय और विपर्यय दोनों मिथ्या ज्ञान या भ्रान्त ज्ञान कहे गये हैं । संशय के विषय में कहा है कि दो विरुद्ध विषयों का विशेष प्रकार का ज्ञान संशय है तथा जिन दो वस्तुओं के असाधारण धर्म ज्ञात हैं, उन दोनों में से एक वस्तु में दूसरी वस्तु का मिथ्या ज्ञान ही विपर्यय है ।[29]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रमाणवार्त्तिक और न्यायकन्दली दोनों के अनुसार ही भ्रान्त अथवा विपर्यय का प्रत्यक्ष ज्ञान से निराकरण किया गया है, किन्तु दोनों के स्वरूप में अन्तर है । इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में विचार करने पर यह विदित होता है कि प्रमाणवार्त्तिक और न्यायकन्दली में प्रत्यक्ष को लेकर कुछ समानताएँ अवश्य दृष्टिगत होती हैं।

6.4.अनुमान-विषयक तुलना-

अनुमान के लक्षण में ही 'अनु' अर्थात् पश्चात् शब्द को लेकर दोनों दर्शनों में समानता के दर्शन होते हैं । किन्तु 'अनु' शब्द का संदर्भ दोनों के अनुसार भिन्न है । यह प्रमाण प्रत्यक्ष या आगम के पश्चात् प्रवृत्त होता है इसलिए इसका नाम 'अनुमान' है ।[30] किन्तु यह निर्वचनात्मक अर्थ न्याय-वैशेषिक आचार्यों के अनुसार है । बौद्ध आचार्यों का अनुमान निर्वचन प्रस्तुत निर्वचन से भिन्न है । धर्मोत्तर के अनुसार किसी प्रमाण (प्रत्यक्ष या आगम) के पश्चात् होने वाला ज्ञान अनुमान नहीं है, अपितु लिङ्ग (धूमादि) के ग्रहण तथा प्रतिबन्ध (अविनाभावी सम्बन्ध या व्याप्ति) के स्मरण के पश्चात् होने वाला ज्ञान अनुमान प्रमाण है[31] अर्थात् पक्ष धर्म (पर्वत पर धूमादि) का ग्रहण हो जाने पर तथा साध्य (अग्नि आदि) और साधन (धूमादि) के सम्बन्ध का स्मरण होने पर अनुमान की

---

29 *न्या.क.*, पृ. ४२१-२९

30 (क) प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम् । *न्या. भा.*, १.१.१
(ख) आदौ प्रत्यक्षस्य निर्देशः कारणत्वात्, तदनन्तरमनुमानस्य तत्पूर्वकत्वात् ।- *न्या.क.*, पृ. ४४२

31 लिङ्ग्रहणसम्बन्धस्मरणस्य पश्चात् मानम् अनुमानम् ।- *न्या. बि. टी.*, पृ.३०

प्रवृत्ति होती है, इसलिए इसे पश्चात् काल में होने वाला कहा जाता है किन्तु वैशेषिक में 'अनु' का अर्थ प्रत्यक्ष के पश्चात् होने वाला ज्ञान है ।

अनुमान के लक्षण में दोनों दर्शनों में भिन्नता है, किन्तु फिर भी दोनों के लक्षण में हेतु की उपयोगिता सर्वप्रथम है । प्रमाणवार्त्तिक में अनुमान का लक्षण किया है-

या च सम्बन्धिनो धर्माद् गतिर्धर्मिणि जायते ।

सानुमानं परोक्षाणामेकान्तेनैव साधनम् ।[32]

न्यायकन्दली में अनुमान का लक्षण मिलता है- "**लिङ्गस्य दर्शनाज्ज्ञानात् सम्यग् जायमानं लैङ्गिकमिति" ।**[33]

इस प्रकार लक्षण में भिन्नता होते हुए भी दोनों के अनुसार लिङ्ग रूप हेतु से साध्य की सिद्धि अनुमान प्रमाण है ।

6.4.1.द्विविध अनुमान-परार्थानुमान और स्वार्थानुमान-

प्रमाणवार्त्तिक और न्यायकन्दली दोनों ग्रन्थों में अनुमान का विभाजन- परार्थ और स्वार्थ के भेद से दो प्रकार का बताया गया है । दोनों के अनुसार ही स्वयं के लिए किया गया अनुमान स्वार्थानुमान है और हेतु आदि के कथन से दूसरे को अनुमान कराना परार्थानुमान है । यद्यपि न्यायकन्दली में परार्थानुमान और स्वार्थानुमान के भेद से अनुमान को द्विविध कहा गया है किन्तु यहाँ अनुमान का एक अन्य विभाजन भी प्राप्त होता है, जिसमें अनुमान के दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट नामक दो अन्य भेद किये गये हैं ।[34] इस प्रकार अनुमान के विभाजन में प्रमाणवार्त्तिक एवं न्यायकन्दली में समानता और विषमता दोनों दिखाई देती हैं ।

---

[32] *प्र.वा.*, २.६२

[33] *न्या.क.*, पृ. ४७७

[34] तदनुमानं द्विविधमेव दृष्टमेकमपरंसामान्यतोदृष्टम् ।- वही, पृ. ५०७

6.4.2.त्रिलक्षण हेतु-

प्रमाणवार्त्तिक और न्यायकन्दली दोनों में हेतु को त्रिलक्षण कहा गया है अर्थात् तीन लक्षणों से युक्त हेतु सद् हेतु कहलाता है । ये तीन लक्षण हैं- पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व । इनमें से एक रूप से भी रहित होने पर हेतु सद् हेतु नहीं रहता । प्रमाणवार्त्तिक में कहा गया है कि तीन रूपों से युक्त ही हेतु है, इनमें से एक से भी रहित होने पर वह हेतु न होकर हेत्त्वाभास हो जाता है ।[35] न्यायकन्दली में भी इसी प्रकार हेतु को त्रैरूप्यसम्पन्न कहा है ।[36] इस प्रकार हेतु की त्रिरूपता बौद्ध एवं वैशेषिक दोनों दर्शनों के द्वारा स्वीकार्य है ।

6.4.3.त्रिविध हेतु-

हेतु की त्रिरूपता के साथ ही वह हेतु तीन प्रकार का भी है- यह प्रमाणवार्त्तिक और न्यायकन्दली दोनों को अभिमत है । प्रमाणवार्त्तिक के अनुसार ये तीन भेद- कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि हैं ।[37] ये तीनों हेतु पक्षसत्त्वादि तीनों रूपों से सम्पन्न हैं । जबकि न्यायकन्दली में हेतु के तीन भेद हैं- अन्वयी, व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी ।[38]

इस प्रकार प्रमाणवार्त्तिक और न्यायकन्दली दोनों मे हेतु के भेदों में संख्या विषयक समानता प्राप्त होती है ।

---

35 हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निश्चयस्तेन वर्णितः ।- *प्र.वा.*, ३.१

36 अनुमेयेनार्थेन साध्यधर्मिणा सह यद्देशविशेषे कालविशेषे वा सहचरितं सम्बद्धम् अनुमेयधर्मान्विते चान्यत्र सपक्षे सर्वस्मिन्नेकदेशे वा प्रसिद्धं प्रमाणेन प्रतीतम्, अनुमेयविपरीते च साध्यव्यावृत्तिविषये चार्थे सर्वस्मिन् प्रमाणतोऽसदेव तदप्रसिद्धार्थस्य साध्यधर्मिणोऽप्रतीतस्यार्थस्य साध्यधर्मस्यानुमापकं लिङ्गं भवति ।- *न्या.क.*, पृ. ४८१

37 त्रिधैव त्रिप्रकार एव कार्य-स्वभाव-अनुपलम्भभेदेन स हेतुः । यथा- १. अग्निरत्र धूमात्; २. वृक्षव्यवहारयोग्योऽयं शिंशपात्वात्; ३. नेह प्रदेशे घट उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः । इति संख्यानियम उक्तः ।- *प्र.वा. मनो.वृ.*, ३.१

38 त्रिविधो हि हेतुः- अन्वयी, व्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी चेति ।- *न्या.क.*, पृ. ४८६

6.4.4.परार्थानुमान में द्वि-अवयव और पञ्चावयव-

प्रमाणवार्त्तिककार ने परार्थानुमान में हेतु और दृष्टान्त- ये दो ही अवयव स्वीकार किये हैं । धर्मकीर्ति ने त्रैरूप्यसम्पन्नहेतु से ही अर्थ की सिद्धि मानी है । पक्षवचन अर्थात् प्रतिज्ञा को तो उन्होनें अवयव माना ही नहीं, तथा दृष्टान्त का भी अलग से निर्देश नहीं किया । दृष्टान्त का पृथक् रूप से उल्लेख न करने में उनका मत है कि जो अव्युत्पन्न पुरुष है, जिसे व्यक्ति और पक्षधर्मता का निश्चय नहीं उसके लिए तो हेतु और दृष्टान्त दोनों अवयवों का प्रयोग आवश्यक होता है, किन्तु व्याप्ति आदि के विषय में विद्वान् पुरुष के लिए केवल हेतु का ही प्रयोग पर्याप्त होता है ।[39] इस प्रकार सामान्य रूप से हेतु और दृष्टान्त दो अवयवों का कथन परार्थानुमान है ।

किन्तु न्यायकन्दली में पञ्चावयव वाक्य से परार्थानुमान की प्रमाणता कही गयी है । ये पाँच अवयव- प्रतिज्ञा, अपदेश (हेतु), निदर्शन (उदाहरण), अनुसन्धान (उपनय) और प्रत्याम्नाय (निगमन) हैं[40] जो इस प्रकार हैं-

१.प्रतिज्ञा- साध्य से युक्त धर्मी (पक्ष) में हेतु के सम्बन्ध को दिखाने के लिए प्रयुक्त वाक्य ही प्रतिज्ञा है । अर्थात् अनुमान के लिए अभिप्रेत विषय का प्रतिपादक वह वाक्य ही 'प्रतिज्ञा' है जिसका अन्य किसी भी प्रमाण से विरोध न रहे[41] । जैसे- 'द्रव्यं वायुः' ।

२.अपदेश- हेतुबोधक वाक्य ही अपदेश है । जैसे- 'क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च' ।

३.निदर्शन- साध्यसामान्य के साथ वृत्तित्वरूप से ज्ञात हेतुसामान्य का पक्ष में संज्ञा का ज्ञापन वाक्य । जैसे- 'वायुः क्रियावानिति' ।

---

39 येषां पुनः प्रसिद्धावेव तद्भावहेतुभावौ तेषाम् । *न्या.प्र.सू.* पृ. १६०(टिप्पणी)

40 पञ्चावयवेनैव वाक्येन संशयितविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां परेषां स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानं विज्ञेयम् । *प्र.पा.भा.*, पृ.५६०

41 (क) तत्रानुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा ।- वही, पृ. ५६६; (ख) *न्या.क.*, पृ. ५६६

४.अनुसन्धान- व्याप्तिविशिष्ट हेतु का धर्मी में प्रतिपादक वाक्यांश, वैधर्म्य का अनुसंधान है। जैसे- 'न चायम्'।

५.प्रत्याम्नाय- प्रतिज्ञा वाक्य, अनिश्चित साध्य का निश्चित वचन। जैसे- 'तस्माद् द्रव्यमेवेति'।

इस प्रकार परार्थानुमान के अवयवों के विषय में यद्यपि पूर्णतः समानता नहीं कही जा सकती किन्तु फिर भी हेतु और उदाहरण अवयव दोनों के द्वारा समान रूप से कहे गये हैं।

6.4.5.त्रिविध हेत्वाभास-

बौद्ध और वैशेषिक दोनों दर्शनों के अनुसार दूषित हेतु हेत्वाभास है। धर्मकीर्ति ने कहा है कि त्रिरूपता से रहित हेतु सद् हेतु न होकर हेत्वाभास है।[42] न्यायबिन्दु में भी कहा है कि त्रिरूप लिङ्ग का कथन परार्थानुमान है और तीन रूपों में से एक रूप का भी कथन न करने पर हेत्वाभास हो जाता है।[43] यद्यपि प्रमाणवार्त्तिक में हेत्वाभासों की गणना-विषयक चर्चा नहीं मिलती किन्तु धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु में तीन हेत्वाभास- असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक कहे गये हैं।

न्यायकन्दली में भी तीन प्रकार के हेत्वाभास कहे गये हैं- असिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध। सन्दिग्ध हेतु का ही अपर नाम अनैकान्तिक है, प्रशस्तपाद के द्वारा कहे गये चतुर्थ हेत्वाभास अनध्यवसित का अन्तर्भाव श्रीधराचार्य ने अनैकान्तिक हेत्वाभास में ही किया है।[44]

इस प्रकार हेत्वाभासविषयक विवेचन में दोनों दर्शनों में समानता परिलक्षित होती है।

---

[42] हेत्वाभासास्ततोऽपरे।- *प्र.वा.*, ३.१

[43] त्रयाणां रूपाणाम् एकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभासः॥- *न्या.बि.*, ३.५५

[44] अनध्यवसित इत्यसाधारणो हेत्वाभासः कथ्यते।- *न्या.क.*, पृ. ५९३

6.4.6.व्याप्ति अथवा अविनाभाव-विचार-

धर्मकीर्ति के अनुसार अविनाभाव अथवा व्याप्ति दो सम्बन्धों पर आधारित है- तदुत्पत्ति और तादात्म्य। जिन दो वस्तुओं में कार्य-कारण भाव होता है, उनमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है। जैसे- धूम और वह्नि का सम्बन्ध। तादात्म्य सम्बन्ध के विषय में कहा गया है कि, जैसे- शिंशपात्व और वृक्षत्व का सम्बन्ध, क्योंकि शिंशपात्व और वृक्षत्व दोनों एक ही सामग्री के अधीन हैं अर्थात् उन दोनों में तज्जनक-जन्यत्व सम्बन्ध है। इस प्रकार तदुत्पत्ति कार्य है और तादात्म्य स्वभाव है।[45] इन दो सम्बन्धों को छोड़कर अन्य कोई सम्बन्ध या प्रमाण अविनाभाव का नियामक नहीं है।

न्यायकन्दलीकार ने धर्मकीर्ति द्वारा व्याप्ति में निर्दिष्ट तदुत्पत्ति और तादात्म्य नामक सम्बन्धों का खण्डन किया है तथा साहचर्य नियम को अविनाभाव अथवा व्याप्ति कहा है। जैसे- धूम सामान्य से वह्नि सामान्य का जो स्वाभाविक समानाधिकरण्य है, उसके निश्चय से ही 'यह धूम इससे (वह्नि से) नियत है' इस प्रकार से व्याप्ति रूप नियम का ज्ञान होता है। व्याप्ति के बिना हेतु में साध्य का हेतुत्व नहीं रह सकता।[46] श्रीधराचार्य के अनुसार हेतु में साध्य का तादात्म्य या हेतु का साध्य से उत्पन्न होना ही हेतु में साध्य की व्याप्ति का कारण नहीं हो सकता क्योंकि कृतिका नक्षत्र का उदय एवं रोहिणी नक्षत्र का अस्त इन दोनों में ज्ञाप्यज्ञापकभाव की प्रतीति होती है, किन्तु इन दोनों में से न किसी का तादात्म्य है और न किसी की उत्पत्ति ही किसी से होती है। अतः व्याप्ति की प्रतीति हेतु में साध्य की तदुत्पत्ति या तादात्म्य से नहीं हो सकती। इसलिए स्वभाव के

---

[45] स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य वस्तुतस्तादात्म्यात्साध्यार्थादुत्पत्तेश्च।- *न्या.बि.*, २.२१-२२

[46] धूमसामान्यस्याग्निसामान्येन स्वभावमात्राधीनं सहभावं निश्चित्य इदमनेन नियतमिति नियमं निश्चिनोति।- *न्या.क.*, पृ. ५००

द्वारा ही किसी भी वस्तु का किसी वस्तु के साथ जो सम्बन्ध स्थापित होता है, वही उपाधि से शून्य होने के कारण व्याप्ति कहलाता है ।[47]

इस प्रकार प्रमाणवार्त्तिक में तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध के आधार पर अविनाभाव या व्याप्ति का निश्चय होता है, जबकि न्यायकन्दली के अनुसार हेतु और साध्य का नियत साहचर्यनियम व्याप्ति है ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अनुमान के विषय में विषमताओं के होते हुए भी कतिपय सिद्धान्तों में बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन साम्य रखते हैं ।

6.5.प्रमाणान्तर्भाव-विषयक तुलना-

प्रत्येक दार्शनिक तन्त्र की प्रमाणमीमांसा में उसकी तत्त्वमीमांसीय प्रस्थापनाओं के संदर्भ निहित रहते हैं । यदि स्वीकृत प्रमाण उनकी तत्त्वमीमांसाविषयक अपेक्षा को पूरा नहीं करते हैं तो उनकी स्वरूपहानि होती है । इसलिए किसी भी प्रमाणमीमांसा के लिए उसके तात्त्विक अभ्युपगम में ही प्रमाणसंख्या का भी विचार उचित प्रतीत होता है ।

बौद्ध-न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त प्रमाणों का निरास उनकी प्रमाण विषयक उक्ति "**मानं द्विविधं मेयद्वैविध्यात्**" से ही परिलक्षित हो जाता है । वैशेषिकों ने यद्यपि इस प्रकार प्रमेय के आधार पर प्रमाणों का विधान नहीं किया किन्तु प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं दो प्रमाणों में किया है-

---

[47] किञ्च तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावेऽपि कृत्तिकोदयरोहिण्यस्तङ्गमनयोर्गम्यगमकभावः प्रतीयते । तस्मात् कार्यकारणभावाद् वा नियमः स्वभावाद् वेत्यनालोचिताभिधानम् । स्वभावेन हि कस्यचित् सह सम्बन्धो नियतो निरुपाधिकत्वात्, उपाधिकृतो हि सम्बन्धः तदपगमार्थं निवर्तते, न स्वभाविकः ।- *न्या.क.*, पृ. ४९८-९९

6.5.1.शब्दप्रमाण का अन्तर्भाव-

प्रमाणवार्त्तिक में शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में ही किया गया है क्योंकि उन्होनें शब्द को केवल अनादि संस्कारों के आधार पर होने वाली प्रतीति माना है । इसलिए जो अर्थ जिसकी बुद्धि में विद्यमान रहता है, शब्द उसी अर्थ का गमक होता है, वास्तविक अर्थतत्त्व का नहीं और जो बुद्धि में भासित होता है वह वस्तुतत्त्व नहीं होता ।[48] शान्तरक्षित ने भी शब्द का अन्तर्भाव अनुमान में यह कहते हुए किया है कि यदि कोई व्यक्ति दुराग्रह से शब्द को प्रमाण स्वीकार करता ही है तो उसका अन्तर्भाव अनुमान में ही किया जा सकता है क्योंकि वक्ता के वचन रूपी लिङ्ग के द्वारा उसकी विवक्षा का अनुमान किया जा सकता है ।[49]

इसी प्रकार न्यायकन्दली में भी शब्द को अनुमान में ही अन्तर्भावित किया गया है क्योंकि जिस प्रकार अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति व्याप्ति बल से होती है, उसी प्रकार शब्द की प्रवृत्ति भी व्याप्ति के ही बल से होती है । न्यायकन्दलीकार ने शब्द और अनुमान को 'समानविधिक' कहा है अर्थात् अनुमान और शब्दादि की सभी प्रवृत्तियाँ समान हैं ।[50] इससे यह अभिप्रेत होता है कि जिस प्रकार व्याप्ति के बल से धूम वह्नि का ज्ञापक होता है, उसी प्रकार शब्द भी व्याप्ति के बल से ही अर्थ का ज्ञापक हेतु है । अतः धूम की तरह शब्द भी अनुमान रूप से ही प्रमाण है । शब्द तब तक अर्थ के बोध का उत्पादन नहीं कर सकता जब तक कि अर्थ के साथ उसका अव्यभिचार अर्थात् व्याप्ति गृहित न हो जाये । इस प्रकार दोनों ग्रन्थों के अनुसार शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव कहा गया है, इसलिए दोनों की इस विषय में समतुल्यता स्पष्ट होती है ।

---

48 तस्माद् यो यस्य प्रतिभासते यथाप्रतिभं स वाक्यस्यार्थो न चेदमर्थतत्त्वम् । यश्च यथा व्याचष्टे तथा स शब्दो विगुणो च भवति न च तथार्थतत्त्वस्थितिः ।- *प्र.वा.अलं.*, पृ. १६

49 वचोभ्यो निखिलेभ्योऽपि विवक्षैषाऽनुमीयते । प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां तद्धेतुः सा हि निश्चिता॥- *तत्त्व.सं.*, का. १५१४

50 शब्दादीनामनुमानेऽन्तर्भावोऽनुमानाव्यतिरेकित्वम्, समानविधित्वात्, समानप्रवृत्तिप्रकारत्वात् ।- *न्या.क.*, पृ. ५१२

6.5.2.उपमान का अन्तर्भाव-

धर्मकीर्ति ने उपमान को अनुमान में अन्तर्भावित करते हुए कहा है कि 'गोसदृशोऽयं गवयः' इस प्रकार के वाक्य में प्रतीति मात्र के आधार पर सादृश्य पदार्थ को पृथक् नहीं माना जा सकता। सादृश्य रूप विषय के अभाव में 'सदृशोऽयम्' यह प्रतीति निरालम्बन है अर्थात् मरुमरीचिका में जल की प्रतीति मात्र से जल की जैसे पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती, वैसे ही 'अनेन सदृशमिदम्' इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर सादृश्य पदार्थ की पृथक सिद्धि नहीं की जा सकती। अतः उपमान प्रमाण की पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती**,** वह अनुमान ही है।

श्रीधराचार्य का मत भी उपमान को अनुमान से पृथक् प्रमाण न मानने में ही है। उनका मानना है कि उपमान अनुमान से भिन्न नहीं क्योंकि लोक में यह जो 'गवय' का नाम सुनते हैं वह गोसदृश वस्तु का ही बोधक है। इसका कारण है कि इस प्रकार की बुद्धि 'यथा गौस्तथा गवयः' इस वाक्य से उत्पन्न होती है एवं इससे गोसदृश पिण्ड में गवय शब्द के अभिधेय होने का जो ज्ञान होता है, वह उपमान न होकर शब्द ही है क्योंकि गोसदृश पिण्ड में ही गवय शब्द का प्रयोग होता है। अतः परमत में जिसे उपमान कहा जाता हैं वह भी शब्द जनित होने के कारण अनुमान ही है।[51] इसलिए इन सभी उपपत्तियों से यह सिद्ध होता है कि बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन के अनुसार उपमान नाम का कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, वह अनुमान में ही अन्तर्भूत है।

6.5.3.अर्थापत्ति का अन्तर्भाव-

बौद्धदर्शन में अर्थापत्ति को तदुत्पत्ति के नियम से अनुमान में अन्तर्भावित किया गया है क्योंकि अर्थापत्ति जन्य ज्ञान के दो पक्ष हैं- ज्ञात और अज्ञात। इन दोनों पक्षों के मध्य

---

[51] *न्या.क,* पृ. ५३३

तादात्म्य या तदुत्पत्ति सम्बन्ध से अर्थापत्ति पूर्वक होने वाली प्रतीति स्वभाव या कार्य हेतु से जन्य होने के कारण अनुमिति होगी, अतः यह अर्थापत्ति रूप प्रमाण अनुमान से भिन्न नहीं है, अपितु अनुमान में ही अन्तर्भूत है ।[52]

वैशेषिक दर्शन में भी अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव किया गया है । प्रशस्तपाद ने दृष्टार्थापत्ति और श्रुर्थापत्ति का कथन करते हुए कहा है कि प्रमाणों के द्वारा ज्ञात अर्थ से अर्थों की जो अवगति रूप दृष्टार्थापति होती है वह विरोधि अथवा व्यतिरेकी अनुमान ही है । तथा वाक्य के श्रवण से जो अर्थावगति रूप श्रुतार्थापत्ति होती है, वह भी अनुमितानुमान ही है ।[53] न्यायकन्दली के अनुसार भी यह दृष्टार्थापत्ति नामक अर्थापत्ति भेद, विरोधि रूप से अनुमान है[54] तथा श्रुतार्थापत्ति अनुमितानुमान है ।[55]

इस प्रकार दोनों दर्शनों के अनुसार अर्थापत्ति की अनुमान में अन्तर्भावविषयक समानता दिखाई देती है ।

6.5.4.अनुपलब्धि का अन्तर्भाव-

प्रमाणवार्त्तिककार ने अभाव रूप अनुपलब्धि का अनुमान में अन्तर्भाव त्रिविध हेतु के रूप में किया है अर्थात् वहाँ पर अनुपलब्धि नाम का हेतु भेद कहा गया है, इसलिए उसे अनुमान से भिन्न प्रमाण नहीं कहा जा सकता । अभाव से व्याप्त होकर अनुपलब्धि अभाव की अनुगामिका होने से अनुमान का प्रमाणान्तर ही है ।

वैशेषिक दर्शन में अभाव को पदार्थ के रूप में अवश्य स्वीकार किया गया है, किन्तु प्रमाण के रूप में अभाव की स्वीकार्यता नहीं है । अभाव प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान

---

[52] तस्मान्नार्थापत्तिः प्रमाणान्तरमिति ।- *रत्नकीर्ति निबंधावली,* पृ. १०४

[53] दर्शनार्थादर्थापत्तिर्विरोध्येव, श्रवणादनुमितानुमानम् ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ५३४

[54] *न्या.क.*, पृ. ५३६-३७

[55] वही, पृ. ५३९-४२

में करते हुए कहा है कि अभाव प्रमाण भी अनुमान ही है क्योंकि जिस प्रकार उत्पन्न कार्य अपने कारण की सत्ता का ज्ञापक हेतु है, उसी प्रकार अनुत्पन्न कार्य भी अपने कारण की असत्ता का ज्ञापक हेतु ही है ।[56] वैशेषिकसूत्र के भाष्यकार शङ्कर मिश्र भी अभाव अथवा अनुपलब्धि प्रमाण का अनुमान में ही अन्तर्भाव करते हैं ।[57]

इस प्रकार दोनों दर्शनों में अनुपलब्धि को अनुमान के समान ही ज्ञापक हेतु से संबन्धित होने के कारण अनुमान प्रमाण में अन्तर्भावित किया है । अतः अनुपलब्धि के विषय में दोनों समतुल्यता रखते हैं ।

यद्यपि अनुमान में शब्द, उपमान, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि के अन्तर्भाव में प्रमाणवार्त्तिक और न्यायकन्दली में समानता अवश्य दिखाई देती है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अन्तर्भाव की प्रक्रिया में पूर्णतः समानता हो, जैसे- प्रमाणवार्त्तिक में शब्द को इसलिए अनुमान में अन्तर्भावित किया गया है क्योंकि वह कल्पना पर आधारित ज्ञान है, वस्तुसत्ता वहाँ नहीं है, जबकि न्यायकन्दली में अनुमान और शब्द के व्याप्ति बल में प्रवृत्ति की समानता के कारण शब्द को अनुमान में अन्तर्भावित किया गया है ।

6.6.प्रमाण-व्यवस्था और प्रमाण-संप्लव-

प्रमाण-व्यवस्था और प्रमाण-संप्लव का विवाद मुख्य रूप से प्रमाण-विनियोग की अवधारणा से संबंधित है । प्रमाणों की संख्या एक से अधिक स्वीकार करने पर उनके विषय एवं क्षेत्र की विशिष्टता का निर्धारण करने के लिए प्रमाण-विनियोग की अवधारणा का निर्धारण आवश्यक हो जाता है ।

---

[56] अभावोऽप्यनुमानमेव, यथोत्पन्नं कार्यं कारणसद्भावे लिङ्गम्, एवमनुत्पन्नं कार्यं कारणासद्भावे लिङ्गम् ।- *प्र.पा.भा.*, पृ. ५४२-५४३

[57] अभावोऽपि न मानान्तरं कार्य्येण कारणानुमानवत् कार्य्याभावेन कारणाभावानुमानस्य व्याप्तिमूलकत्वेनानुमान एवान्तर्भावात् ।- *वै.सू.उप.भा.*, पृ. ५११

प्रमाणों की प्रमेयों में प्रवृत्ति के विषय में एक तरफ बौद्ध दर्शन की प्रमाण-व्यवस्था है, तो दूसरी तरफ वैशेषिक दर्शन में प्रमाण-संप्लव माना गया है । प्रमाण विषयक तुलना में इन दोनों दर्शनों में यह भी एक प्रमुख असमानता है जो इनको एक-दूसरे के विरोध में खड़ा करती है ।

बौद्ध नैयायिकों की प्रमाणमीमांसीय योजना में प्रमाणों की परस्पर प्रयुक्ति अनुपपन्न है अर्थात् इनके अनुसार कोई भी प्रमाण अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना दूसरे के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता । इनके मत में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक द्विविध प्रमेय और तदनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान नामक द्विविध प्रमाणों को स्वीकार किया गया है । प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण और अनुमान का विषय सामान्यलक्षण है । स्वलक्षण और सामान्यलक्षण क्रमशः परमार्थसत् और विकल्पसत् के रूप में एक दूसरे को व्यावृत्त करते हैं । स्वलक्षण वह सब कुछ है जो सामान्यलक्षण नहीं है और सामान्यलक्षण उन सबका निषेध है जो स्वरूपतः है । बौद्ध सम्मत प्रमाण-व्यवस्था का यही स्वरूप है । किन्तु बौद्ध नैयायिकों ने इसकी एक सूक्ष्म व्यवस्था भी प्रस्तुत की है, जिसके अनुसार वस्तुतः स्वलक्षण ही एकमात्र प्रमेय है अर्थात् एक ही परमार्थसत् स्वरूपेण स्वलक्षण और पररूपेण सामान्यलक्षण के रूप में अभिहित होता है ।[58] इसलिए बौद्धन्याय में प्रत्येक प्रमाण के ग्राह्य एवं अध्यवसेय नामक द्विविध विषयों की व्यवस्था की गयी है । क्षणिकवाद में जिसका ग्रहण होता है उसी का अध्यवसाय सम्भव नहीं है । निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में गृहित स्वलक्षण सर्वथा अनभिलाप्य होता है, विकल्पों के माध्यम से स्वलक्षण अभिलाप्य होने पर सामान्यलक्षण हो जाता है । इसीलिए प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय क्षणमात्र स्वलक्षण है, किन्तु उसका अध्यवसेय क्षण-सन्तान रूप सामान्यलक्षण होता है । इसी प्रकार अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण तथा

---

[58] तस्मादर्थक्रियासिद्धेः सदसत्ताविचारणात् ।
तस्य स्वपररूपाभ्यां गतेर्मेषद्वयं मतम् ॥- *प्र.वा.*, २.५८

अध्यवसेय स्वलक्षण ही माना गया है । इस प्रकार प्रमाणों के ग्राह्य एवं अध्यवसेय विषय की दृष्टि से प्रमाण-व्यवस्था की स्वीकृति बौद्ध नैयायिकों का विशेष अभिमत है ।

वस्तुतः बौद्धन्याय में समस्त निर्विकल्पक ज्ञानों का प्रत्यक्ष में और सविकल्पक ज्ञानों का अनुमिति में अन्तर्भाव हो जाता है । प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है जबकि अनुमान सामान्यलक्षण को अपना विषय बनाता है । स्वलक्षण परमार्थसत् है और सामान्यलक्षण को संवृत्तिसत् अथवा विकल्प की कोटि में रखा गया है । विकल्पात्मक धर्म-धर्मी सम्बन्ध की परिधि में सामान्यलक्षण को विषय करने वाला अनुमान अपने स्वरूप में पारमार्थिक दृष्टि से 'अयथा अभिनेवेशिनी भ्रान्ति' है तथापि अविसंवादी होने के कारण ही प्रमाण है ।[59]

दूसरी तरफ वैशेषिकों का प्रमाण-संप्लव है, जिसमें प्रमाण-व्यवस्था को अनुभव विरोधी एवं दोषपूर्ण दृष्टि माना है । इनके मत में प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा द्रव्यादि पदार्थों का ग्रहण होता है और ये सभी पदार्थ सामान्य रूप से सत् हैं तथा एक से अधिक प्रमाणों के द्वारा गम्य हैं । प्रत्यक्ष और अनुमान की परिधि भी परस्पर व्यावृत्तक नहीं है । यद्यपि वैशेषिकसूत्र या न्यायकन्दली आदि में इस विषय में चर्चा नहीं हुई है । यह शब्दावली सर्वप्रथम वात्स्यायन भाष्य में प्राप्त होती है जहाँ एक ही प्रमेय में एक से अधिक प्रमाणों की प्रवृत्ति को प्रमाण-संप्लव कहा है और उसे बौद्धेतर सम्प्रदायों के द्वारा अभिमत बताया है ।

निष्कर्ष-उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध दर्शन की प्रमाणवार्त्तिक और वैशेषिक दर्शन की न्यायकन्दली में पूर्णतः समानता तो नहीं कही जा सकती, किन्तु आंशिक समानता अवश्य प्राप्त होती है । प्रमाणों की संख्या और उनके विभाजन में किञ्चित् समानता के साथ ही असमानता भी परिलक्षित होती है ।

---

[59] तत्र पारमार्थिकप्रमाणलक्षणमेतत् । पूर्वं तु सांव्यवहारिकस्य ।- *प्र.वा.अलं.*, पृ. ७०

उपसंहार

दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में बौद्ध एवं वैशेषिक दर्शन की महती भूमिका रही है । एक ओर बौद्ध दर्शन अपने बाह्यार्थशून्य और विज्ञानमात्र की सत्ता के सिद्धान्त के लिए प्रसिद्ध है, तो वहीं दूसरी ओर वैशेषिक बाह्यार्थ की नित्यता के साथ ही प्रमेयशास्त्र के रूप में ख्यातिप्राप्त दर्शन है । दोनों दर्शनों के कालक्रम में नितान्त भिन्नता होते हुए भी कतिपय सिद्धान्तों में समानता का दर्शन होता है । इनकी इसी समानता के कारण शङ्कराचार्य ने वैशेषिकों को 'अर्द्धवैनाशिक' कहा है । पूर्णतः समानता न होने पर भी कुछ सिद्धान्तों की समानता के आधार पर ही प्रस्तुत शोध में शोधार्थिनी के द्वारा विचार किया गया है । वैसे भी पूर्ण समानता किन्ही भी दो दर्शनों में हो भी नहीं सकती क्योंकि उनकी सैद्धान्तिक भिन्नता ही उन्हें भिन्न दर्शन के रूप में उपस्थित करती है अन्यथा यदि सब एक ही हो जायेंगे तो दार्शनिक भिन्नता के लिए अवसर ही नहीं बचेगा ।

जैसा कि पूर्व के अध्यायों में प्रतिपादित किया जा चुका है कि शोधार्थिनी ने बौद्ध दर्शन की प्रमाणवार्त्तिक और वैशेषिक दर्शन की न्यायकन्दली- इन दो ग्रन्थों को आधार बनाकर दोनों दर्शनों के अनुसार प्रमाणों की चर्चा करते हुए तुलना की है । अतः सम्प्रति इस अन्तिम निष्कर्षपरक अध्याय में भी तदनुसार इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर अपने शोध की उपलब्धियों का सन्निवेश किया जा सकता है । पिछले अध्यायों के आधार पर शोधार्थिनी के द्वारा अनुसंधान किये गये पहलुओं को निम्न बिन्दुओं में कहा जा सकता है-

- प्रमाणवार्त्तिक में प्रमाणों की चर्चा प्रतिपक्षी के सिद्धान्तों के आक्षेपों का खण्डन और स्वमत की स्थापना के क्रम में हुई है । इसी प्रकार न्यायकन्दली में

प्रमाणविषयक चर्चा स्वसिद्धान्त अर्थात् पदार्थवाद की स्थापना के क्रम में प्रतिपक्षियों के आक्षेपों का निराकरण करते हुए हुई है ।

- प्रमाणवार्त्तिक में अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण कहते हुए उसे अज्ञातार्थ का ज्ञापक भी कहा है अर्थात् जो अपने-अपने विषय में अव्यभिचारी हो तथा अज्ञात अर्थ का प्रकाशक हो, वह ज्ञान प्रमाण है । इस प्रकार इस ज्ञान को यथार्थ ज्ञान ही कहा जायेगा । न्यायकन्दली में भी यथार्थ ज्ञान की कोटि में प्रमाण को रखा गया है, यहाँ स्पष्टतः प्रमाण का लक्षण नहीं मिलता किन्तु विद्या के अन्तर्गत प्रमाणों की गणना होने से ही उसे अपने अर्थ में अव्यभिचरित कहा जा सकता है ।
- प्रमाणवार्त्तिक में प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण कहे गये हैं । उसी प्रकार न्यायकन्दली में भी ये ही दो प्रमाण रूप से कहे गये हैं । इस प्रकार प्रमाणों की संख्या के विषय में दोनों दर्शन एक ही धरातल पर खड़े प्रतीत होते हैं ।
- प्रत्यक्ष के विषय में प्रमाणवार्त्तिककार ने केवल निर्विकल्पक को प्रत्यक्ष कहा है, सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं क्योंकि उसमें कल्पना की योजना रहती है और उस कल्पना का स्वरूप नाम, जाति आदि की योजना है । धर्मकीर्ति ने विज्ञानमात्र के ग्रहण को प्रत्यक्ष कहा है अर्थात् प्रत्यक्ष क्षणिक ज्ञान है । जबकि न्यायकन्दलीकार ने निर्विकल्पक के साथ ही सविकल्पक को भी प्रत्यक्ष कहा है और सविकल्पक ही वस्तुतः प्रत्यक्ष प्रमाण है ।
- प्रमाणवार्त्तिक में प्रत्यक्ष के चार भेद- (१) इन्द्रिय (२) मानस (३) स्वसंवेदन और (४) योगि-प्रत्यक्ष किये गये हैं । इनमें से विशुद्ध इन्द्रिय ज्ञान इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है । इन्द्रिय विषय के ठीक पश्चात् समनन्तर प्रत्यय रूप इन्द्रिय ज्ञान से उत्पन्न होने वाला मानस ज्ञान है किन्तु यह इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा गृहीतार्थ विषय का ग्राहक नहीं है अपितु उससे भिन्न विषय का ग्रहण करता है क्योंकि इन्द्रियैकार्थ द्वितीय क्षण में नहीं रहता । समस्त चित्त और चैतसिकों का आत्मसंवेदन स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है तथा समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता से सम्पन्न होने

वाला ज्ञान योगी प्रत्यक्ष है । इस प्रकार प्रमाणवार्त्तिक के अनुसार ये चारों भेद केवल बौद्धदर्शनाभिमत निर्विकल्पक के ही प्रकार हैं । किन्तु न्यायकन्दली में प्रत्यक्ष के कई अवान्तर भेद प्राप्त होते हैं, जैसे- बाह्य प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष । इसके अनन्तर बाह्य प्रत्यक्ष के- चाक्षुष, घ्राणज, रासन, श्रावण और स्पार्शन । ये सभी भेद इन्द्रियों के आधार पर किये गये हैं । इसके बाद लौकिक और अलौकिक भेद से प्रत्यक्ष कहा गया है । लौकिक प्रत्यक्ष- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव होता है तथा अलौकिक प्रत्यक्ष योगि-प्रत्यक्ष है । इसके पश्चात् द्रव्य का निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष के रूप में दो प्रकार से प्रत्यक्ष कहा गया है ।

- प्रमाणवार्त्तिक में प्रत्यक्ष के दो विषय बताये हैं- ग्राह्य और अध्यवसेय अथवा प्राप्य विषय । प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय वस्तु-प्रतिभास रूप स्वलक्षण है अर्थात् केवल स्वलक्षण का ही ग्रहण प्रत्यक्ष के द्वारा होता है, इससे भिन्न विषय का प्रत्यक्ष ग्राहक प्रमाण नहीं है । जो सत्तामात्र है तथा जिसमें ज्ञान और ज्ञेय रूप से भेद नहीं किया जा सकता, वही योगाचार की परमार्थ सत् वस्तु है । यह स्वलक्षण रूप प्रत्यक्ष का विषय नाम-जाति आदि की कल्पना से रहित है तथा प्राप्य या अध्यवसेय क्षण-सन्तान है जबकि न्यायकन्दली में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य व अभाव को प्रत्यक्ष का विषय कहा है ।
- प्रत्यक्ष के फल के विषय में बौद्धों का अपना अलग दृष्टिकोण है, यहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रमाण और फल दोनों है अर्थात् प्रमाण और उसके फल अथवा प्रमा में अभेद है । इसका कारण अर्थप्रतीति रूप को कहा है, अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थप्रतीति (बोध) रूप में प्रत्यक्ष का फल है और अर्थसारूप्य प्रमाण है । इस प्रकार प्रमाणवार्त्तिक के अनुसार ज्ञानगत विषय-सदृशता प्रमाण है और उस ज्ञान की विषय-प्रकाशता प्रमारूप है ।

- न्यायकन्दलीकार ने प्रत्यक्ष का विषय द्रव्यादि पदार्थों को कहा है, इसलिए द्रव्यादिविषयक विशिष्ट ज्ञान अथवा सविकल्पक ज्ञान ही फलरूप प्रमिति है । इस प्रकार द्रव्यादिविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रत्यक्ष-प्रमा है ।
- प्रमाणवार्त्तिक में प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में चार प्रत्यय (हेतु) अथवा कारण कहे गये हैं- (१) आलम्बनप्रत्यय (२) सहकारिप्रत्यय (३) अधिपतिप्रत्यय और (४) समनन्तरप्रत्यय । न्यायकन्दली में भी प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में तीन कारण कहे गये हैं- (१) अनेकद्रव्यवत्त्व अर्थात् अनेक द्रव्यों में आश्रित होना (२) रूप का प्रकाश अर्थात् रूप में रहने वाला उद्भूतत्व नामक एक विशेष प्रकार का धर्म तथा (३) चतुष्टयसन्निकर्ष- आत्मा+मन+इन्द्रिय+अर्थ ।
- प्रत्यक्ष के समान आभासित होने वाले दुष्ट ज्ञान को प्रमाणवार्त्तिककार ने प्रत्यक्षाभास की संज्ञा दी है । यह निश्चयात्मक ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान के ठीक बाद की अवस्था है, जिसमें मानसिक कल्पना के रहने के कारण प्रत्यक्षाभास कहा गया है । इस प्रकार जो वस्तुतः प्रत्यक्ष न हो किन्तु प्रत्यक्ष के समान प्रतीत हो वह प्रत्यक्षाभास है ।
- न्यायकन्दलीकार के द्वारा कथित संशय और विपर्यय रूप मिथ्याज्ञान भी प्रत्यक्षाभास ही कहे जा सकते हैं क्योंकि वहाँ भी वस्तु का इन्द्रिय के द्वारा दर्शन तो अवश्य होता है, किन्तु वस्तु स्वभाव से विपरीत ज्ञान होता है । इसलिए प्रत्यक्ष न होकर प्रत्यक्ष के समान आभास वाला मिथ्याज्ञान है ।
- न्यायकन्दलीकार ने प्रमाता के रूप में आत्मा को कहा है, क्योंकि आत्मा ही प्रमा ज्ञान का आश्रय है । किन्तु प्रमाणवार्त्तिक में प्रमाण, प्रमा और प्रमाताविषयक अभेद के होने से प्रमाता के रूप में किसी ज्ञाता पुरुष का वर्णन प्राप्त नहीं होता तथा आत्मा को तो प्रमाता कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि वह तो बौद्ध मत में मान्य ही नहीं है ।
- अनुमानविषयक चर्चा में 'अनु' शब्द को लेकर बौद्धों का कुछ अलग दृष्टिकोण परिलक्षित होता है । बौद्ध प्रत्यक्ष के पश्चाद्वर्ती ज्ञान होने से अनुमान को

अनुमान नहीं कहते अपितु धूमादि लिङ्ग के ग्रहण तथा व्याप्ति-स्मरण के पश्चात् होने वाला ज्ञान अनुमान है अर्थात् पक्ष धर्म का ग्रहण हो जाने पर साध्य और साधन के अविनाभाव सम्बन्ध रूप व्याप्ति का स्मरण होने के पश्चात् अनुमान की प्रवृत्ति होती है । इसलिए इसे पश्चात् काल में होने वाला कहा जाता है, न कि प्रत्यक्ष के पश्चात् होने के कारण । जबकि न्यायकन्दली में 'अनु' का अर्थ प्रत्यक्ष के पश्चात् होने वाला ज्ञान किया है अर्थात् प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमान है ।

- प्रमाणवार्त्तिक में अनुमान का लक्षण किया है- किसी सम्बन्धी के धर्म से धर्मी के विषय में जो परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे अनुमान कहा जाता है । जब दो वस्तुओं में उपाधिरहित अर्थात् व्याप्तियुक्त सम्बन्ध का ज्ञान होता है तब उनमें से एक वस्तु की उपस्थिति से अनुमाता को दूसरे का अनुमान होता है । इस प्रकार परोक्ष अर्थ का गमक ज्ञान अनुमान है । धर्मकीर्ति ने अनुमान तथा अनुमेय अर्थ की व्यवस्था के विषय में कहा है कि यह बुद्धिकल्पित भेद का आश्रय लेकर की जाती है । यहाँ अनुमान को अभिप्रेतार्थ में अविसंवादी होने के कारण प्रमाण कहा है, वह वस्तुतत्त्व को विषय नहीं करता इसलिए भ्रान्त ज्ञान है । न्यायकन्दलीकार ने लिङ्ग दर्शन से उत्पन्न सम्यक् ज्ञान को अनुमान कहा है । अर्थात् धूमादि लिङ्ग दर्शन से अग्न्यादि का सम्यक् ज्ञान अनुमान है, वह भ्रान्तज्ञान नहीं है । इस प्रकार न्यायकन्दली में अनुमान वस्तुसत् रूप से प्रमाण कहा गया है, व्यवहार मात्र से नहीं ।
- प्रमाणवार्त्तिककार ने लिङ्ग शब्द का अर्थ गमक या निश्चायक किया है अर्थात् जिसके द्वारा परोक्ष अर्थ का ज्ञान होता है वह लिङ्ग या हेतु कहलाता है । न्यायकन्दली में लिङ्ग उसे कहा है, जो साध्य के साथ काल विशेष में एवं देश विशेष में सम्बद्ध रहे, अनुमेय रूप धर्म के किसी निश्चित अधिकरण में या सभी अधिकरणों में जिसकी सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध रहे एवं साध्य के अभाव

के निर्णीत अधिकरण में जिसकी असत्ता भी प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा निश्चित हो, वही वस्तु पूर्व में अज्ञात साध्य की अनुमिति का लिङ्ग है।

- प्रमाणवार्त्तिक में सद् हेतु अथवा लिङ्ग को त्रिलक्षण कहा है अर्थात् तीन लक्षणों से युक्त हेतु अनुमान प्रमाण में साधन होता है- (१) पक्षसत्त्व (पक्ष अर्थात् अनुमेय में लिङ्ग का अवश्य होना), (२) सपक्षसत्त्व (लिङ्ग का सपक्ष में भी अवश्य रहना) तथा (३) विपक्षासत्त्व (लिङ्ग का विपक्ष में कभी भी नहीं रहना)। न्यायकन्दलीकार ने भी त्रिरूप से युक्त हेतु को ही सद् हेतु कहा है अर्थात् जो- (१) पक्षवृत्तित्व, (२) सपक्षवृत्तित्व और (३) विपक्षावृत्तित्व इन तीनों लक्षणों से युक्त होकर साध्य का ज्ञापक है।
- न्यायकन्दलीकार ने उस सद् हेतु के तीन भेद कहें हैं- (१) केवलान्वयी (जो पक्ष और सपक्ष दोनों में ही रहे), (२) केवलव्यतिरेकी (जो पक्ष में रहे और विपक्ष में न रहे) तथा (३) अन्वयव्यतिरेकी (जो हेतु पक्ष में रहे, सपक्ष में रहे तथा विपक्ष में न रहे)। इस प्रकार वह त्रिरूप हेतु तीन प्रकार का है। प्रमाणवात्तिक में भी हेतु के तीन भेद कहें हैं- (१) स्वभाव, (२) कार्य और (३) अनुपलब्धि। इनमें से स्वसत्तामात्रभावी साध्यधर्म में जो हेतु है, वह स्वभाव-हेतु है। जैसे- 'यह वृक्ष है, क्योंकि यह शीशम है' इस वाक्य में शिंशपात्व वृक्ष का स्वभाव-हेतु है। कार्य-हेतु, जैसे- 'यहाँ पर अग्नि है, क्योंकि यहाँ धूम है'। धूम अग्नि का कार्य है, इसलिए वह कार्य-हेतु है। अनुपलब्धि का स्वरूप है- 'किसी विशेष स्थान में घट नहीं है, क्योंकि घट के उपलब्धिलक्षण प्राप्त होने पर भी उसकी वहाँ अनुपलब्धि है'। इस प्रकार हेतु के तीन प्रकार कहे हैं तथा इनको तीन ही मानने में कारण है कि साध्याविनाभाव रूप व्याप्ति स्वभाव, कार्य, अनुपलब्धि हेतु में ही रहती है, इसलिए हेतु के तीन ही प्रकार है। इन स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि हेतुओं में से दो हेतु- स्वभाव और कार्य वस्तु की विधि को बतलाते हैं तथा अन्तिम हेतु अनुपलब्धि प्रतिषेध को बतलाता है।

- अनुमान की चर्चा में पक्ष, सपक्ष और विपक्ष भी महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। धर्म अर्थात् साध्य से युक्त धर्मी पक्ष कहा जाता है, जैसे- अग्नि से युक्त पर्वत पक्ष है। पक्ष के ही समान किसी अन्य स्थान में साध्य का होना सपक्ष कहा जाता है, जैसे- पर्वत के समान अग्नि से युक्त रसोईघर तथा साध्य का अभाव जहाँ पाया जाता है, वह विपक्ष है, जैसे- अग्नि के अभाव से युक्त आह्लाद। प्रमाणवार्त्तिक में पक्ष का निरास किया गया है क्योंकि उनके अनुसार अर्थ की अवगति (समझ) अर्थ से होती है। पक्ष और हेतु का अभिधान करने से साध्य का बोध नहीं होता। पक्ष का कथन करने से केवल पक्ष का बोध होगा, न कि साध्य का। इस प्रकार धर्मकीर्ति के अनुसार पक्ष और हेतु दोनों साध्य के साक्षात् प्रतिपादक नहीं हैं किन्तु न्यायकन्दली में साध्य की प्राप्ति में सभी महत्त्वपूर्ण हैं।
- अविनाभाव रूप व्याप्ति का स्मरण भी अनुमेय की प्रतीति का सहकारिकारण है। धर्मकीर्ति ने साध्य और साधन की व्याप्ति को अन्तर्व्याप्ति कहा है तथा अविनाभाव रूप व्याप्ति के सम्बन्ध को दो प्रकार का बताया है- तदुत्पत्ति और तादात्म्य। इनमें धूम और वह्नि में तदुत्पत्ति सम्बन्ध से व्याप्ति सम्बन्ध है तथा शिंशपात्व और वृक्षत्व में तादात्म्य सम्बन्ध से व्याप्ति सम्बन्ध है। न्यायकन्दलीकार ने धर्मकीर्ति के व्याप्ति में तदुत्पत्ति और तादात्म्य नामक सम्बन्धों का खण्डन किया है तथा साहचर्य नियम को अविनाभाव अथवा व्याप्ति कहा है। जैसे- धूम सामान्य से वह्नि सामान्य का जो स्वाभाविक समानाधिकरण्य है, उसके निश्चय से ही 'यह धूम इससे (वह्नि से) नियत है' इस प्रकार से व्याप्तिरूप नियम का ज्ञान होता है। व्याप्ति के बिना हेतु में साध्य का हेतुत्व नहीं रह सकता।
- प्रमाणवार्त्तिक में अनुमान के दो भेद प्राप्त होते हैं- स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। जब लिङ्ग-दर्शन और लिङ्ग-लिङ्गी के व्याप्ति-स्मरण से अप्रत्यक्ष अर्थ की अनुमिति हो जाती है तब यह स्वार्थानुमान कहलाता है तथा स्वार्थानुमान का दूसरे को ज्ञान के लिए कथन करना परार्थानुमान कहलाता है।

- न्यायकन्दली में अनुमान के द्विविध वर्गीकरण प्राप्त होते हैं, प्रथम वर्गीकरण में दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट- ये दो भेद किये गये हैं । जिस हेतु के साथ पूर्व में ज्ञात साध्य और वर्तमान में उसी हेतु के द्वारा ज्ञाप्य साध्य, दोनों अभिन्न हो, ऐसे हेतु से उत्पन्न अनुमान दृष्ट है । जैसे- पहले एक स्थान में केवल एक गाय में ही सास्ना रूप हेतु को देखकर दूसरे स्थान में सास्ना को देखकर 'गौ' विषयक अनुमिति होती है । इसी तरह जिस हेतु के साथ पूर्वतः ज्ञात साध्य और उसी हेतु के द्वारा वर्तमान में ज्ञाप्य साध्य दोनों भिन्न जाति के हो, उस हेतुसामान्य और साध्यसामान्य की व्याप्ति से जो अनुमान उत्पन्न होता है, उसे सामान्यतोदृष्ट कहते हैं । जैसे- कृषक, वणिक्, राजपुरुषों की स्व-सफल प्रवृत्तियों को देखकर उन धार्मिक प्रवृत्तियों से भी फल का अनुमान होता है जिनके कोई प्रत्यक्षफल नहीं होते । द्वितीय वर्गीकरण में अनुमान के दो भेद- स्वार्थानुमान और परार्थानुमान कहे गये हैं । इनमें से स्वार्थानुमान करने वाले पुरुष में ही निश्चय अर्थात् अनुमिति का उत्पादक ज्ञान है । स्वानुमिति अर्थात् अनुमाता के द्वारा स्वयं किये गये अनुमान को किसी अन्य को कराना परार्थानुमान है ।
- परार्थानुमान में न्यायकन्दलीकार ने पञ्चावयव का कथन किया है, जिनमें- (१) प्रतिज्ञा, (२) अपदेश (हेतु), (३) निदर्शन (उदाहरण), (४) अनुसन्धान (उपनय), (५) प्रत्याम्नाय (निगमन) हैं । बौद्ध नैयायिकों ने प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त ये तीन अवयव परार्थानुमान में माने हैं, किन्तु धर्मकीर्ति ने हेतु और दृष्टान्त- इन दो अवयवों का प्रयोग ही स्वीकार किया है । प्रतिज्ञा को अनावश्यक कहा है, क्योंकि 'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि भी है, जैसे- पाकशाला' तथा 'यहाँ भी धूम है' इन दो अवयवों के सामर्थ्य से ही 'पर्वत अग्निमान् है' इस ज्ञान की प्रतीति हो जाती है । इसलिए हेतु और दृष्टान्त अथवा उदाहरण- ये दो ही अवयव परार्थानुमान के अङ्ग हैं ।
- प्रमाणवार्त्तिक में परार्थानुमान के साधर्म्य एवं वैधर्म्य के भेद से दो प्रकार कहे गये हैं । साध्यधर्मी और दृष्टान्तधर्मी दोनों में हेतु की सत्ता के कारण उत्पन्न

सादृश्य साधर्म्य है । साध्यधर्मी और दृष्टान्तधर्मी में हेतु की सत्ता के कारण उत्पन्न असमानता वैधर्म्य है । न्यायकन्दली में भी परार्थानुमान का साधर्म्यानुसंधान और वैधर्म्यानुसंधान से भेद प्राप्त होता है ।

- असद् अनुमान या मिथ्या अनुमान को प्रमाणवार्त्तिक में अनुमानाभास कहा गया है । अनुमान के द्वारा प्रवृत्त पुरुष सफल और अनुमानाभास के द्वारा प्रवृत्त व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल रहता है । अतः सफल प्रवृत्ति के जनक अनुमान को प्रमाण माना जाता है और अनुमानाभास को अप्रमाण । इसी प्रकार न्यायकन्दली में भी हेत्वाभास जनित जो मिथ्या अनुमान है उसे अनुमानाभास कहा जा सकता है ।
- प्रमाणवार्त्तिक और न्यायकन्दली दोनों के अनुसार हेत्वाभासों की संख्या तीन ही है । प्रमाणवार्त्तिक में ये- (१) असिद्ध, (२) अनैकान्तिक, (३) विरुद्ध के नाम से हैं । न्यायकन्दलीकार ने भी असिद्ध, विरुद्ध, सन्दिग्ध (अनैकान्तिक) ये ही हेत्वाभास कहे हैं ।
- अनुमान का विषय अथवा प्रमेय प्रमाणवार्त्तिककार के अनुसार सामान्यलक्षण है जो अनुमान का ग्राह्य विषय है । यह सामान्य विकल्पजन्य अथवा बुद्धि कल्पित है । इसे बौद्धन्याय में सांवृतिक सत् कहा गया है । यह परमार्थ सत् के समान अर्थक्रिया में समर्थ नहीं होता, अपितु इतरव्यावृत्ति के माध्यम से कल्पित संकेत द्वारा वस्तु का निश्चय कराता है ।
- प्रमाण-खण्डन में बौद्ध एवं वैशेषिक दोनों दर्शनों ने ही प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों के अतिरिक्त शब्दादि प्रमाणों का खण्डन किया है । प्रमाणवार्त्तिककार ने तो प्रमाण-खण्डन की परम्परा में वैशेषिकों को स्वमत के रूप में भी उद्धृत किया है- "वैशेषिक सूत्रकार महर्षि कणाद ने भी शब्द की प्रमाणता लिङ्ग विधया ही अवधारित की है, यथा- 'हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यर्थान्तरम्', प्रशस्तपाद ने भी भाष्य में 'विवक्षावगतिद्वारेण लिङ्गम्' ऐसा कहकर शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्धाभाव ही बताया है ।

- प्रमाणविषयक चर्चा में बौद्धों की प्रमाण-व्यवस्था है और वैशेषिकों का प्रमाण-संप्लव है । एक ही प्रमेय में एक से अधिक प्रमाणों की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति को क्रमशः प्रमाण-संप्लव और प्रमाण-व्यवस्था कहा गया है । प्रमाण-व्यवस्था के अनुसार द्विविध प्रमेय स्वलक्षण और सामान्यलक्षण जो क्रमशः द्विविध प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान के विषय हैं । इन दोनों का इसी रूप में ग्रहण हो सकता है- इसके अतिरिक्त ग्रहण बौद्धन्याय में स्वीकार्य नहीं है अर्थात् अनुमान के विषय का प्रत्यक्ष से और प्रत्यक्ष के विषय का अनुमान से ग्रहण नहीं हो सकता । इस प्रकार का विषय के प्रति प्रमाण का नियत नियम ही प्रमाण-व्यवस्था कहा जाता है जबकि वैशेषिक में ऐसा नहीं है, वहाँ निश्चित प्रमाण का कोई निश्चित विषय नहीं है । प्रत्यक्ष के द्वारा ग्राह्य विषय का अनुमान से और अनुमान के द्वारा ग्राह्य विषय का प्रत्यक्ष से भी ग्रहण किया जा सकता है । इस प्रकार वैशेषिकों के द्वारा प्रमाण-संप्लव अभिमत है ।
- यह भी उल्लेखनीय है कि बौद्धन्याय में प्रमाण-विचार वैभाषिक और सौत्रान्तिकों की दृष्टि से किया गया है, क्योंकि विज्ञानवाद के अनुसार तो बाह्यार्थ की सत्ता ही नहीं, केवल विज्ञानमात्र सत् है और वह निराकार है । सर्वास्तिवादी वैभाषिक बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार करते हुए उसे प्रत्यक्षगम्य मानते हैं तथा ज्ञान को निराकार मानते हैं । एवं सौत्रान्तिक बाह्यार्थ को अनुमेय मानते हैं तथा ज्ञान को साकार मानते हैं । इस प्रकार दोनों सम्प्रदायों की मिश्रित प्रमाण-चर्चा प्रमाणवार्त्तिक में दिखाई देती है । धर्मकीर्ति ने भी स्पष्ट किया है कि विषय-द्वैविध्य के आधार पर प्रमाण-द्वैविध्य का कथन व्यवहारमात्र है, तात्त्विक नहीं क्योंकि कोई भी पदार्थ विज्ञानवाद के अनुसार इन्द्रिय का विषय नहीं होता । पारमार्थिक रूप से तो विज्ञानमात्र ही सत् है, जिसे स्वलक्षण कहा गया है ।

इस प्रकार प्रमाणवार्त्तिक और न्यायकन्दली दोनों ग्रन्थों का प्रमाण-मीमांसा की दृष्टि से अध्ययन करने के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि इन दोनों में प्रमाण के स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतभेद होते हुए भी तथा दो भिन्न परम्पराओं पर आधारित होते हुए भी दोनों के वर्ण्य-विषय में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है । इस प्रकार शोधार्थिनी ने विषय के अनुरूप अनुसंधान हेतु यथासम्भव प्रयास किया है ।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

❖ **प्राथमिक स्रोत-**

(क) साक्षात् स्रोत-

(अ) बौद्ध दर्शन-

प्रमाणवार्तिक (*प्रमाणवार्तिकभाष्य)*, धर्मकीर्ति, सम्पा- राहुल सांकृत्यायन, जायसवाल अनुशीलन संस्था, पाटलीपुत्र, 1953.

प्रमाणवार्त्तिक (स्वार्थानुमानपरिच्छेद), धर्मकीर्ति, सम्पा. दलसुख मालवणिया, राज्य संस्कृत ग्रंथमाला, नेपला, 1959.

प्रमाणवार्त्तिक (स्वार्थानुमान परिच्छेद, अंग्रेजी अनुवाद), धर्मकीर्ति, अनु. एस.मुखर्जी एवं होजुंग नागासाकी, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा, पटना, 1964.

प्रमाणवार्त्तिक (मनोरथनन्दिवृत्ति सहित), धर्मकीर्ति, बौद्ध भारती, वाराणसी: सं. 2; 1984.

प्रमाणवार्त्तिक (वार्त्तिकालंकारभाष्य व वाक्य हिन्दी टीका सहित) धर्मकीर्ति, सम्पा. योगीन्द्रानन्द, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1994.

प्रमाणवार्त्तिकम् [(प्रमाणसिद्धिः परिच्छेदः), (अभिप्रायप्रकाशिका-टीकया संवलितम्)], धर्मकीर्ति, सम्पा. रामशङ्कर त्रिपाठी, केन्द्रीय तिब्बती अध्ययन विश्वविद्यालय, सारनाथ, वाराणसी: सं. 1; 2012.

प्रमाणसमुच्चय (प्रत्यक्षपरिच्छेद), दिङ्नाग, सम्पा. एच. आर. रंगास्वामी अयंगर, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, 1930.

न्यायबिन्दुटीका (न्यायबिन्दु सहित), धर्मोत्तर, सम्पा. श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ: सं. 1; 1975.

न्यायबिन्दुः (श्रीधर्मोत्तरकृत टीका सहित), धर्मकीर्ति, सम्पा. चन्द्रशेखर शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी: सं. 3; 1982.

न्यायप्रवेशकशास्त्रम्, दिङ्नाग, सम्पा. मुनिश्री जम्बूविजय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली: सं. 1; 2009.

धर्मकीर्तिनिबन्धावलिः (वादन्याय प्रकरणम् सम्बन्ध-परीक्षा च), धर्मकीर्ति, सम्पा. द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी: सं. 1; 1972.

हेतुबिन्दुटीका, भट्टार्चट, सम्पा. सुखलालजी संघवी एवं जिनविजय, सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, 2011-12.

(ब) वैशेषिक दर्शन-

न्यायकन्दली, श्रीधराचार्य, सम्पा. दुर्गाधर झा, गंगानाथ झा ग्रन्थमाला, वाराणसी: सं. 1; 1963.

न्यायकन्दली (पदार्थधर्मसङ्ग्रहसहिता), श्रीधराचार्य, सम्पा. व हिन्दी व्याख्या.- दुर्गाधर झा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी: सं.2; 1997.

प्रशस्तपादभाष्य [वैशेषिक दर्शने] (प्रकाशिका हिन्दीव्याख्याविभूषितम्), भाष्यव्याख्या. ढुण्ढिराज शास्त्री, सूत्रव्याख्या. नारायणमिश्र, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी: सं.4; वि. सं. 2059.

वैशेषिकसूत्रम्, कणाद, सम्पा. नारायण मिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1969.

वैशेषिकसूत्र (अज्ञातकर्तृकव्याख्या सहित), सम्पा. अनन्तलाल ठक्कुर, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1957.

वैशेषिकसूत्र (चन्द्रानन्दवृत्ति सहित), सम्पा. मुनिश्री जम्बूविजय, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, बडौदा, 1961.

वैशेषिकसूत्रभाष्य, सम्पा. चन्द्रकान्त तर्कालंकार, गुजराती प्रेस, बम्बई, 1913.

वैशेषिकसूत्रोपस्कार (प्रकाशिका हिन्दीव्याख्या सहित), शङ्करमिश्र, व्याख्या. ढुण्ढिराज शास्त्री, सम्पा. नारायण मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी: सं.3; 2007.

किरणावली, उदयनाचार्य, सम्पा. विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, बनारस संस्कृत सीरीज, बनारस: सं.9; 1897.

किरणावली, उदयनाचार्य, सम्पा. गौरीनाथ शास्त्री, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1897.

किरणावली, उदयनाचार्य, सम्पा. जितेन्द्र एस. जेटली, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बडौदा, 1971.

व्योमवती, व्योमशिवाचार्य, सम्पा. गोपीनाथ कविराज, ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारसः ग्र. सं. 61; 1930.

सूक्तिटीका, जगदीश भट्टाचार्य, सं. गोपीनाथ कविराज, ढुण्ढिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस: ग्र. सं. 61; 1930.

सेतुटीका, पद्मनाभ मिश्र, सम्पा. गोपीनाथ कविराज, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस: ग्र. सं. 61; 1930.

(ख). असाक्षात् स्रोत-

संस्कृत-

(अ).बौद्ध दर्शन-

अपोहसिद्धिः, रत्नकीर्ति, अनु. एवं व्याख्या. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी: सं. 1; 1995.

अभिधर्मकोश (यशोमित्रकृत स्फुटार्थ व्याख्या सहित), वसुबन्धु, सम्पा. द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, 1970.

बौद्ध-दर्शन-बिन्दुः, सातकडिमुखोपाध्याय, वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालय, वाराणसी, वि. सं. 2021.

बौद्धतर्कभाषा(हिन्दी अनुवादपरिशिष्टद्वयसंवलिता),मोक्षाकरगुप्त, सम्पा. रघुनाथगिरि, प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी, 1969.

बोधिचर्यावतारः (प्रज्ञाकरमतिकृत पञ्जिकयासनाथः), शान्तिदेव, सम्पा. द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, 2001.

बोधिचर्यावतार:, शान्तिदेव, अनु. कर्मा मोनलम, सम्पा. रामशङ्कर त्रिपाठी, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी: सं. 3; 1998.

बौद्ध-दर्शन-प्रस्थान, रामशङ्कर त्रिपाठी, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी: सं. 1; 1997.

तत्त्वसंग्रह(पञ्जिका सहित), शान्तरक्षित, सम्पा. द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, 1968.

तर्कसोपानम्, विद्याकरशान्ति, सम्पा. पेन्पा दोर्जे, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी: सं. 1; 1994.

मध्यमकशास्त्र, नागार्जुन, सम्पा. द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी: सं. 1; 1983.

न्यायबिन्दुटीकाटिप्पणी, मल्लवादी, बिब्लोथिका इण्डिका, सेण्टपीटर्स बर्ग, 1909.

न्यायप्रवेशकसूत्रम्(न्यायप्रवेशवृत्त्या, पञ्जिकासहितम्), दिङ्नाग, सम्पा. रञ्जनकुमार शर्मा, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान सारनाथ, वाराणसी: सं. 1; 1999.

न्यायबिन्दु एवं धर्मोत्तरटीका (हिन्दी, संस्कृत एवं भोट अनुवाद सहित), धर्मकीर्ति, व्याख्या. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, सम्पा. लोब्संग दोर्जे रब्लिङ्ग व ठिनलेराम शाशनी, केन्द्रीय तिब्बती अध्ययन विश्वविद्यालय सारनाथ, वाराणसी: सं. 1; 2010.

प्रतीत्यसमुत्पादहृदय एवं आर्यधर्मधातुगर्भविवरण, नागार्जुन, अनु. एवं सम्पा. ज्ञनछेल नमडोल, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान सारनाथ, वाराणसी: सं. 1; 1997.

रत्नकीर्ति-निबन्धावली, के.पी. जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, 1961.

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (प्रकरण द्वयम व्याख्यात्रयोपेतम्), वसुबन्धु, सम्पा. रामशङ्कर त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1992.

सन्तानान्तरसिद्धिः (विनीतदेवकृत टीकासहित), धर्मकीर्ति, सम्पा. जे. एस. नेगी, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान सारनाथ, वाराणसी: सं. 1; 1997.

सौत्रान्तिक दर्शन, रामशङ्कर त्रिपाठी, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान सारनाथ, वाराणसी: सं. 1; 2008.

शून्यतासप्ततिः (स्वोपज्ञवृत्त्या समन्विता), नागार्जुन, अनु. एवं सम्पा. सेम्पा दोर्जे, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान सारनाथ, वाराणसी: सं. 2; 1996.

ज्ञानसारसमुच्चय (बोधिभद्रप्रणीत ज्ञानसारसमुच्चयनिबन्ध-सहित), आर्यदेव, अनु. एवं सम्पा. पेन्पा दोर्जे, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान सारनाथ, वाराणसी: सं. 1; 2008.

(ब) वैशेषिक दर्शनः

क*णाद-रहस्यम्,* शङ्कर मिश्र, सम्पा. विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1917.

तर्कसङ्ग्रहः (दीपिकासहित), अन्नम्भट्ट, सम्पा. अथल्ये-बोडास, बाम्बे संस्कृत सीरीज, पूना: सं. 55; 1963.

तर्कसङ्ग्रह, अन्नंभट्ट, सम्पा. दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1962.

तर्कभाषा, केशवमिश्र, सम्पा. बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1968.

तर्कभाषा, केशवमिश्र, व्याख्या. विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1990.

***न्याय**सिद्धान्तमुक्तावली(प्रत्यक्ष खण्ड),* विश्वनाथ, व्याख्या. धर्मेन्द्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 2005.

***न्याय**सूत्रम्,* गौतम, सम्पा. नारायण मिश्र, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1970.

न्यायभाष्यम्, वात्स्यायन, सम्पा. नारायण मिश्र, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1970.

न्यायवार्तिकम्, उद्योतकर, सम्पा. विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1887.

पदार्थमण्डनम्, वेणीदत्त, सम्पा. गोपालशास्त्री नेने, सरस्वती भवन, इलाहबाद: टेक्सट सं.30; 1930.

पदार्थ-तत्त्व-निरूपणम्, रघुनाथ शिरोमणि, सम्पा. कार्लपॉटर, येन्चिंग इन्स्टीट्यूट, हार्वर्ड: सं.17; 1957.

भाषापरिच्छेद (न्यायसिद्धान्तमुक्तावली सहित), विश्वनाथ, सम्पा. हरिराम शुक्ल शास्त्री, काशी संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1972.

लक्षणावली, उदयनाचार्य, सम्पा. शशिनाथ झा, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, 1963.

वैशेषिकदर्शनम्(अभिनवरीतिपरिष्कृत-विद्योदयभाष्यसहितम्), भाष्य. उदयवीर शास्त्री, विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 2006.

वैशेषिक-दर्शन, सम्पा. श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान, बरेलीः सं. 1; 1964.

सप्तपदार्थी, शिवादित्य, सम्पा. डी. गुरुमूर्ति, थियोसोफिकल सोसायटी, अड्यार, मद्रास, 1932.

❖ द्वितीयक स्रोत-

(I) हिन्दी-

(अ). बौद्ध दर्शन-

उपाध्याय, बलदेव, *बौद्ध-दर्शन-मीमांसा,* चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी: 2011.

उपाध्याय, भरतसिंह, *बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (द्वितीय भाग),* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली: पुनर्सं.; 1996.

नैन, अनिता, *बौद्ध-प्रमाण-मीमांसा*, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली: सं. 1; 2012.

नरेन्द्रदेव, *बौद्ध धर्म दर्शन*, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1994.

पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र, *बौद्ध दर्शन के विकास का इतिहास*, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, **ल**खनऊ: सं. 3; 1990.

रेखिक, हेलेना, *बौद्ध दर्शन के मूल आधार*, शुभदा प्रकाशन, नई दिल्ली: सं. 1; 1996.

शर्मा, अम्बिकादत्त, *बौद्ध प्रमाण-दर्शन*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, मध्यप्रदेश: सं. 1; 2007.

शास्त्री, विजयपाल, *बौद्ध प्रमाण मीमांसा*, सत्यम पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली: सं. 1; 2005.

शास्त्री, श्रीनिवास, *बौद्ध दर्शन का विवेचन*, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र: सं. 1; 1968.

_____, *वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध दर्शन का विवेचन*, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, 1968.

शर्मा, हरिप्रकाश, *बौद्ध ज्ञान मीमांसा*, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली: सं. 1; 2007.

श्वेबात्सकी, एफ. टी., *बौद्ध-न्याय (दो भाग),* अनु. रामकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1969.

सिंह, प्रद्युम्न शाह, *अनुमान प्रमाण (जैन एवं बौद्ध न्याय की दृष्टि में),* भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 2006.

सिंह, बद्रीनाथ, *प्रमाण-मीमांसा (वैदिक एवं बौद्ध न्याय),* आशा प्रकाशन, वाराणसी, 1999.

(ब). वैशेषिक दर्शन :

अवस्थी, ब्रह्ममित्र, *भारतीय न्यायशास्त्र: एक अध्ययन*, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, 1967.

उपाध्याय, सरोज, *वैशेषिक दर्शन की आयुर्वेद को देन,* कला प्रकाशन, वाराणसी, 2000.

कुमार, शशिप्रभा, *वैशेषिक दर्शन में पदार्थ-निरूपण,* प्रकाशन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1992.

_____, *वैशेषिक दर्शन- परिशीलन,* विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली: सं.1; 1999.

चौधरी, नन्दिनी, *न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के प्रमाण-विचार*, एस. के. पब्लिशिंग कम्पनी, राँची: सं. 1; 2005.

झा, हरिमोहन, *न्यायदर्शन, वैशेषिक दर्शन (भारतीय दर्शन परिचय, प्रथम व द्वितीय खण्ड),* पुस्तक भण्डार, लहेरियासराय, पटना, 1964.

झा, आनन्द, *पदार्थशास्त्र,* हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, 1965.

मिश्र, नारायण, *वैशेषिक दर्शन: एक अध्ययन,* चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1968.

विजयरानी, *प्रमाण एवं प्रामाण्य-विमर्श (केशव मिश्रकृत तर्कभाषा के विशेष आलोक में)*, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली: सं. 1; 2006.

वेदालंकार, जयदेव, *भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास (न्याय-वैशेषिक)(द्वितीयभाग),* न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली, 2004.

शर्मा, कमला, *न्याय दर्शन में प्रमाण-विचार*, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली: सं. 1; 2004.

शर्मा, राममूर्ति, *न्याय-वैशेषिक: एक चिन्तन*, राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम्, दिल्ली, 1998.

शास्त्री, धर्मेन्द्रनाथ, *भारतीय दर्शनशास्त्र: न्याय-वैशेषिक*, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1953.

सिंह, बद्रीनाथ, *वैशेषिक दर्शन: एक तुलनात्मक अध्ययन,* आशा प्रकाशन, वाराणसी, 1979.

(ii). अंग्रेजी-

(अ). बौद्ध दर्शन-

Anakar, Stefan, *Seven Works of Vasubandhu*, Religion of Asia Series No.4, Motilal Banarasidass, Delhi, 1984.

Masaaki Hattori, *Dignāga, on Perception: Being the Pratyakṣapariccheda of Dignāga's Pramāṇasamuccaya from the Sanskrit Fragments and the Tibetan Versions,* Volume 47; Harvard University Press, 1968.

Mookerjee, Satkari, *The Buddhist philosophy of Universal Flux,* Motilal Banarasidass, Delhi, 1980.

Murti, T.R.V., Central Philosophy of Buddhism, London, 1955.

Pande, G. C., *Studies in the Origins of Buddhism, Motilal Banarasidass*, Delhi: Rep.; 1974.

Randle, H.N., Fragment from Dignaga, Royal Asiatic Society, London, 1926.

Singh, Amara, *The Heart of Buddhist Philosophy – Diṅnaga and Dharmkīrti*, Munshiram Manoharlal, New delhi, 1984.

Tucci, G., *Pre Dignaga Buddhist Text of Logic From Chinese Source*, GOS. Vol. XLIX, Baroda, 1930.

Warder.A.K., Indian Buddhism, Motilal Banarasidass, Delhi, 1984.

Chhatre, Lata Dilip, *Buddhist Epistemology Logic and Language*, New Bharatiya Book Corporation, Delhi: Ed. 1; 2015.

(ब). वैशेषिक दर्शन-

Bhaduri, S.N., *Studies in Nyāya-Vaiśeṣika Metaphysics*, Bhandarkar Oriental Series, No.5, Poona, 1947.

Faddegon, B., *The Vaiśeṣika System*, Johannes Muller, Amsterdam, 1918.

Gajendragadkar, S., Veena, *Kaṇāda's Doctrine of the Padārthas*, Sri Satguru Publications, Delhi: Ed. 1; 1988.

Halbfass, Wilhelm, *On Being and What There Is*, Albany, N.Y., 1992.

Jetly, J.S., *Praśastapāda Bhāṣya*, Edited with Udayana's *Kiraṇāvalī,* and *Lakṣaṇāvalī,* Gaekwad Oriental Series 154, Baroda, 1971.

Keith, Arthur Berriedale, *Indian Logic and Atomism (An Exposition of the Nyāya and Vaśeṣika Systems)*, Munshiram Manoharlal Publication, New delhi, Ed. 1; 1977.

Mishra, Umesh, *Conception of Matter According to Nyāya-Vaiśeṣika*, Allahabad, 1936.

_____,*History of Indian Philosophy, Vol. 2, Nyāya-Vaiśeṣika*, Allahabad, 1966.

Max Muller, K.M., *The Six Systems of Indian Philosophy*, Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi: Ed. 6; 2008.

Mookerjee, Satkari, "Nyāya-Vaiśeṣika", *The Cultural Heritage of India*(Vol.III), Calcutta 1937; revised 1952-53: Ed. 2; 1958, 91-124.

Thakur, Anantlal, *Origin and Development of the Vaiśeṣika System*, PHISPC(Center for Studies in Civilization), New Delhi, 2003.

Ui, Hakuju, *Vaiśeṣika Philosophy(According to Daśapadārthaśastra),* Edt. F.W. Thomas, Chowkhamba Sanskrit Series, 1962.

Shastri, Dharmendra Nath, *The Philosophy of Nyāya-vaśeṣka and its Conflict with The Buddhist Dignāga School (Critique of Indian Realism)*, Bharatiya Vidya Prakashan, Delhi: Ed. Rep.; 1997.

अन्य-

(i). हिन्दी-

उपाध्याय, बलदेव, *भारतीय दर्शन,* शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1966.

_____, *भारतीय धर्म एवं दर्शन,* चौखम्बा ओरियण्टल, दिल्ली, 1977.

कुमार, वागीश, *भारतीय दर्शनों में अन्तर्निहित समरूपता*, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली: सं. 1; 1990.

गैरोला, वाचस्पति, *भारतीय दर्शन,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1966.

झा, हरिमोहन, *दार्शनिक विवेचनाएँ,* बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1973.

मिश्र, अर्जुन, *दर्शन की मूलधाराएँ,* मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1989.

मिश्र, उमेश, *भारतीय दर्शन,* प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, लखनऊ, 1964.

मिश्र, जगदीशचन्द्र, *भारतीय दर्शन*, चौखम्बा सुभारती प्रकाशन, वाराणसी: सं.1; 2010.

शर्मा, चन्द्रधर, *भारतीय दर्शन: आलोचना और अनुशीलन,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1990.

सांकृत्यायन, राहुल, *दर्शन दिग्दर्शन,* किताब महल, इलाहाबाद, 1943.

सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, *भारतीय दर्शन की रूपरेखा,* मोतीलाल बनारसीदास, 1992.

संघवी, सुखलाल, *दर्शन और चिन्तन,* सुखलाल जी सम्मान समिति, अहमदाबाद, 1957.

हिरियन्ना, एम., *भारतीय दर्शन की रूपरेखा,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1969.

(ii). अंग्रेजी-

Belvalkar, S. K., Ranade, R. D., *History of Indian Philosophy* '*The Cretive Period*', Munshiram Manoharlal, Delhi, 1997.

Chattopadhyaya, Debiprasad, *Indian Philosophy,* Peoples Publishing House, Delhi, 1969.

Dasgupta, S.N., *History of Indian Philosophy(5Vols.),* Motilal Banarsidass, 1975.

Deussen Paul, *Outlines of Indian Philosophy,* ESS Publications, Delhi, 1976.

Frauwallner, Erich, *History of Indian Philosophy (Vol.2),* Moti Lal Banarsidass, Ed. 1; 1973.

Max, Muller, F., *Six Systems of Indian Philosophy,* Chowkhamba Sanskrit Series,Varanasi, 1971.

Randle, H.N., Indian Logic in the Early School, Munshi Ram Manoharlal, Delhi, 1975.

Tarka Saṁgraha with the Dīpikā of Aṇṇambhaṭṭa and Notes, Translated by Virupakshananda, Sri Ramakrishna Math, Madras.

Vidyabhushan, Satish Chandra, *A History of Indian Logic*, Motilal Banarasidass, Delhi, 1978.

कोश-ग्रन्थ (Dictionaries & Encyclopaedias)-

(i). संस्कृत-हिन्दी-

अमरकोशः, अमरसिंह, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1961.

अमरकोषः ('धराख्य' हिन्दी टीका सहित), मन्नालाल अभिमन्यु, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी: पुनर्मुद्रित सं.; 2008.

अंग्रेजी-हिन्दी कोश, कामिल बुल्के, एस. चन्द एण्ड कम्पनी, रामनगर, दिल्ली, 2004.

***न्याय**कोश,* भीमाचार्य झलकीकर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, 1978.

दार्शनिक सम्प्रत्यय कोश, सम्पा. शशिप्रभा कुमार, सन्तोष कुमार शुक्ल और रामनाथ झा, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र व डी. के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., नई दिल्ली: सं. 1; 2014.

पालि-भाष्यकोश, सविता कांबळे, नई दिल्ली: सम्यक प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2010.

पालि-हिन्दी कोश, आनन्द कौसल्यायन, दिल्ली: सिद्धार्थ बुक्स, 2012.

बृहत् वैशेषिककोश [अप्रकाशित] (विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त प्रमुख शोध-योजना), शशिप्रभा कुमार, विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 2006-2009**.**

भा*रतीय दर्शन परिभाषा कोश,* दीनानाथ शुक्ल, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 1993.

भा*रतीय दर्शन बृहत्कोश (भाग प्रथम-चतुर्थ),* बच्चूलाल अवस्थी, शारदा पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2004.

मा*नक हिन्दी कोश,* सं. रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1964.

वा*चस्पत्यम् (छः भाग),* चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, ग्र. सं. 94; 1969.

संस्कृत वाङ्मय कोश*(दो भाग),* सं. श्रीधर भास्कर वर्णेकर, भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता

संस्कृत शब्दार्थकौस्तुभ, सं. द्वारका प्रसाद शर्मा, तारिणीश झा, रामनारायण लाल, बेनी प्रसाद, इलाहाबाद, 1973.

संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 1988.

संस्कृतसूक्तिसमुच्चयः (एकादशो भागः, बौद्ध-चार्वाक दर्शन खण्डः), संक.अनु. विजय कुमार जैन, सम्पा. श्रीकृष्ण सेमवाल, दिल्ली संस्कृत अकादमी, दिल्ली, 2002.

_____(अष्टमो भागः, न्याय-वैशेषिक खण्डः), संक.अनु. शशिप्रभा कुमार, सम्पा. श्रीकृष्ण सेमवाल, दिल्ली संस्कृत अकादमी, दिल्ली, 2001.

शब्दकल्पद्रुमः, राधाकान्त देव, वाराणसी: चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, पञ्चम भाग, तृतीय संस्करण, 1967.

हिन्दी विश्वकोश (खण्ड 1-12), सं. कमलापति त्रिपाठी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, 1973.

(ii). अंग्रेजी

A Dictionary of Philosophy, A.R. Lacey, Pub: Routlege & Kegan Paul, London, 1976.

Encyclopaedia Britannica: Micropaedia (Vols. 1-10), Pub: Helen Hemingway, Benton: Ed. 15; 1973-74.

Encyclopaedia of Indian Philosophy: Bibliography [Vol. 1 (section 1)], Comp. Karl H. Potter, Motilal Banarsidass Publishers Private Limited, Delhi: Ed. 3; 1995.

Encyclopaedia of Indian Philosophy: Bibliography [Vol. 1 (Section 2)], Comp. Karl H. Potter,Motilal Banarsidass Publishers Private Limited, Delhi: Ed. 3; 1995.

Encyclopaedia of Indian Philosophy [Indian Metaphysics and Epistemology: The Tradition of Nyāya-Vaiśeṣika Before Gaṁgeśa(vol.2)], Edt. Karl H. Potter, Motilal Banarsidass, Delhi, 1995.

Encyclopaedic Dictionary of Pāli Literature (vol. 1-2), Edited by N.K. Singh & B. Baruah, Global Vision Publishing House, Delhi: Ed. 1; 2003.

Encyclopedia of Indian Philosophy [Abhidharm Buddhism To 150 A. D.], Edt. Karl H. Potter, Motilal Banarasidass, Delhi: Ed. 3 Reprint; 2011.

English-Sanskrit Dictionary (Reprint Edition), Monier Williams, Munshi Ram Manohar Lal, Delhi, 1976.

Longman Dictionary of the English Language, Longman Group, Ltd. 1984.

Practical Sanskrit-English Dictionary, V.S. Apte, Motilal Banarsidass, Vikrami Samvat 2022.

शोध पत्र-पत्रिकाएँ (Research Articles in Journals)-

Jha, V.N., *Nature of sabdapramana in Nyaya-vaisesika*, SILLE, 36-44, Delhi, 1986.

Matilal, Bimal Krishana, *Pramana as Evidence*, ZDMG Supplement a, 1992, 659-660.

Pant, A.S. Viswanathna, *The Theory of Anumana as Discussed in the early Vaisesika Text,* JOR, 47-55, 1980, 145-150.

"The Buddha and Philosophy, F. Edgerton, *Indian Historical Quarterly"*, Calcutta, 37. I : 88, 1960.

"The Buddhist Theory of Relation Between Pramā and Pramāṇa", Bandyopadhyay, Nandita, *Journal of Indian Philosophy*, 1979.

"Mahāyāna Buddhism", Banerjee, A. C., *journal of the Assam research*, 13: 37-39.

"Jaina critique of Buddhist Theories of Pramāṇas", Bhattacharya, H., *Indian Historical Quarterly, Calcutta*, 26. I : 86.

"Source of Knowledge in Buddhist Logic", Chatterjee, D., *Indian Historical Quarterly*, Calcutta, 1934.

"Some Remarks about Buddhist Philosophy", Divatia, S. H., *Journal of the Gujarat Research Society*, Bombay, 1983.

"What is the Logic in Buddhist Logic", Factor, R. L., *Philosophy of East and West*, Hawai, 1983.

"Three Systems of Buddhist Logic", Hans, G., Herzberger, *Buddhist Logic and Epistemology*, 59-76.

"Buddhist Logic and Epistemology", Matilal, Bimal Krishna, *Buddhist Logic and Epistemology*, 1-30.

"Logical and Scientific Method in Early Buddhist Texts", Mishra, Gneswar, P., *Journal of the Royal Asiatic Society*, London, 1968.

"Buddhist Logic: Expounded by Means of Symbolic Logic", Nakamura, Hajime, *Journal of Indian and Buddhist Studies*, Tokyo, 1958.

"Pramāṇa Samplava and Pramāṇa Vyavasthā", Tripathi, R. K., *Ānviksiki,* 1973.

"Buddhist Epistemology : The Number of Pramāṇas", Mittal, Kewal Krishna, *Journal of the Department of Buddhist Studies University of Delhi*, 1974.

"Buddhist Logic Before Diṅnāga (Asaṅga, Vasubandhu, Tarkaśāstras)", Tucci, G., *Journal of the Royal Asiatic Society*, London, 1929.

"Perception (Pratyaksha) "Nyāya-Bindu" of Dharmakīrti with Dharmottara's "Tikā", Victoria, Lysenko

अन्तर्जालीय स्रोत (Internet Sources)-

https://www.britannica**.com/**

www.hindunet**.org/**

https://www.archive**.org/**

www.jstor**.org/**

https://www.worldcat**.org/**

www.nationallibrary**.gov.in/**

www.philosophypages**.com/**